धर्मनीति

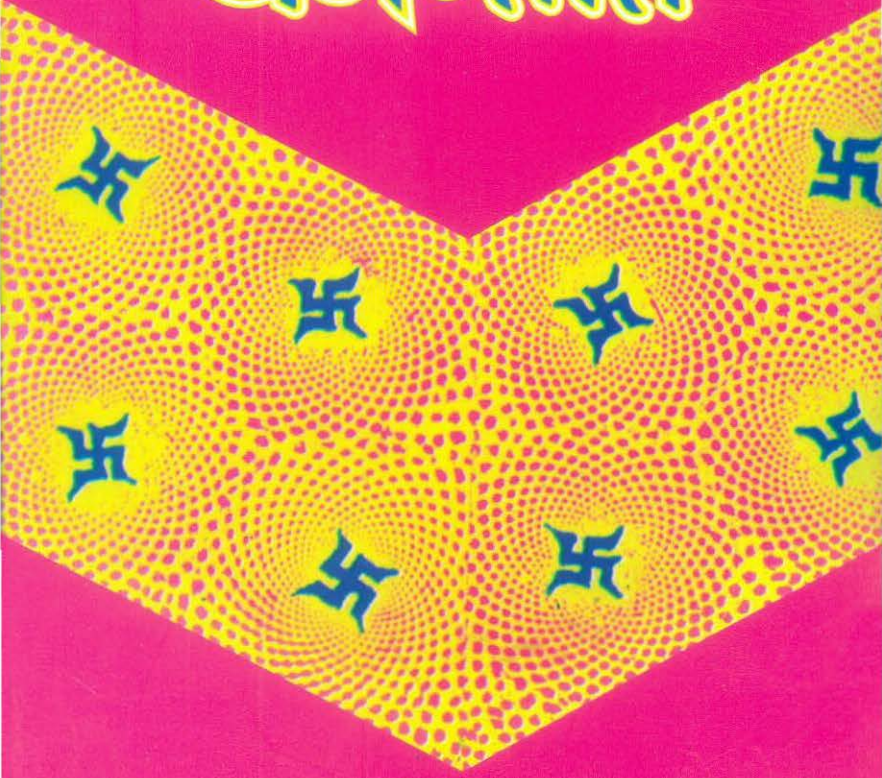

मो० क० गांधी

धर्मनीति

नीतिमय जीवन-संबंधी कृतियों तथा लेखों का लोकोपयोगी संग्रह

मो. क. गांधी

संस्करण : २०१८

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-७७, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस; नई दिल्ली ११०००१

फोन: २३३१०५०५, ४१५२३५६५

ई-मेल: sastasahityamandal@gmail.com

वेबसाइट: www.sastasahityamandal.org

धर्मनीति

नीतिमय जीवन-संबंधी कृतियों तथा लेखों का लोकोपयोगी संग्रह

मो. क. गांधी

संस्करण : २०१८

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-७७, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस; नई दिल्ली ११०००१

फोन: २३३१०५०५, ४१५२३५६५

ई-मेल: sastasahityamandal@gmail.com

वेबसाइट: www.sastasahityamandal.org

धर्मनीति

नीतिमय जीवन-संबंधी कृतियों तथा लेखों का लोकोपयोगी संग्रह

मो. क. गांधी

संस्करण : २०१८

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

एन-७७, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस; नई दिल्ली ११०००१

फोन: २३३१०५०५, ४१५२३५६५

ई-मेल: sastasahityamandal@gmail.com

वेबसाइट: www.sastasahityamandal.org

प्रकाशकीय

गांधीजी धर्म और नीति को अलग नहीं मानते थे। उनका कहना था कि धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर इस पुस्तक का नाम 'धर्म-नीति' रक्खा गया है। इसमें चार पुस्तकों का संग्रह है: १. नीति-धर्म २. सर्वोदय ३. मंगल प्रभात और ४. आश्रमवासियों से ।

इनमें से पहली और दूसरी पुस्तक-'नीति-धर्म और 'सर्वोदय', गांधीजी के भारत आने से पहले दक्षिण अफ्रीका में लिखी गई थीं। तीसरी और चौथी पुस्तकें 'मंगल प्रभात' तथा 'आश्रमवासियों' से उन्होंने यरवदा जेल से सन् १९३० और '३२ के बीच पत्रों के रूप में लिखी थीं।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का सारांश है। इस पुस्तक ने गांधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला था। इन चारों पुस्तकों के अतिरिक्त अंत में वर्तमान समस्याओं से सम्बन्धित गांधीजी के कुछ चुने हुए लेख दे दिए गए हैं।

पुस्तक बड़ी ही उपयोगी तथा प्रेरणादायक है, क्योंकि वह बताती है कि नीति का मार्ग क्या है और उस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन कृतार्थ करना चाहिए।

-मंत्री

अनुक्रम

नीति-धर्म

प्रस्तावना

१. प्रारंभ

२. उत्तम नीति

३. नीतियुक्त काम कौन-सा ?

४. अच्छा नियम कौन-सा है ?

५. नीति में धर्म का समावेश है ?

६. नीति के विषय में डार्विन के विचार

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

८. समाप्ति

सर्वोदय

प्रस्तावना

१. सच्चाई की जड़

२. दौलत की नसें

३. अदल इंसाफ

४. सत्य क्या है ?

५. सारांश

मंगल-प्रभात

१. सत्य

२. अहिंसा

३. ब्रह्मचर्य

४. अस्वाद

५. अस्तेय

६. अपरिग्रह

७. अभय

८. अस्पृश्यता-निवारण

९. कायिक श्रम
१०. सर्वधर्म-समभाव-१
११. सर्वधर्म-समभाव-२
१२. नम्रता
१३. स्वदेशी
१४. स्वदेशी व्रत
१५. व्रत की आवश्यकता

आश्रमवासियों से

निवेदन
१. मृत्युमित्र
२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार
३. आकाश-दर्शन-१
४. आकाश-दर्शन-२
५. गोशवारे की आवश्यकता
६. सप्ताह का सार
७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता
८. अद्भुत त्याग
९. बिल्ली-शिक्षिका
१०. मृत्यु का बोध
११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में
१२. प्रार्थना
१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?
१४. सत्य का प्रालन कैसे हो ?
१५. विद्याभ्यास
१६. व्यक्तिगत प्रार्थना
१७. देख-रेख की अनावश्यकता
१८. गीता कंठ करो

१९. वाचन और विचार (१)
२०. वाचन और विचार (२)
२१. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (१)
२२. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (२)

विविध

१. आशावाद
२. आचार बनाम विचार
३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व
४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?
५. प्रिय और अप्रिय सत्य
६. यह सुधार है ?
७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि
८. प्रतिज्ञा का रहस्य
९. भिखारी साधु
१०. त्योहार कैसे मनावें ?
११. विचार की कीमिया
१२. कुछ प्रश्न
१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा
१४. 'दरजे' का अर्थ
१५. चरित्र-बल की आवश्यकता
१६. कर्त्तव्य-च्युत क्या करे ?
१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

नीति-धर्म

नीति, नियम और उनके पालन-संबंधी विचार

प्रस्तावना

इन दिनों दुनिया में पाखंड बढ़ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्म का मानने वाला हो, उस धर्म के ऊपरी रूपमात्र का विचार करता है और अपने सच्चे फर्ज को भूल जाता है। अत्यंत धन-संग्रह के कारण दूसरे आदमियों को क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा, इसका ख्याल हम शायद ही करते हैं। अतिशय सुकुमार नन्हें-नन्हें प्राणियों को मारकर अगर उनकी खाल के मुलायम मोज़े बनाये जा सकें तो यूरोप की महिलाओं को उनकी खाल के मोजे पहनने में ज़रा भी हिचक न होगी। मि० राकफेलर की गिनती दुनिया के बड़े-से-बड़े धन-कुबेरों में है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्ठा करने में उन्होंने नीति के कितने ही नियमों को तोड़ा है। यों चारों ओर देखकर यूरोप और अमरीका के बहुतेरे मनुष्य धर्म के विरोधी हो बैठे हैं। वे यह दलील देते हैं कि दुनिया में अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना बढ़ गया है, वह बढ़ना न चाहिए। यह विचार भूल से भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदा अभ्यास के अनुसार अपना दोष न देखकर अपने साधन को दोष देता है, वैसे ही लोग अपनी खोट का विचार न कर धर्म को ही बुरा कहते हैं और स्वच्छंद होकर जो जी में आये वह करते और कहते हैं। यह देखकर अमरीका और यूरोप में ऐसे लोग निकल आये हैं जो यह सोचकर कि यों सब धर्मों का नाश हो जाय तो दुनिया की भारी हानि होगी और लोग नीति का रास्ता छोड़ देंगे, जुदा-जुदा रास्ते से लोगों को नीति-पथपर लाने का प्रयास कर रहे हैं। एक ऐसा मंडल स्थापित हुआ है जो सब धर्मों के तत्वों की खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म-नीति तो सिखाते ही हैं, उनका आधार भी अधिकांश में नीतिक नियम ही होते हैं। और कोई आदमी धर्म-विशेष को माने या न माने, पर वह नीति के नियमों का पालन न कर सके तो ऐसे आदमी के किये इस लोक या परलोक में अपना या दूसरों का भला नहीं होने का। जो लोग कुछ पंथ-सम्प्रदायों में पाखंड का बोलबाला देखकर धर्म-मात्र को नफरत की निगाह से देखते हैं ऐसे लोगों की शंकाओं का समाधान करना इस मंडल का उद्देश्य है। इस मंडल को चलाने वाले सब धर्मों का सार निकाल कर उसमें से केवल नीति के विषय की चर्चा करते हैं। इस मत को वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते हैं। इस मंडल का काम किसी भी धर्म का खंडन करना नहीं है। चाहे जिस धर्म के मानने वाले उसमें दाखिल हो सकते हैं। इस मंडल का लाभ यह होता है कि इस तरह के लोग अपने धर्म का अधिक दृढ़ता से पालन करने लगते हैं और उसमें नीति के विषय में जो उपदेश दिये गए हों, उन

पर अधिक ध्यान देते हैं। इस मंडल के सदस्य पक्के मन से मानते हैं कि मनुष्य को नीति का पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनिया का विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अन्त में भारी हानि होगी।

मि० सालटर नाम के अमरीका के एक विद्वान हैं। उन्होंने एक सुदंर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें धर्म की चर्चा नाम को भी नहीं, पर उसके उपदेश सभी आदमियों पर घटित हो सकते हैं। इस पुस्तक के लेखक के विषय में इतना ही कहना आवश्यक है कि जितना करने की सलाह वह हमें देता है इतना ही कहना आवश्यक है। पाठकों से मेरा अनुरोध है जो कोई भी नीतिवचन उनको सच्चे जान पड़ें, उनके अनुसार वे चलने का यत्न करें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा।

-मो. क. गांधी

नीति-धर्म

१. प्रारंभ

जिस वस्तु से हमारे मन में अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं-एक से वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों, वहां कैसी, खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार तो वास्तु-विशारद के नक्शे के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नक्शा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नकशे की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीति के विचारों को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमें सम्पूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट कयों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुन कर हमें चौंकना नहीं चाहिए; बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझ कर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, "आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुँचने के पहले लड़ाई न लड़नी थी।" इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी को जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है; उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति भंग करते हैं वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बनाते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रह नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवाले का एहसान-मंद होता है। वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज सरहद पर पहुँच पाये। इस मार्म के अंदर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्य को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है-यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमें कोई लाभ होगा।

२. उत्तम नीति

नीति-विषयक प्रचलित विचार वज़नदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की बहुत परवा नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगों को नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी बेंथम को, जिसने इंग्लैंड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूंढ निकाले, जिसने अंग्रेज जनता में शिक्षा प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है-फिर उस रास्ते से हम वाकिफ हों या न हों-उसपर हमें चलना चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उसपर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं।

अपनी इच्छाओं की जांच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उसपर हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आंकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं के पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय, उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें; जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गये। जो करना हमें उचित है उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुंब में अनीति के बीज-जैसे फूट, असत्य इत्यादि-देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगार की मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ीभर शांति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों मे नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजी से नीतिरूपी संदूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

[१]इन अध्यायों के नीचे हम गुजराती या उर्दू कवियों की नीति नियमों से संबंध रखनेवाली कविताएँ चुनकर देते जायंगे, इस आशा से कि उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेंगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हें कंठस्थ भी करेंगे। इसका श्री गणेश हम श्रीमलबारी की पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' 'आदम और उनकी दुनिया' से कर रहे हैं।

क्युं (क्यों) मुश्ताक होके तुं (तू) फिरता बिरादर?
अये (ऐ) दाना[२], तवाना[३] होनार तमे हाजर

(होना है तुझे हाजिर)

चले गये बड़े फ़िलसुफां[४] पहलवानां।
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना (दीवाना)।
न दाना की दनाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेकां बी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी।
किसे यारी हरदम ने (को) देता जमाना;
अरे दोस्त दाना, तुं (होगा) दिवाना।

कुवत[५] ;(कूवत) पीलतन की तुं (तू) लेके फिरेगा।
ज़माना अचानक श्किस्त[६] आके देगा।
अक़ल की नक़ल बेअकल बस बनाना;
अरे दोस्त दानां तुं (तू) होगा दिवाना।
गुजारे (की) अवल बचगी की बादशाही;
होनारत[७] दरद (दर्द) देवे जमकी गवाही।
बेताका (क) त की (कि) स राह उठाना सोलाना (सुलाना);
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना ।
न दुनिया में तेरा हुवा को (कोई) न होगा,
न तुं (तु) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),
सिवा पाक दादार[८] सबकोइ (कोई) बेगाना;
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना।

---

१. उर्दू-हिंदी पद्यौं के शब्द अशुद्ध या गुजराती रूप में हैं। उनके वही रूप रहने दिये गये हैं और शुद्ध रूप कोष्ठ में दे दिये गये हैं।

२. बुद्धिमान, ३. बलवान, ४. फिलासफर, तत्ववेत्ता; ५. बल, ६. हार; पराजय; ७. होने वाली पीड़ा; ८. परमेश्वर ।

३. नीतियुक्त काम कौनसा ?

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुकत है? यह सवाल करने में नीतिवाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों में खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करें तो अन्धाधुंधी चलने लगे और दुनिया का कार-बार बंद हो जाय, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने की नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए, जो हमारा अपना है यानि जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जबतक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों तबतक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरजे की तरह काम करना हमपर फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुकत है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों में जो भेद है, वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफी की चिट्ठी ले जानेवाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य में यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है वह नीति को कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर परमार्थ करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, “जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तबतक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिंता नहीं है।” यह स्थिति हमें तबतक प्राप्त नहीं होने की, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अंतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत: अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना न होना, करनेवाले के इरादे पर अवलंबित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुकत माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अंतर है, वह यहां पाठकों को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नहीं, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकंदर को इतिहासकारों ने महान् माना है। वह जहां-जहां गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पान था, अत: कौन कह सकेगा कि उसके काम में नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दवाब के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिंदगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आसपास दरिद्रता और दु:ख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायंगे इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मैं उनका भला चाहूं, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंगलैंड़ के राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आंखें लाल किये

हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहारनीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं ।[१]

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि वह मनुष्य का कर्तव्य है। महान भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मशाल और बाएं हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मशाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोजख की आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोजख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बांधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मन से दगाबाजी करना यह नामर्दी का काम है। डर-डरकर भले काम करनेवाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरण के

आरंभ में नीतियुक्त काम कौन है यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाब भी हमें मिल चुका। कैसे आदमी नीति का पालन कर सकते हैं यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपर के विषय से मेल रखनेवाली कविता :

हरिनो मारग छे शूरानो कायरनुं नहि काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वलती लेबुं नाम जोने।
सुत वित दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने;
सिधु मध्ये मोती लेवा, मांहि पडया मरजीवा जोने।
मरण आग में ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे उभा ते जुए तमाशो, ते कौडी नव पामे जोने;
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने;
मांहि पंडया ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा सरि मोंधी वस्तु, सांपडवी नहिं सहेल जोने;
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने।

भावार्थ-हरि का मार्ग शूर-वीर के लिए है, उसमें कायर का काम नहीं। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके बाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अंत में अपना शीश भी सर्मपण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीवा मोती पाने के लिए समुद्र के भीतर पैठता है। जो मौत के मुंह में पैठे वही मोतियों से अपनी मुट्ठी भर और हृदय की पीड़ा मेट सकता है। किनारे खड़ा रहनेवाला तमाशा भर देखता है, उसके हाथ एक कौड़ी भी नहीं लगती। प्रेम का पंथ पावक की ज्वाला है। जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खड़ा रहनेवाला उसकी आंच से जलता है। सिर देकर उसके बदले दुर्लभ वस्तु का पाना सरल नहीं है। ऐसे लोग अपने मन का मैल त्याग करके महापद को प्राप्त कर अमर होते हैं।

---

१. एक उर्दू कवि ने भी यही बात कही हे--“दोस्ती और किसी गरज़ के लिए, यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"-अनु.

४. अच्छा नियम कौनसा है ?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारे में हम सदा मत प्रकट किया करते हैं। कुछ कामों से हमें संतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते हैं। कार्यविशेष के भले या बुरे होने का आधार इस बात पर नहीं होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है यो हानिकारक; पर उसकी तुलना करने में हम जुदे ही पैमाने से काम लिया करते हैं। हमारे मन में कुछ विचार रम रहे होते हैं, उन्हींके आधार पर हम दूसरे आदमियों के कामों की परीक्षा किया करते हैं। एक आदमी ने दूसरे आदमी का कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो उस काम को हम खराब मानते हैं। कितनी ही बार नुकसान करनेवाले की ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमें तनिक भी हिचक नहीं होती । यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्यों का हेतु हम सदा देख नहीं सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते हैं। फिर भी हेतु के प्रमाण में काम की परीक्षा करने में बाधा नहीं होती। कुछ बुरे कामों से हमें लाभ होता है, फिर भी हम मन में तो समझते ही हैं कि वे बुरे हैं।

अत: यह सिद्ध हुआ कि किसी काम के भले या बुरे होने का आधार मनुष्य का स्वार्थ नहीं होता। उसकी इच्छाएं भी इसका आधार नही होतीं। नीति और मन की वृत्ति के बीच सदा संबंध देखने में नहीं आता। बच्चे पर ममता होने के कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते हैं; पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते हैं कि उसे देने में अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी बात है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। हमारी आंखें खुली हों तो हमें सूरज दिखाई देता है, बंद हों तो नहीं दिखाई देता। इसमें हमारी निगाह में हेर-फेर हुआ, न कि सूरज के होने में । नीति के नियमों के बारे में भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान दशा में हम नीति को न समझ सकें। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमें समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। मनुष्य सदा भले की ओर ही निगाह रखे, ऐसा कदाचित ही होता है। इससे अकसर स्वार्थ की दृष्टि से देखकर अनीति को नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आने को है। जब

मनुष्य स्वार्थ का विचार त्यागकर नीति-अनीति की ओर ही ध्यान देगा। नीति की शिक्षा अभी बिलकुल बचपन की अवस्था में है। बेकन और डार्विन के पहले शास्त्र की जो स्थिति थी वही आज नीति की है। लोग सच्च क्या है उसे देखने को उत्सुक थे। नीति के विषय को समझने के बदले वे पृथ्वी आदि के नियमों की खोज में लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान आपको दिखाई दिये हैं, जिन्होंने लगन के साथ कष्ट सहकर पिछले वहमों को एक ओर रखकर नीति की खोज में जिंदगी बिताई हो ? जब प्राकृतिक रहस्यों की खोज करनेवाले आदमियों की तरह वे नीति की खोज करने में तल्लीन रहें तब हम यह मानें कि अब नीतिविषय के विचार इकट्ठे किये जा सकते हैं। शास्त्र या विज्ञान के विचारों के विषय में आज भी विद्वानों में जितना मतभेद रहता है उतना नीति के नियमों के विषय में होना मुमकिन नहीं। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसे तक हम नीति के नियमों के विषय में एक राय न रख सकें; पर उसका अर्थ यह नहीं है कि हम खरे-खोटे का भेद नहीं समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्यों की इच्छा से अलग नीति का कोई नियम है, जिसे हम नीति का नियम कह सकते हैं। जब राजनैतिक विषयों में हमें नियम-कानून दरकार हैं तब क्या हमें नीति के नियमों का प्रयोजन नहीं है, भले ही वे नियम मनुष्य-लिखत न हों ? वह मनुष्य-लिखित होना भी न चाहिए। और अगर हम नीति-नियमों का अस्तित्व स्वीकार करें तो जैसे हमें राजनैतिक नियमों के अधीन रहना पड़ता है वैसे ही नीति के नियमों के अधीन रहना भी हमारा कर्तव्य है। नीति के नियम रातनैतिक और व्यावसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। मुझसे या दूसरे किसी से यह नहीं बन सकता कि व्यावसायिक नियमों के अनुसार न चलकर मैं गरीब बना रहुँ तो क्या हुआ ?

यों नीति के नियम और दुनियादारी नियम के बीच भारी भेद है, क्योंकि नीति का वास हमारे हृदय में है। अनीति का आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा—झूठा सच्चा कभी नहीं हो सकता। और जहां जन-समाज कभी दुष्ट हो वहां भी लोग नीति के नियमों का पालन न करते हों तो भी पालन का ढोंग करेंग, अर्थात् नीति का पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियों को भी कबूल करनी पड़ती है। ऐसी नीति की महिमा है। इस प्रकार की नीति रीति-रिवाज या लोकमत की परवा नहीं करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहांतक नीति के नियम का अनुसरण करता दिखाई दे वहीं तक नीतिमान पुरुष को वह बंधनकारक है।

ऐसा नीति का नियम कहाँ से आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढ़ता नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यों में जुदा-जुदा कानून-कायदे देखने में आते हैं। सुकरात के जमाने में, जिस नीति का अनुसरण वह करता था, बहुत-से लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनिया मे द्वेष और झूठ की दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपर से यह कह सकते हैं कि नीति के नियम सर्वोपरि हैं और ईश्वरीय हैं।

ऐसे नियम का भंग कोई प्रजा या मनुष्य अंततक नहीं कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अंत में उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान पुरुष का भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोम ने जब अनीति का रास्ता पकड़ा तब उसके महान पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीस की जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीति को टिका न सकी। फ्रांस में जब विप्लव हुआ, वह भी अनीति के ही विराध में । वैसे ही अमरीका में भला वेंडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दी पर बैठी हो तो भी टिकने की नहीं। नीति के इस अद्भुत नियम का जो मनुष्य पालन करता है वह ऊपर उठता है; जो कुटुंब पालन करता है वह बना रह सकता है, और जिस समाज में उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है; जो प्रजा इस उत्तम नियम का पालन करती है वह सुख, स्वतंत्रता और शांति को भोगती है।

ऊपर के विषय से मेल खानेवाली कविता :

मन तुहिं तुहिं बोले रे, आसुपना जेवु तल तारूं ;
अचानक उड़ी जाशे रे, जेम देवतामां दारू।
झाकल जलपलमां वलीजाशे, जेम कागलने पाणी ;
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूलधाणी,
पाछलथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारूं मारूं।
काचनो कुंपो काया तारी, वण्सतां न लागे वार।
जीव कायाने सगाई केटली, मूकी चाले बनमोझार,
फोकट पुल्यां फरवुरे, ओचिन्तु थाशे अंधारूं।
जायुं ते तो सर्वे जवानुं, उगरवानो उद्यारो;

देव, गांधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणानो वारो।
आशानो महेल उंचोरे, नीचुं आ काचुं कारभारूं।
चंचल चित्तमां चेतीने चालो, भालो हरिनुं नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारूं...मन.

- काव्यदोहन

भावार्थ-मन, यह जो तु अपना-अपना कहता है तेरा सपने के-जैसा है अचानक इस तरह उड़ जायगा जैसे आग में डाली हुई शराब। ओस का पानी पल में उड़ जायेगा कागज पर पानी के समान | उसी प्रकार तेरी कायारूप बाड़ी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तु व्यर्थ 'मेरा' 'मेरा' करता है। तेरी काया शीशे की कुप्पी जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देह का नाता ही कितना? एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवन पर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जाने वाला है, इसमें से बचना कठिन है। देवता, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य सबके मरण का दिन नियत है। आशा का महल ऊंचा और इस दुनिया का कच्चा कारोबार नीचा है। तू चंचल चित्त में चेतकर चल और भगवान का नाम ले। जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पाने का उपाय कर, जहां तेरी आत्मा को विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वी के ऊपर कोई नहीं रहने वाला है।

५. नीति में धर्म का समावेश है?

इस प्रकार का विषय कुछ विचित्र माना जायगा। आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीजें हैं। फिर भी इस प्रकरण का उद्देश्य नीति को धर्म मानकर विचार करना है। इसमें कितने ही पाठक ग्रंथकार को उलझन में पड़ा हुआ मानेंगे। जो मानते हैं कि नीति में धर्म का समावेश नहीं होता और जो यह मानते हैं कि नीति हो तो धर्म की आवश्यकता नहीं है, दोनों पक्ष यह आरोप करेंगे। फिर भी नीति और धर्म में निकट संबंध हैं, यह दिखाना ग्रंथकार का निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीति का प्रसार करने वाले मंडल भी धर्म को नीति द्वारा मानते हैं।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचार में नीति के बिना धर्म की स्थिति संभव है। ऐसे बहुतेरे दुराचारणी पुरुष देखने में आते हैं जो अधोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का गर्व रखते हैं। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला जैसे नीतिमान पुरुष पड़े हैं, जो अपने-आपको नास्तिक कहने में गर्व अनुभव करते हैं। और धर्म का नाम सुनकर भागते हैं। ये दोनों मतवाले मनुष्य भूल करते हैं और पहले मतवाले तो भूले ही नहीं हैं, धर्म के बहाने अनीति का आचरण कर खतरनाक भी हो गये हैं। इसलिए इस प्रकरण में मैं यह दिखाऊंगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनों के द्वारा देखने से नीति और धर्म एकही दिखाई देते हैं और उन्हें एक जगह रहना भी चाहिए।

पुरानी नीति केवल संसारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते हैं। यों करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी रीति नष्ट हो गई। बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालों ही का नाश हो जाता। ऐसा होना हम आज भी देख रहे हैं। जो अच्छे रिवाज आदमी जाने अनजाने चलाया करता है वह न नीति है और न धर्म । फिर भी दुनिया में जो काम नीति के अन्दर आते हैं वे ऊपर बतलाये हुए भले रिवाज ही हैं।

फिर धर्म की कल्पना भी अकसर मनुष्य के मनेमें महज ऊपर-ऊपर से ही रहती है। कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए खतरों को दूर करने के लिए कोई धर्म मानते हैं। यों भय से या प्रीति से किये गये कार्य को धर्म मानना भूल है।

पर अंत में ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य संकल्पपूर्वक सोच-विचारकर नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिये, दृढ़ निश्चय के साथ अपना सर्वस्व होमने को तैयार रहकर नीति के रास्ते पर चलता और बिना मुँह पीछे किये कदम बढ़ाता जाता है। तब माना जायगा कि उस पर नीति का रंग चढ़ा।

ऐसी नीति धर्म के सहारे के बिना कैसे टिकेगी ? दूसरे आदमी का थोड़ा-सा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकूं तो मैं वह नुकसान क्यों न करूं ? दूसरे की हानि करके होनेवाला लाभ, लाभ नहीं हानि है, यह घूंट मेरे गले से कैसे उतरे ? बिस्मार्क ने ऊपर से देखने में जर्मनी का हित करने के लिए अति भयानक कर्म किये। उसकी शिक्षा कहां चली गई ? सामान्य समय में बच्चों के साथ वह नीति के वचनों की जो बकवास करता था वे वचन कहां गुम हो गये ? उनको याद करके उसने नीति का पालन क्यों नहीं किया ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रीति से दिया जा सकता है। ये सारी अड़चनें आईं और नीति नहीं पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीति में धर्म नहीं समाया हुआ था। नीतिरूपी बीज को जबतक धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तबतक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना यह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसे तक पानी न पाये तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्मरूप में करना चाहिए।

फिर हम यह भी देखते हैं कि दुनिया के बड़े धर्मों में जो नीति के नियम बताये गये हैं वे अधिकांश में एक ही हैं और उन धर्मों के प्रचारकों ने यह भी कहा है कि धर्म की बुनियाद नीति है। नींव को खोद डालिये तो घर अपने-आप ढह जायगा। वैसे ही नीति रूपी नींव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो-चार दिन में ही भूमिसात हो जायगी।

ग्रंथकार यह भी बताता है कि धर्म और नीति को एक कहने में कोई अड़चन नहीं है। डाक्टर क्वाइट इबादत में यह कहता है-"या खुदा, नीति के सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम जरा सोचें तो देखेंगे कि हम मुंह से तो खुदा या ईश्वर को पुकारें और बगल में खंजर छिपाये रखें- 'मुख में राम बगल में छुरी' को चरितार्थ करें तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी फरियाद सुनेगा ? एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओं को तोड़ता है, दूसरा नाम से ईश्वर को नहीं पहचानता, पर

अपने काम से उसको भजता है और ईश्वरीय नियमों में उनके कर्त्ता को देखता है और उसके कानूनों का पालन करता है – इन दोनों में हम किसे धर्मवान और नितिमान मानें ? इस सवाल का जवाब देने में हम क्षणभर भी सोचे-विचारे बिना पक्के तौर पर कह सकते हैं कि दूसरा आदमी धर्मवान् और नीतिमान माना जायगा।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान);
खोजत सारा जग फीरो (फिर्यो) मिले न श्री भगवान ।
सहस्त्र (स) नाम से सोचकी एक न मिलो जवाब,
जप तप कि (की) ना जन्म तक (भर) हरी हरी (हरि हरि)-
गी (गि) ने हिसाब।
साधु-संतो (संत) को संग किनो बेद-पुरान अभ्यास;
फिर बी (भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास ।
कहोजी प्रभु अब क्युं (क्यों) मिले सोचुं (चूं) जीकु (को)आज;
जन्म जुदाई यह भई कछु नहिं सुझत इलाज।
अंतर्यामी तब कहे "क्युं तुं (क्यों तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु बकवत[१] फोकट[२] फिरे निसि-दिन ढुंढ़त (ढूंढत)
स्वार्थ ।"

मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतर में अहंकार;
दंभी ऐसे दंभ से, दि (दी) नानाथ मिलानार[३] ?
ठगविद्या मं (में) निंपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप;
सकल जगत कुं (को) ठगत तुं (तू), अंत ठग रहो आप।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध बुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप;
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप।[४]
-बहरामजी मलवारी

---

१. प्रभु के नाम का बकवास रटता हुआ; २. व्यर्थ ३. मिलनेवाले; ४. थप्पड़; गुजराती में इस शब्द का अर्थ धोखा भी होता है।

६. नीति के विषय में डार्विन[१] के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छा से ही करना, इसी में हमारी भलमनसी है । आदमी की शराफत की सच्ची पहचान यह है कि वह पवन के प्रवाह से इधर-उधर भटकते हुए बादलों की तरह धक्का खाने के बजाय अपनी जगह पर अचल रहे और जो उसे उचित जान पड़े, वह करे और कर सके।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है, यह हमें जान लेना चाहिए। हम जानते हैं कि हम हर तरह से अपने मालिक खुद नहीं हैं। हमसे बाहर की कितनी ही स्थितियां हैं, जिनका अनुसरण करते हुए हमें चलना होता है। जैसे जिस देश में हिमप्रदेश की-सी ठंड पड़ती है, वहां हमारी इच्छा हो या न हो, फिर भी शरीर को गर्म रखने के लिए हमें कायदे से कपड़े पहनने ही पड़ते हैं, यानी हमें समझदारी के साथ व्यवहार करना पड़ता है।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहर की और आस-पास की परिस्थिति को देखते हुए हमें नीति के अनुसार आचरण करना पड़ता है या नहीं, अथवा हम इस बात की कोई परवा नहीं कर पा रहे हैं कि हमारे बरताव में नीति है या अनीति।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए डार्विन के मत की जांच-पड़ताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीति के विषय पर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहर की वस्तुओं के साथ नीति का लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह सोचते हैं कि मनुष्य नीति का पालन करते हैं या नहीं इसकी परवा हमें नहीं करनी है और दुनिया में केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हें डार्विन के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। डार्विन के कथनानुसार मनुष्यों और दूसरे प्राणियों में भी जीते रहने का लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्ष में जीवित रह सकता है, वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नहीं है, वह जड़मूल से नष्ट हो जाता है; पर इस संघर्ष के मुकाबले में हम केवल शरीर-बल से टिक नहीं सकते।

हम आदमी, भैंस और रीछ की तुलना करें तो मालूम होगा कि शरीर-बल में रीछ या भैंस आदमी से बढ़े हुए हैं और आदमी उनमें से किसी के साथ कुश्ती लड़े तो हार जाएगा; पर यह बात होते हुए भी अपनी बुद्धि की बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जाति की जुदा-जुदा

कौमों के बीच कर सकते हैं । युद्धकाल में जिसके पास अधिक बल या अधिक संख्यावाले आदमी हों वही जीते, ऐसा नहीं होता; बल्कि जिसके पास कला-कौशल का बल और अच्छे नेता होते हैं, वह जाति अल्पसंख्यक या शरीर-बल में कम हो तो भी विजयी होती है, यह दृष्टांत हमने बुद्धिबल का देखा।

डार्विन हमें यह बताता है कि नीति-बल, शरीर-बल और बुद्धि-बल दोनों से बढ़कर है और योग्य मनुष्य अयोग्य से अधिक टिक सकता है। इस बात की सचाई हम अनेक रूपों में देख सकते हैं। कितने ही लोग यह मानते हैं कि डार्विन ने तो हमें यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीर-बल में भरपूर है, वही अंत में पार लगता है। यों ऊपर-ऊपर से ही विचार करने वाले लेभग्गू आदमी मान लेते हैं कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विन का यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दंतकथाओं से यह देखा गया है कि जो जातियां अनीतिमान थीं, वे आज नामशेष हो गई हैं। सोडम और गमोरा के लोग बड़े दुराचारी थे। इससे ये देश मिट गये। आज भी हम देख सकते हैं कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है, उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसालें लेकर देखें कि साधारण नीति भी मानव-जाति की सलामती के लिए कितनी जरूरी है। शांत स्वभाव नीति का एक अंग है। ऊपर से देखने से ऐसा जान पड़ेगा कि घमंडी मनुष्य आगे बढ़ सकता है; पर थोड़ा विचार करके भी हम देख सकते हैं कि मनुष्य की गर्वरूपी तलवार अंत में अपने ही गले के ऊपर गिरती है। मनुष्य नशे का सेवन न करे, यह नीति का दूसरा विषय है। आंकड़े देखने से विलायत में यह देखने में आया है कि तीस वर्ष की उम्र वाले शराबी तेरह या चौदह बरस से अधिक नहीं जीते; पर निर्व्यसन मनुष्य ७० बरस की आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीति का तीसरा विषय है। डार्विन ने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य जल्दी नाश को प्राप्त होता है। उसके संतान पहले तो होती ही नहीं और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्य का मन हीन हो जाता है और ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं उसकी शक्ल पागल की-सी होती जाती है।

जातियों की नीति का विचार करने पर भी हमें यही स्थिति दिखाई देगी। अंडमन टापू के पुरुष अपनी स्त्रियों को, ज्योंही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते हैं । अर्थात परमार्थ बुद्धि दिखाने के बदले अत्यंत स्वार्थ-बुद्धि का परिचय देते हैं। नतीजा यह हुआ है कि उस जाति का धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओं में भी एक हदतक परमार्थ बुद्धि देखने में आती है। भीरु स्वभाव

वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणिमात्र में परमार्थ बुद्धि थोड़ी-बहुत भी न होती तो आज दुनिया में घासपात और जहरीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियों में सबसे बड़ा अंतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरों के लिए अर्थात अपनी नीति के प्रमाण में अपने बच्चों के लिए, अपने देश के लिए, अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीति से बताता है कि नीति-बल सर्वोपरि है। ग्रीस की जनता यूरोप की आज की जनता से अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनता ने नीति का त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज वह जाति देखने में भी नहीं आती। जातियां, प्रजाएं न पैसे से टिकती हैं, न सेना से। वे एकमात्र नीति की नींव पर ही टिक सकती हैं। अत: मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है कि इस विचार को सदा मन में रखकर परमार्थरूपी परम नीति का आचरण करे।

---

१. डार्विन पिछली सदी में एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसने शास्त्र की महती खोजें की हैं। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकन शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं, जो अति पठनीय और माननीय हैं। उसने बहुत-सी मिसालों और दलीलों से यह दिखाया है कि आदमी की आकृति की उत्पत्ति एक तरह के बंदरों से हुई है, यानी बहुत तरह के प्रयोग और बहुत-सी जांच-पड़ताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमी की शक्ल और बंदर की शक्ल में बहुत फर्क नहीं है। यह खयाल सही है या नहीं, इससे नीति के विषय का कुछ बहुत नजदीक का संबंध नहीं है। पर डार्विन ने ऊपर लिखा विचार प्रकट करने के साथ-साथ यह भी जताया है कि नीति के विचार मानव-जाति पर क्या असर डालते हैं। और डार्विन ने जो कुछ लिखा है, उसपरे बहुतेरे विद्वानों की श्रद्धा है, इसलिए डार्विन के विचारों पर यह प्रकरण लिखा है।

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

अक्सर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीति में सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीश में अगर न्याय-बुद्धि हो तो जिन लोगों को उसकी न्यायी अदालत में जाना पड़े वे सुखी होते हैं। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता आदि गुण दूसरों के साथ होने पर ही प्रकट किये जा सकते हैं। वफादारी का बल भी हम एक-दूसरे से संबंध होने पर ही दिखा सकते हैं। स्वदेशाभिमान के विषय में तो कहना ही क्या ! वास्तविक स्थिति को देखने से यह दिखाई देगा कि नीति का एक भी विषय ऐसा नहीं है, जिसका फल अकेले नीति का पालन करनेवाले को ही मिलता है। अक्सर यह कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणों का सामनेवाले मनुष्य, विपक्षी के साथ कोई लगाव नहीं होता। पर हम झूठ बोलकर किसी को ठगें तो उससे विपक्षी की हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलने से उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाज को नापसंद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्य का असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोक में रहता है और विचारों की दुनिया अभी पैदा होने को है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमी के लिए प्रचलित व्यवहार नीतिविशेष का अनादर करने के लिए यह खयाल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नहीं है। ऐसा आदमी सदा दूसरों को अपने विचार के अनुसार आचरण कराने के यत्न में लगा रहेगा। ऐसे ही पैगंबरों ने दुनिया के चक्रों की गति फेरी है।

मनुष्य जबतक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरों के सुख की परवा नहीं करता तबतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गयाबीता है। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है, यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब हम उसे अपने कुटुंब का बचाव करते देखते हैं। वह उस वक्त मानव-जाति में और ऊँचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जाति को अपना कुटुंब मानता है। जब सारी मानव-जाति को वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपान पर चढ़ता है, अर्थात् मनुष्य मानव-जाति की सेवा में जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्री के लिए, अपने बेटे के लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहर के आदमी के लिए मेरे दिल में दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव-जाति के दु:ख की अनुभूति

नहीं है, पर स्त्री, बच्चे-या कौम, जिसको मैंने अपना मान रखा है, उनके लिए भेद-बुद्धि या स्वार्थ-बुद्धि से कुछ दर्द होता है।

अत: जबतक हमारे मन में हरएक मानव-संतान के लिए दया न हो तबतक हमने नीति-धर्म का पालन नहीं किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे हैं कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानि हम सदा उसकी सेवा करते रहें, यह हमारा फर्ज है। हमें यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी के ऊपर नहीं है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करने वाला आदमी इस दुनिया के रेले में पड़कर पिस जायगा, पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठा से सेवा करनेवाले आदमी को खुदा ने हमेशा बचा लिया है।

इस नीति के पैमाने से मनुष्य-मात्र समान हैं। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरह का काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पदाअधिकार भोगता हूं तो उस पद की जिम्मेदारी उठाने की मुझमें शक्ति है। इससे मुझे गर्व से इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग, जो छोटी जिम्मेदारी उठाते हैं, मुझसे हेठे हैं। पूर्ण साम्य तो हमारे मन की स्थिति पर अवलंबित होता है। जबतक हमारे मन की यह स्थिति नहीं होती तबतक हम पिछड़े हुए हैं। |

इस नियम के अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरी जाति या राष्ट्र पर राज्य नहीं कर सकता । अमरीका की गोरी जनता का वहां के मूल निवासियों को दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति-विरुद्ध है। ऊंची शिक्षा-संस्कार वाली जाति का नीची जाति से साबका पड़े, तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठा कर अपने बराबर कर ले। इस नियम के अनुसार राजा प्रजा पर हुकूमत करने वाला नहीं, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगने के लिए नहीं, बल्कि प्रजा को सुखी करने के लिए होता है। प्रजातंत्र राज्य में लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियम के अनुसार एक राज्य में बसने वाले या एक कौम के आदमियों में जो बलवान हों उनका काम है दुर्बलों की रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-

व्यवस्था में भूखों मरने वाले नहीं हो सकते, और न यही हो सकता है कि कुछ लोगों के पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय, इसलिए कि हम अपने पड़ोसी का दुःख देखते रहें और सुखी रहें, हो नहीं सकता। परम नीति का अनुसरण करने वाले आदमी से धन बटोरने का काम होने वाला नहीं। ऐसी नीति दुनिया में थोड़ी दिखाई देती है, यह सोच कर नीतिमान को घबराना न चाहिए, क्योंकि वह अपनी नीति का मालिक है, उसके नतीजे का नहीं। नीति का आचरण न करने से वह दोषी माना जायगा; पर उसका असर जन-समाज़ पर न हो तो कोई उसको दोष नहीं हो सकता।

८. समाप्ति

"मैं जिम्मेदार हूँ," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्य को हिला देता है और अचंभे में डाल देता है। गैबी आवाज की प्रतिध्वनि सदा हमारे कान में पड़ा करंती है-"मानव, यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ जैसा तु ही है, क्योंकि प्रकृति ने दो समान वस्तुएं कहीं बनाई ही नहीं। जो फर्ज़ तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनिया के सलाना चिट्ठे में घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज, जो मुझे अदा करना है, क्या है? कोई कहेगा कि-आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।

लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्य के अनुसार मुझे यह मानकर कि मैं खुदा का नूर हूं, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आसपास के लोगों के साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मां-बाप की सेवा, बीवी-बच्चों का भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणों में मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीति से व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्य का अंग है। जबतक मैं अपने आपको न पहचानूं तबतक दूसरे को कैसे पहचान सकूंगा ? और जबतक पहचानूंगा नहीं तब तक उनका सम्मान कैसे कर सकूंगा ? बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि जिन बातों का दूसरों से संबंध होता हो उनमें तो हमें कायदे से व्यवहार करना चाहिए; पर जबतक हमारे कामों का दूसरों से संबंध न हो तबतक हम अपनी मर्जी के मुताबिक जैसे चाहें वैसे व्यवहार कर सकते हैं। जो आदमी ऐसा मानता हो, वह बिना समझे बोलता है। दुनिया में रहकर कोई भी आदमी बिना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वछंद होकर व्यवहार नहीं कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है अव्वल तो हमारे एकांत के आचरण की खबर खुद हमारे सिवा दूसरों को होती नहीं, ऐसे आचरण का असर दूसरों पर होता है, इसलिए हम जिम्मेदार होते हैं, इतना ही सोचना काफी नहीं है। उसका असर दूसरों पर होता है, इसलिए भी हम उसके जवाबदेह हैं। हर आदमी को चाहिए कि अपने उत्साह को काबू में रखे। एक महान् पुरुष का कहना है कि किसी भी आदमी का खानगी चाल-चलन मुझको बता दो, मैं तुरन्त बता सकता हूं कि

वह आदमी कैसा होगा और है। ऐसे ही कारणों से हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओं को लगाम देकर रखें। यानी हमें शराब नहीं पीना चाहिए, पेटू की तरह ठूंस-ठूंस कर नहीं खाना चाहिए, नहीं तो अन्त में शक्तिहीन होकर हमें अपनी आबरू गंवानी होगी। जो आदमी विषयमार्ग से दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राण की रखवाली नहीं करता वह बाहर के कार्यों में सफलता नहीं पा सकता।

यों विचार करते हुए मनुष्य अपनी अंतर्वृत्तियों को स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियों का क्या उपयोग करूं। जीवन में कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। हम जीवन के कर्त्तव्यों को खोज करके उनके पालन की ओर मन का झुकाव न रखें तो हम बिना पतवार की नाव कि तरह भरे दरिया में डूबते-उतरते रहेंगे। हमारा ऊंचे-से-ऊंचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानव-जाति की सेवा करें और उसकी स्थिति सुधारने के यत्न में योग दें। इसमें सच्ची ईश्वर-स्तुति, सच्ची बंदगी आ जाती है। जो आदमी भगवान का काम करता है, वह भगवान का जन है, खुदा का बंदा है। खुदा का नाम लेने वाले ढोंगी, धूर्त बहुतेरे दुनिया में विचरा करते हैं। तोता 'राम-राम' कहना भी सीख लेता है, इससे उसे कोई राम का भक्त, सेवक नहीं कहता। मनुष्य-जाति को यथायोग्य स्थिति प्राप्त कराने का उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्य से वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रत का पालन करता है, वह कभी नीति-धर्म से डिगता नहीं। उससे विचलित होकर मानव जाति को ऊपर उठाने का उद्देश्य पूरा किया ही नहीं जा सका।

अब हम ब्योरेवार विचार करें। हमें सदा यह देखते रहना पड़ता है कि हमारा आचरण सुधार की ओर जा रहा है या बिगाड़ की ओर। बनिज-व्यापार करने वाला हरएक सौदा करते हुए इस बात का विचार करेगा कि मैं अपने आपको या दूसरे को ठग तो नहीं रहा हूं। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीति का अनुसरण करते हुए मुवक्किल और रोगी के हिताहित को अधिक सोचेगा। मां बच्चे का पालन करते हुए सदा यह डर मन में रखकर चलेगी कि कहीं झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थ से वह बिगड़ न जाय। ऐसा विचार रखकर मजदूरी करने वाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्य का खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचन का निचोड़ यह निकला कि मजदूर अगर नीतिनियम का पालन करते हुए अपने कत्तर्व्य का पालन करें तो वह अपने आचार-व्यवहार में अपने आपको खुद-मुख्तार मानने वाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकील से श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील आदि अधिक बुद्धि

या अधिक पैसे वाले होते हुए भी खोटे सिक्के जैसे हैं। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे हैं कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभाने में समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो। मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलन पर आश्रित होता है, उसके पद-दरजे पर नहीं। उसके चरित्र की परख उसके बाहर के कामों से नहीं होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जान कर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीब को अपनी नजर से दूर करने के लिए एक डालर देता है, दूसरा उस पर तरस खाकर, स्नेह के आधा डालर देता है। इनमें आधा डालर देने वाला नीतिमान है और पूरा डालर देने वाला पापी है।

इस सारे विवेचन का सार यह निकला कि जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से नाजायज फायदा नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रख कर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसे वाला है। मानव-जाति की सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दियासिलाई में आग न हो तो दूसरी लकड़ी को कैसे सुलगायेगी ? जो आदमी खुद नीति का पालन नहीं करता वह दूसरे को क्या सिखायगा ? जो खुद डूब रहा हो वह दूसरों को कैसे पार उतारेगा ? नीति का आचरण करने वाला दुनिया की सेवा किस तरह करनी होगी, यह सवाल कभी उठाता ही नहीं, क्योंकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नहीं होता. मैथ्यू आरनोल्ड कहता है, "एक वक्त था जब मैं अपने मित्र के लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मैं वैसी कामना नहीं करता। इसलिए कि मेरे मित्र का सुखदुख उनके होने न होने पर अवलंबित नहीं। इससे अब मैं सदा यही मनाता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे ।" इमसन कहता है कि भले आदमी का दु:ख भी उसका सुख है और बुरे का तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनिया के लिए दु:खरूप है।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

गर पादशाह[१] होकर अमल[२] मुल्कों हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिन का नरसिंगा बजा, भों भों हुआ तो क्या हुआ ?
गुलशोर मुल्क व माल[३] का कोसों हुआ तो क्या हुआ ?
या हो फ़क़ीर आजाद के रंगों हुआ तो क्या हुआ ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ || १ ||
दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,

बैठा अगर होदे उपर[४] या पालकी में जा चढ़ा,
आगे नक्कारा और निशां, पीछे को खोजों का परा[५];
देखा तो फिर इक आन में, हाथी न घोड़ा न गधा।
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || २ ||
अब देख किसको शाद[६] हो और किस पै आँखें नम करे?
यह दिल बिचारा एक है, किस-किसका अब मातम करे ?
या दिल को रोवे बैठकर, या दर्द दुःख में कम करे ?
यां का यही तूफान है अब किसकी जूती ग़म करे ?
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ३ ||
गर तू 'नज़ीर' अब मर्द है तो जाल में भी शाद हो,
दस्तार[७] में भी हो खुशी, रूमाल में भी शाद हो,
आजादगी भी देख ले, जंजाल में भी शाद हो,
इस हाल में भी शाद हो और उस हाल में भी शाद हो,
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ४ ||

- नज़ीर

१. बादशाह; २. हुकुमत; ३. देश और धन ४. ऊपर ५. बेगमों की पालकियों की रक्षा के लिए हिजड़े सिपाहियों की कतार; ६. .....; ७. .....

सर्वोदय

रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक का सारांश

प्रस्तावना

पश्चिम के देशों में साधारणत: यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख-उनका अभ्युदय-बढ़ाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवा नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दु:ख पहुंचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं।

किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और अर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है और केवल इतने ही के लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगों में अंग्रेज विद्वान् स्वर्गीय जान रस्किन मुख्य थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयों पर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं नीति के विषयों पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। उसमें से एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहां-जहां अंग्रेजी बोली जाती है, वहां-वहां इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताये विचारों का जोरों से खंडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य-जाति का कल्याण है।

आजकल भारत में हम पश्चिम वालों की बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातों में हम इसकी जरूरत भी समझते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम की बहुत-सी रीतियां खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब है, उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की अवस्था बहुत ही कहणाजनक है। हम धन के लिए विदेश जाते हैं। उसकी धुन में नीति को, ईश्वर को भूल जाते हैं। स्वार्थ में सन जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमें विदेशों में रहने से लाभ के बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्रा का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धि से देखा जाय तो भी नीति का पालन आवश्यक है। जॉन रस्किन ने सिद्ध किया है कि सुख इसी में है। उन्होंने पश्चिमवालों की आंखें खोल दी हैं और आज यूरोप और अमरीका के भी कितने ही लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलते हैं।

भारतीय जनता भी उनके विचारों से लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तक का इस ढंग से सारांश देने का विचार किया है कि जिससे अंग्रेजी न जानने वाले भी उसे समझ लें।

सुकरात ने; मनुष्य को क्या करना उचित है, इसे संक्षेप में समझाया है। कह नहीं सकते कि उसने कुछ कहा है, रस्किन ने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किन के विचार सुकरात के ही विचारों का विस्तृत रूप हैं। सुकरात के विचारों के अनुसार चलने की इच्छा रखने वालों को भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, रस्किन ने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तक का सार दे रहे हैं, उलथा नहीं कर रहे हैं। उल्था कर देने से संभव है कि बाइबिल आदि ग्रंथों के कितने ही दृष्टांत पाठक न समझ पायें। हमने पुस्तक के नाम का भी उल्था नहीं किया है; क्योंकि उसका मतलब भी वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबिल पढ़ी है; परन्तु उसके लिखे जाने का उद्देश्य सबका कल्याण, सबका (केवल अधिकांश का नहीं) उदय, उत्कर्ष होने के कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

- मो. क. गांधी

सर्वोदय

१. सचाई की जड़

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना-स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किये बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गतिमें बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए; परंतु लोभ और आगे बढ़नेकी इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाय।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेन-देन के नियम-जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओर से स्थायी शक्ति, लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्ति का अंदाजा लगायेंगे, बाद को आकस्मिक का। दोनोंका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गति का निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियां एक प्रकार की हैं; परंतु मानव-व्यवहार में लेन-देन स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तु विशेष की गति पर पड़नेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़ बाकी के नियमसे

लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जांच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या मांग और उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, यह कहने का कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षा यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थिपंजर नहीं है और फिर नियम बनायें तो उसके नियम ठीक भले ही हों; पर वे अस्थि-पंजरवाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होनेपर भी भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्य का मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींचकर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस मांस में पुनः अस्थिपंजर घुसा देने में क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे; क्योंकि अस्थिपंजर से मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायं तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढ़ंग पर चलाते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर केवल कल है और इसी धारण के अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव हैं, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकार के नियम मनुष्य पर जिसमें जीव-आत्मा-रूह की प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-तक हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार हैं। उस वक्त मालिक कुछ सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है परंतु इस समय में वे कुछ नहीं समझते । सच तो यह है कि एक-दूसरे का सांसारिक स्वार्थ – पैसे का – एक न होने पर भी एक दूसरे का विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं। घर में माता और उसके बच्चे हैं। दोनों को भूख लगी है। खाने में दोनों के – माता और बच्चे के – स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भखों मरते हैं और बच्चे खाते है तो मां भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। ठीक यही बात मनुष्य के परस्पर के संबंध के विषय में भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं है। हमें पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहए। तब भी यह बात नियम रूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है; परंतु नफे के बंटवारें की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहां एक का लाभ हो वहां दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनखाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साह रह, मालिक का स्वार्थ नहीं सधता। इसी तरह कारखाना भली भांति न चल सकता हो तो भी ऊंची तनखाह मांगना नौकर के स्वार्थ का साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत करने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊंची तनखाह मांगना स्पष्टत: अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्राय: सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल कया होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का संबंध अवलंबित होता हैं। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह है कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीर में रख सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकरने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतंत्रता है। इसी को लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना

है कि इस तरह कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अंत में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन था कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परंतु यहां तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों पर हड़ताल फेर देता है – उन्हें गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक-से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकता है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाय। नौकर और मालिक के बीच धनका नहीं, प्रीति का बंधन होना चाहिए।

प्राय: देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबाव के कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिये जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूतिरहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं; क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है; पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिक के साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने के परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उस पर विचार कर रह हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए-यह बिलकुल जुदी बात है और यहां हम उसपर विचार नहीं कर रह हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेही सहानुभूति रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार

की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्याय नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटे के तौल का हिसाब रक्खे और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मांगे अपने आप ही मिल जाता है। कहते हैं जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्टता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है – सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहां सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहां युद्ध में कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरों के दलों में भी पाई जाती है। डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की घनिष्टता नहीं दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरोंकी तनखाह का आधार लेन-देन के, मांग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबंध में विरोध, प्रतिद्वंद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नोंपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांग का और प्राप्ति का विचार किए बिना नौकरों की तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरोंका या सेनापति और सिपाहियों का स्थायी संबंध होता है, उसी तरह कारखानों में बराबर कैसा ही समय आने पर भी नौकरी की नियत संख्या कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करें। आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखानेके मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाय। फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैंड के प्रधानमंत्री का पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप) के पदपर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणत: इस तरह का संबंध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरण में हम बंधी उजरत ही देते हैं । इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर की उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील-डाक्टरों के ही पास जाते हैं, उसी तरह सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर हम लोग अच्छे राज और बढ़ई से ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसंद किया जाय। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकता है वहां अंत में बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें। वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने आदमियों को आरंभ में रक्खा हो उतने को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम मिलता है तब उन्हें ऊंची तनखाह मांगनी ही पड़ती है; किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाय कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाह में भी काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अंत में लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानों में ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते । सिपाही सेनापति की खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं; बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरी के संबंध में भी मानते हैं, इसलिए उन्हें आदर की दृष्टिसे देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक संकट भी अपने रोगी

का उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते; पर अपने समुदायवालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता ? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्यका संबंध मान लेने का क्या कारण है ? विचार करने से दिखाई देता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है; पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहांतक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना-धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्यों में–

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है;
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है;
और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्-

पैर पीछे हठाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाय तो भी चिकित्सक को वहां मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशक को झूठके बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालों के लिए मरने का उपर्युक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनखाह लेना नहीं; बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोजी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाते हैं, पर दोनों में से एक का भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाय, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमें से कितनों को अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिक को ही उनके मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बाप के हो जाते हैं। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने-आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि “मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूं या नहीं ?”

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहां अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना होगा। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज

से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्त्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार संभव हैं कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती । अंग्रेज जाति आज तक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़े से लोगों ने उन नियमों का भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसी से यह नीति अब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमों को भंग करनेसे कैसी हानियां होती हैं और किस तरह समाज को पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाई के मूल के संबंध में पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है--"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है ? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलीलें उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं; पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे वहां गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएं के रहट-जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है।

आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपसे पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहां गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है, ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। यह लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ानेवाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाला यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे, अपने को उतना ही पैसेवाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमीके पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परंतु यदि इसके पड़ोसियों से किसी को सोना-चांदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अत: उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सीने का मूल्य उसके खेतके पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जायेगा क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसन्द न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आरामके लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेनेकी इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी वहां जायगा। निचोड़ यह निकला कि

धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो नहीं सकता; परंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दु:खी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

२. दौलत की नसें

इसी प्रकार किसी विशेष राष्ट्र में रुपये-पैसे का चक्कर शरीर में रक्त-संचार के समान हैं। तेजी के साथ रक्त का संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वर का। शरीर पर एक प्रकार की लालिमा स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकार की रक्तपित्त रोग का चिन्ह है। फिर एक स्थान में खून का जमा हो जाना जिस तरह शरीर को हानि पहुंचता है उसी तरह एक स्थान में धन का संचित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाज के टुटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से दो खलासी एक निर्जन किनारे आ पड़े हैं। वहां उन्हें खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहें तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयार कर खेती कर सकते हैं और भविष्य के लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते हैं और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनों का हिस्सा बराबर माना जायेगा। इस तरह इन पर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हें अपने परिश्रमका फल बांटने का अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद इनमें से एक आदमी को असंतोष हुआ, इसलिए उन्होंने खेत बांट लिये और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि कभी एन मौके पर एक आदमी बीमार पड़ गया। ऐसी दशा में वह स्वभावत: दूसरे को मदद के लिए बुलायगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मैं तुम्हारा इतना काम करने को तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पड़े तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह भी लिख देना होगा कि तुम्हारे खेत में मैं जितने घंटे काम करूंगा उतने ही घंटे जरूरत पड़ने पर, तुम मेरे खेत में काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमार की बीमारी लंबी चली और हर बार उसे उस आदमी को उसी तरह का इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनों की स्थिति क्या होगी ? हम देखेंगे कि दोनों ही पहले से गरीब हो गए हैं; क्योंकि बीमार आदमी जब तक खाटपर पड़ा रहा तब तक उसे अपने काम का लाभ नहीं मिला। यदि हम मान लें कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमार के खेत में लगाया उतना अपने खेत में लगाने से उसे वंचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनों की मिलकर होनी चाहिए थी उसमें कमी हो गई।

इतना ही नहीं, दोनों का सम्बन्ध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमी का कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देने के बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चंगे आदमी ने बीमार आदमी से लिखाए हुए इकरारनामे का उपयोग करने का निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूप से विश्राम ले सकता है –आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारी से उठे हुए आदमी से दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्य में दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्ट से निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरण से पाठक देख सकेंगे कि दूसरे से काम लेने का फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियों ने मिलकर एक राज्य की स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेक ने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबके काम आ सके। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी सबका समय बचाने के लिए एक्का माल दूसरेके पास पहुंचाने का जिम्मा ले लेता है और इसके बदले में अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौर से माल लाए व ले जाए तो सबको लाभ होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जाने में चोरी करता है और बाद को सख्त जरूरत के समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानों को भिखारी बना देता है और अंत में अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपर के दृष्टांत में स्पष्ट अन्याय है; पर आज के व्यापारियों का यही हाल है। हम यह भी देख मकेंगे कि इस चोरी की कार्रवाई के बाद तीनों आदमियों की संपत्ति इकट्ठी करने पर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमी के ईमानदार बने रहने पर होती। दोनों किसानों का काम कम हुआ। आवश्यक चीजें न मिलनेसे अपने परिश्रम का पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरी का जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नहीं हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणित का-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर राष्ट्र विशेष की संपत्ति की जांच कर सकते हैं। उस संपत्ति की प्राप्ति के साधनों पर उसे धनवान मानने या न मानने का आधार है। किसी

राष्ट्र के पास इतने पैसे हैं, इसलिए वह इतना धनवान है यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमी के पास धन का होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता का लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेब का-सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है दूसरा ऐसा होता है कि आदमी के हाथ में आते हुए दस गुने धन का नाशकर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगने पर लकड़ियाँ जल जाने से जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकंप के कारण धराशायी हो जानेवाले मकानों की ईंटें सस्ती हो सकती हैं; किन्तु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंप की दुर्घटनाएं जनता के लाभ के लिए हुई थीं। इसी तरह महंगा-से-महंगा बेचना भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे ? आज आपको रोटी के अच्छे दाम मिले । पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्य की अंतिम कौड़ियां लेकर खड़े किए हैं ? या आपने वे रोटियां किसी ऐसे महाजन को दी हैं जो कल आपका सर्वस्व हड़प लेगा ? या किसी ऐसे सिपाही को दीं जो आपके बैंक पर धावा बोलने वाला है ? संभव है कि इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर आप अभी न दे सकें, क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है; पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्य पर, नीतिपूर्वक बेची है या नहीं यह आप बतला सकते हैं। ठीक न्याय होने की ही चिंता रखना आवश्यक भी है। आपके काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसे की जरूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते हैं और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धन-बल से नीति-बल से अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां धन काम नहीं देता वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैण्ड में अनेक स्थानों में लोग धन से भुलावे में नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान लें कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगीं इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चांदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन और मान से स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैण्ड गोलकुंडे के हीरों से गुलामों को सजाकर अपने वैभव का प्रदर्शन करने के बदले यूनान के एक सुप्रसिद्ध मनुष्य के कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखाकर कहे कि – “यह मेरा धन है।“

३. अदल इंसाफ

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी हुआ था। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है। वेनिस के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की | उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परन्तु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौत से बचाता है।" इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम मृत्यु है। इस जमाने में इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत: हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालनेवाले लेबिल लगाना, इत्यादि ।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दु:ख देता है वह अंत में दर-दर भीख माँगेगा।" इसके बाद कहता है, "गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सताएगा खुदा उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार के यहां डाका डालते हैं, परन्तु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हें ज्ञान देता है।" अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एकसे दूसरे का काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसी को ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता। परन्तु अब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं। और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है। इसी तह धन को भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है। वैसे ही धन की

गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बांध बांधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है । इसी तरह धन का मनमपना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह है कि वह धन विषतुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बांधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है; परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिक को विष देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैया र किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में चीकरी', मक्खन में चरबी इत्यादि । यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस ज़माने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्यायबुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। केवल लेनदेन के व्यायसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेडिये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परंतु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर का उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी माँगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियों को मजदूरी की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंह मांगी उजरत मिल जाएगी और यह प्राय: जितनी होनी चाहिए उससे अधिक होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या इससे अधिक का काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आएं और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलास में रुपया खर्च न करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अंत में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे; क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है। और इसलिए प्राय: ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दागा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं, मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूं और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमा लूं ! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं; ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दु:ख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वह अंत में दु:ख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है –

इसलिए ज्ञानियों ने कह रखा है-

“जहां धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।”

अंग्रेज मुंह से तो कहते हैं कि धन ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियों की गिनती करके अपने को सुखी

मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं जिन्हें सीखवकर लोग धनवान हो जायं। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय-जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकि सब बातें वृथा प्रयास हैं, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि:' के समान हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

४. सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणों में हम देख चुके कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसे वाले के पास अधिक पैसा जमा होता है फिर भी दोनों में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुखका आधार केवल धन को बताते हैं। इसलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गए हैं। बहुत से आदमी शहरों में जमा होते हैं और खेती बाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर की सुंदर स्वच्छ वायु को छोड़कर करखानों की गंदी हवा में रात-दिन सांस लेने में सुख मानते हैं। लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण धनवान हैं। उनके भोग-विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-भर मजदूरी करते हैं, उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकों को देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं। धनी न हो पाने पर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्ते से धन न मिलता देख दगा-फरेब से पैसा कमाने का वृथा प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलाने में उनका उपयोग होता है।

वास्तव में सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानवजाति का भरण-पोषण हो । भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टि से विचार करने से बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जायंगे। संभव है कि कल कारखाने खोलकर धनवान होने का मार्ग ग्रहण

करना पापकर्म मालूम हो। पैसा पैदा करने वाले बहुतेरे मिलते हैं, पर उसका यथाविधि उपयोग करने वाले कम पाये जाते हैं। जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।

लोग कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असंभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वयं जब तक नैतिक नियमों का पालन न करें तब तक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है ? हम खुद तो मनमाना आचरण करें और पड़ोसी की अनीति के कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विचार करने से हम देख सकते हैं कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दु:ख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दु:ख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धनसंपन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरेक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरण में हम देख चुके हैं कि जहां एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरे को दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इंग्लैण्ड में जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जाने पर कोई उपयोगी काम नहीं करते, अत: उनके लिए दूसरे आदमियों को परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होने के कारण काम करने वाले का इसमें लाभ नहीं होता। ऐसा होने से राष्ट्र की पूंजी चट जाती है। इसलिए ऊपर से यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगों को काम मिल रहा है, परन्तु भीतर से जांच करने पर मालूम होता है कि अनेक आदमियों को बेकार बैठना पड़ रहा है।

पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असंतोष की जड़ जमती है और अंत में मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहे में सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर में दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु की अवस्था में पहुंच जाता है।

५. सारांश

महान् रस्किन के लेखों का खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकों को नीरस मालूम होंगे, तथापि जिन्होंने इन्हें एक बार पढ़ लिया हो उनसे हम फिर पढ़ने की सिफारिश करते हैं। 'इंडियन ओपीनियन'[१] के सब पाठकों से यह आशा रखना कि वे इनपर विचार कर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय। पर यदि थेड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सार को ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किन के अंतिम परिच्छेद के अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसी में फल का समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किन ने जो बातें अपने भाइयों-अंग्रेजों के लिए लिखी हैं वे अंग्रेजों के लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारतवासियों के लिए हजार हिस्से लागू होती हैं। हिन्दुस्तान में नए विचार फैल रहे हैं। आजकल के पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकों में जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोश का अच्छा उपयोग होने से अच्छा और बुरा होने पर बुरा परिणाम होता है। एक ओर से यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओर से यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजी के साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों, नेटालमें स्वराज है, पर हम कहते हैं कि नेटाल में जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हों तो ऐसा स्वराज नरक-राज है। नेटाल वाले काफिरों को कुचलते हैं, भारतीयों के प्राण हरण करते हैं। स्वार्थ में अंधे होकर स्वार्थराज भोग रहे हैं। यदि काफिर और भारतीय नेटाल से चले जायं तो वे आपस ही में कट मरें।

तब क्या हम ट्रांसवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेंगे ? जनरल स्मट्स उसके नायकों में से एक हैं। वह अपने लिखित या जबानी दिए हुए वचनों का पालन नहीं करते। कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। अंग्रेज उनसे ऊब उठे हैं। रुपया बचाने के बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकों की लगी रोजी छीनकर उनके स्थान में डच लोगों को रखा है। हम नहीं मानते के इससे अंत में डच भी सुखी होंगे। जो लोग स्वार्थ पर

दृष्टि रखते हैं वे पराई जनता को लूटने के बाद अपनी जनता को लूटने के लिए सहज ही तैयार हो जायंगे।

संसार के समस्त भागों पर दृष्टि डालनें से हम देख सकते हैं कि जो राज स्वराज के नाम से पुकारा जाता है, वह जनता की उन्नति और सुख के लिए पर्याप्त नहीं है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानी से इस बात को देख सकते हैं। लुटेरों के दल में स्वराज हो जाने से क्या फल होगा, यह सभी जान सकते हैं। उनपर किसी ऐसे मनुष्य का अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो, तभी वे अंत में सुखी हो सकते हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड सभी बड़े-बड़े राज्य हैं, पर यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि वे सचमुच सुखी हैं।

स्वराज का वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीतिका पालन करता है, दूसरों को धोखा नहीं देता, माता-पिता, स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर, पड़ौसी सबके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देश में हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक हो उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासन करना साधारणतः बुरा कहा जा सकता है। अंग्रेजों का हमपर राज करना एक उल्टी बात है, परन्तु यदि अंग्रेज भारत से कूच कर जायं तो मानना चाहिए कि भारतीयों ने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हमपर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हम ही हैं। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जायं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारत से चले जायंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराज को भोग सकते हैं।

बमबाजी से बहुत से लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझी की निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारने वाले ही भारत के मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजों का नाश करने वाले बम अंग्रेजों के चले जानेपर भारतीयों पर बरसेंगे। फ्रांस के प्रजातंत्र के अध्यक्ष--राष्ट्रपति--को मारने वाला फ्रेंच ही था। अमरीका के राष्ट्रपति क्लीवलैंड को मारने

वाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रों का अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पापकर्म से-अंग्रेजों को मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमें कारखाने खोलने से भी स्वराज नहीं मिलने का। रस्किन ने इस बात को पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णसंकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारत की कदापि न हो। यूरोप के राष्ट्र एक-दूसरे पर घात लगाए बैठे हैं। केवल अपनी तैयारी में लगे होनेके ही कारण सब शांत हैं। किसी समय जब जोरोंकी आग लगेगी तब यूरोप में नरक ही दिखाई देगा। यूरोप का प्रत्येक राज्य काले आदमियों को अपना भक्ष्य मान बैठा है जहां केवल धन का ही लोभ है वहां कुछ और हो ही कैसे सकता है ? उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पढ़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांसपर टूटते हैं। इस प्रकार सब उनके कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण है।

अंत में भारत को स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियों की पुकार है और यह उचित ही है; परन्तु स्वराज हमें नीति-मार्गसे प्राप्त करना है। वह नामका नहीं, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायों से नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्ते से होना चाहिए; भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारतवासी स्वर्णरूप-से थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गए हैं, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुन: सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्गुणों द्वारा स्वर्णरूप बनना है । हमें स्वर्ण बनाने वाला पारसमणि दो अक्षरों में अंतर्निहित है और वह है 'सत्य' । इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज मिल जायगा।

---

१. इस नामका गुजराती-अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजीने दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय डरबन से निकाला था। अब भी निकल रहा है।

मंगल प्रभात

(व्रत-विचार)

मंगल प्रभात

१. सत्य

प्रात: काल की प्रार्थना के बाद

२२-७-३०

हमारी संस्था का मूल ही 'सत्य' का आग्रह है, इसलिए पहले सत्य को ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्तिसत्य अर्थात् अस्तित्व । सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्य के साथ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान-अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है और शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छवास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणत: सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है इस सत्य को संपूर्णत: समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आए हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँ से सकता है ? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना

सीख जायँ तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं ? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान ने दिया है--अभ्यास और वैराग्य से। सत्य की ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायेंगें कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है| इसमें घबराने की बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जाने पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अत: जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट - सहन की बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अत: उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती। ऐसी नि:स्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंत पर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है। पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुंचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते-- सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो ? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हो।

२. अहिंसा

मंगल-प्रभात

२९-७-३०

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नज़र रखकर चल सकता है, सत्य और अंहिसा की डोर उससे भी पतली है। ज़रा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असंम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अत: अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसी से अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने वाले संकटों को सहे यह उनके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे दंड दिया उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई ; पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अत: हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं ; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है इससे तो कायरता पैदा होती है। अत: हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है इसमें उत्तरोत्तर दु:ख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय

तो अन्त में चोर साहुकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-आशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अन्दर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वो जगत के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें ? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी । यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन | फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अंहिसा के बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा ? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिंता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आयें बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए-- सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

३. ब्रह्मचर्य

मंगल-प्रभात

५.८.३०

हमारे व्रतों में तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है, वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुश्य ने सत्य को वरा है उसी की उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकार की आराधना की तो बात ही कहां उठ सकती है ? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह संतानोत्पति के काम में या घर-गृहस्थी चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है ? भोगविलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आज तक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसा के पालने को लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम । जहां पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरे के लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नी-व्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्त्र होने को तैयार होगा। अत: यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेय होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसार में देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाले से विवाह नहीं बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं रख सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है--विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना। इस दिशा में इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ों से वे मुक्त हो जाते हैं। संसार भर

की सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं-यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचे ले जानेवाला, बंधन में से मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं विकाररूपी मैल निकालने से प्रेम भी बढ़ता है। विकारों के जाने से एक-दूसरे की सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचार के समझ लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। उसका विषय-भोग में उपयोग करना, यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म तीनों से होना चाहिए। व्रतमात्र के विषय में यही बात समझनी चाहिए। हम गीता में पढ़ते हैं कि जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने में हानि ही है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरुरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अंत में जीत ही है । हमारा प्रतिफल का यह अनुभव है कि शरीर काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तो तुरंत ही वंश में करने का हम सत्त प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्यपालन कर लिया। हमारे, मन के अधीन होते ही, शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर जहाँ तक मनोविकार को दबाते ही रहते हैं वहाँ तक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य को संकुचित अर्थ में लिया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निरोधभर को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयाल में यह व्याख्या अधुरी और गलत है। विषयमात्र

का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारने वाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करने वाले के लिए इंद्रियमात्र का, उनके विकारों से रोकने का, निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डालें तो जननेंद्रिय को वंश में रखने का प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसलिए व्रतों में उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की--सत्य की--शोध में चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रियसंयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रियसंयमरूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

४. अस्वाद

मंगल-प्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्य के साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखनेवाला है। मेरे अनुभव के अनुसार इसे व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है । साधारणतया इसे व्रतों में पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला; पर यह केवल मेरा अनुमान मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूप से विचार कर लेना उचित है।

अस्वाद का अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने में हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाण में ही सेवन करते हैं, वही बात अन्न के विषय में समझनी चाहिए। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाण में खाने से हानि होती हैं, वही बात अन्न के बारे में है। इसलिए किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तु का अधिक परिमाण में लेना तो अनायास व्रत का भंग हो गया | इससे यह समझ में आ सकता है कि किसी चीज का स्वाद बढ़ाने या बदलने के लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटाने को नमक मिलाना यह व्रत-भंग है। पर अमुक परिमाण में नमक की जरूरत है, यह हम जानते हों और इस वजह से उसमें नमक मिलावें तो इससे व्रत-भंग नहीं है। शरीर पोषण के लिए आवश्यकता न होने पर भी मन को ठगने के लिए आवश्यकता का आरोप करके किसी चीज का बढ़ा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम पायेंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक न होने के कारण त्याज्य-श्रेणी में हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओं का अनायास त्याग हो जाने से उस मनुष्य के विकारमात्र शांत हो जायंगे। “एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है,” “पेट तरह-तरह के नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है,” इन सब वचनों में बड़ा अर्थ समाया हुआ है।

इस विषय पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से आहार का चुनाव प्राय: आशक्य हो गया है। बचपन से ही माँ-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकार के स्वाद करा-कराकर शरीर को बिगाड़ देते हैं और जीभ को कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी देखने में आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पद पर अनुभव करते हैं। फजूल-खर्चियों में पड़ते हैं, वैद्य-डाक्टरों की खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इंद्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बनकर अपंग की भाँति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि संसार में मैने एक भी निरोगी पुरुष नहीं देखा। जरा भी स्वाद के फेर में पड़ने से शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारा से किसी को घबराने की जरूरत नहीं है। अस्वाद-व्रत की भयंकरता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेने का अर्थ यह नहीं होता कि हम समय से उसका पूर्णछप से पालन करने लग गए। व्रत लेने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्म से, जीवन पर्यन्त करना। किसी व्रत के कठिन होने के कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मन को धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है--पुरुषार्थ है। पुरुष शब्द का अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुर में अर्थात शरीर में जो रहें वह पुरुष । यह अर्थ लेने से पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हो सकता है। जो तीनों काल में सम्पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है उसे इस जगत में कुछ भी करने को नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्य का आग्रह रखनेवाले, उसकी खोज करने वाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में, धीरे-धीरे, किन्तु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसाद के योग्य हो जायंगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायंगे।

अस्वाद व्रत का महत्व समझ लेने पर हमें उसके पालन के लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों धंटे खाने के बारे में ही सोचते रहने की जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानी की, जागृति की पूरी आवश्यकता रहती है ऐसा करने से थोड़े ही समय में हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वाद के फेर में

पड़ते हैं और कब शरीर-पोषण के लिए खाते हैं। वह मालूम हो जाने पर हमें दृढ़तापूर्वक स्वाद को घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर अस्वाद-वृत्ति से बनानेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहां हमें रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायंगे, क्या खायंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो? उसे ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हल्का कर देते हैं, हमारे व्रत के रक्षक बनते हैं। स्वाद करने की दृष्टि से उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाज के शरीर का पोषण करने के लिए रसोई बनायें | वास्तव में तो आदर्श स्थिति में अग्नि की आवश्यकता कम-से-कम या बिल्कुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाअग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्हींमें से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्यों को केवल फलाहारी होना चाहिए, परन्तु यहां इतनी गहराई में उतरने की जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन-सी कठिनाइयां हैं, या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य-पालन के साथ कितना अधिक निकट संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रत के पालन का शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

५. अस्तेय

मंगल-प्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेय व्रत पर आते हैं। गम्भीरता से विचारने पर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्य के गर्भ में स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं :

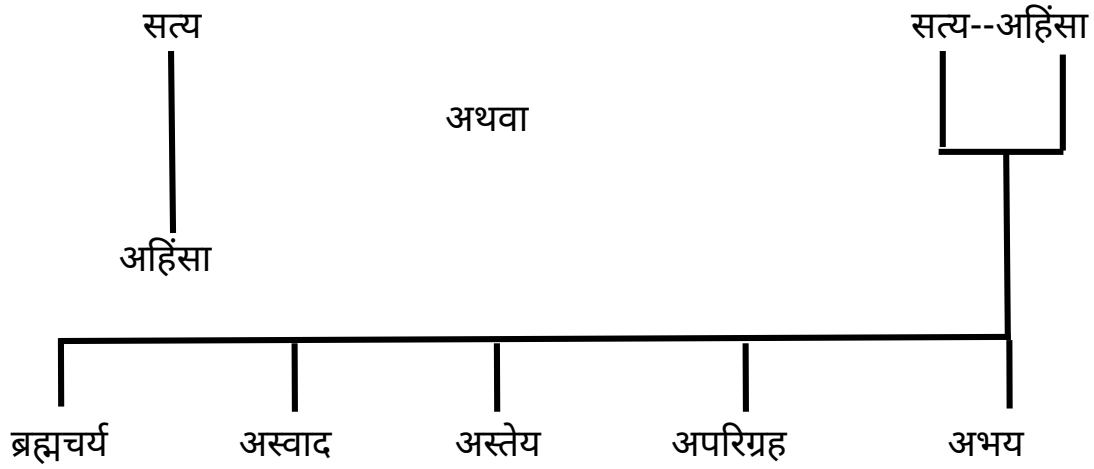

इत्यादि। चाहें तो हम इस क्रम को बढ़ा सकते हैं।

सत्य में से अहिंसा की उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसा का जोड़ा मान सकते हैं। दोनों वस्तुएं एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहले की ओर झुकता है। अंतिम स्थिति जोड़े से--द्वंद्व से-अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसा को हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है। सत्य का तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्णरूप से उसका जानना देही के लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देही के लिए अहिंसा का पूर्ण पालन।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोर का सत्य को जानना या प्रेम-धर्म का पालन संभव नहीं है तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरी का दोष जाने- अनजाने करते हैं। दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीज की भी चोरी करता है--जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाये बिना, उनसे छिपाने की नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रम का भंड़ार हम सभी का कहलायेगा; पर उसमें से चुपके से गुड़ की एक डली भी खानेवाला चोर है।

दूसरे लड़के की कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। पडुआ (राह में पड़ी चीज) के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेश का राज्य या वहां की सरकार है। आश्रम के नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम के मंत्री को सौंपनी चाहिए। आश्रम की न होने पर मंत्री उसे पुलिस के हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में ज्यादा-से-ज्यादा खाने की चीजों के संबंध में होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरत से ज़्यादा खाता हूं तो यह चोरी है। वस्तुत: अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्राय: हम सब, अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते हैं। अस्तेय-व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इसमें सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना या उसपर झूठी नज़र डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नहीं खाता पर दूसरों को खाते देख कर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मन से उपवास के बदले भोजन के मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवास का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालनकर्त्ता भविष्य में मिलनेवाली चीजों के चक्कर में नहीं पड़ता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है, कल उसे पाने को हम भले-बुरे तरीके काम में लाते हैं।

वस्तु की भांति ही विचारों की चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी करना है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की और आज भी कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्र में नए ढंग का एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रम में बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा आविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से दूसरे के अकविष्कारकी चोरी करता हूं और इसमें असत्य का आसरा तो लेता ही हूं। अत: अस्तेयव्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

६. अपरिग्रह

मंगल-प्रभात

२६-८-३०

अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए। वास्तव में चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अत: यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है। रोज के कामभर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अत: जगत में विषमता और उससे होनेवाले दु:ख भोगते हैं। धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभर को ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभर को ही पाकर सन्तोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगाल को पेटभर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अत: उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के कामभर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहांतक कि वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थिति को तो बिरले ही पहुंच सकते हैं। हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओं को तो चाहिए कि आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जांच करते रहें और जहांतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधार का; सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टि से विचारने और बरतने

पर हमें मालूम होगा कि आश्रम में हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते हैं कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पड़ोसी को चोरी करने के लालच में फंसाते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यंत क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकती है ? यह पिंजड़ा बनाये रखने को अनर्थ कैसे कर सकता है ? दूसरे को कैसे मार सकता है ? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर की स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहांतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊंधना सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अन्त में सत्य की झांकी करेगा। इस दृष्टि से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओं की भांति विचार का भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हों अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रह के अन्दर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवान की तेरहवें अध्याय में दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमें ख्याल में लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही--तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञान के नाम से संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंत में खाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्य की ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहां तो सारासार का विवेक सीखने की बात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

७. अभय

मंगल-प्रभात

२-९-३०

सोलहवें अध्याय में दैवी संपद् का वर्णन करते हुए भगवान ने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवाद में मैं नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोक की संगति के सुविधार्थ या अभय को प्रथम स्थान देने के औचित्य की दृष्टि से है। न यह निर्णय करने की मुझमें योग्यता है। मेरी समझ में अभय को अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभय के बिना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं | अभय के बिना सत्य की खोज कैसे हो सकती है ? अभय के बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है, वहां कायर का काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक । वीर के मानी हैं भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरता का चिन्ह नहीं; बल्कि भीरूता की निशानी है।

भय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति-मौत का भय, धन-दौलते लूट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग भय, शस्त्र-प्रहार का भय। प्रतिष्ठा का भय, किसी का बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई जा सकती है। साधारणत: कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भय को जीत लिया तो सब भयों को जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकार के दु:खों से भागते हैं। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे-सबंधियों का वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवा नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने को तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसार की निन्दा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने में हिचकिचायेगा। सत्य की खोज करनेवाला तो समस्त भयों को तिलांजलि दिये बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चन्द्र की भांति मिट जाने की तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चन्द्र की कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्र का यह अनुभव है। अत: उस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा से अनंत गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा माननीय है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थित की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से, सतत प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भ में ही कहा है कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण है। देहविषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां ? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'-यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं है; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसीका हूं: 'मेरी' कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ? इसलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने भर की ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहज में भयमात्र को जीत लें, सहज में शांति पा जायं, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर लें।

८. अस्पृश्यता-निवारण

मंगल-प्रभात

९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रत की भांति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है; पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआ-छूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं; पर अछूत नहीं है, वैसे मृतक (लाश)भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मुर्दे को छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवाने के बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है मुर्दे को छूकर या तेल लगाकर न नहानेवाले को गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चे का मैला उठाने पर माता जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कार-सूचक हो गये हैं और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मानों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत में स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता-छुआछूत हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अत: उसे पाप माननेवालों को चाहिए कि उसका प्रायश्चित करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित रूप से भी धर्म समझकर हिन्दू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहन को अपनावे, प्रेमपूर्वक सेवाभाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें । अछूत के दुख: दूर करें। कुचले जाने के कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषों को धैर्यपूर्वक दूर करने में उन्हे सहायता दें और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता को इस दृष्टि से देखते हुए उसे दूर करने में होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामों को व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों,

तथापि अस्पृश्यता-निवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालों को अपनायेगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक फल का विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारी के लिए कोई युक्ति नहीं है। वह तो उसके शरीर से लगी हुई वस्तु है; उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता की बुराई समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी चमार कहलानेवाले लोगों तक ही सीमित रही हो सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने के बराबर लगती है, फिर पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अंत में जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछत के सम्बंध में भी हैं। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य सम्प्रदायों के प्रति आई है, एक ही सम्प्रदायवालों के बीच भी घुस गई है, और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। वे अपने-आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपने को पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी, चमार को अपनाकर ही संतोष न मानेगा, वह जीवमात्र को अपने में न देखने तक और अपने को जीवमात्र में न होने तक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अंहियस का जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम | अस्पृश्यता-निवारण का यही अर्थ है । जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण हैं। अस्पृश्यता को यों देखने पर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशों में संसार-भर में फैला हुआ है; पर यहां हमने, उसका हिन्दूधर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है, क्योंकि हिन्दूधर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

९. कायिक श्रम

मंगल-प्रभात

१६-९-३०

कायिक श्रम के मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसीके खाना डाल देने पर खाय तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर । तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। और संसार के अरबो नब्बे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शांति और कितना अरोग्य फैले ! यदि खेतों के साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं । इसके सिवा यदि कायिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चता की गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गई हैं। मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक

हो गया है और गरीब अमीर से इर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत: केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तव में देखा जाय तो, खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवाले ने हमपर उपकार तो नहीं ही किया हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रुप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने । बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो जो बूढ़े, अपंग न होंगे और रोग के होने की बात ही कया है ?

१०. सर्वधर्म-समभाव-१

मंगल-प्रभात

२३-९-३०

हमारे व्रतों में सहिष्णुता के नाम से परिचित व्रत को यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसंद था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काका साहब को भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जंचा। दूसरे धर्मों को सहने की भावना में उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अंहिसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म का अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करतें है। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नही है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसी को ऊंच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ मनुष्य लगाता है। किस का अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे

हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविशयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हेसारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं | धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराल मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभी में सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में, और धर्मियों--मनुष्य के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें, कुछ अन्तर है। मनुष्यमात्र--दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है ? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

११. सर्वधर्म-समभाव-२

मंगल-प्रभात

३०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहां और विस्तार से लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहां की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्राय: उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजी नुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम-सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लास में बोल उठे, "'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गाने वालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानों वह बिलकुल स्वाभाविक हो । और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वह न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्व. दाऊद सेठ का पुत्र हुसैन तो आश्रम में बहुत बार रहता। वह प्रार्थना में उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चंद रोज' गाया करता और वह भजन हम-सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थना में गाया जाता था। हमारे यहां की आश्रम-भजनावली में उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेन की स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परता से सत्य का आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रम में अकसर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थान पर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफ के आनन्द का पारावार न रहा। आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मपुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू, इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष भर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में सामभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा; परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-

टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन् उनके ग्रन्थों को धर्म-ग्रन्थ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दु-धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभव से देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह मानने की जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं, वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने आप सुलझ जाती हैं। और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसाने में भा नम्रता और विवेक होने के कारण किसी को दु:ख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेख में मैंने कहा है कि धर्म-धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है । यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की श्रृंखला नहीं टूट जाती ? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे । परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखाएगा। या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अन्त में विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी। दूसरे को, भूल के लिए भी, हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियम का पालन करनेवाला सभी संकटों में से बच जाता है।

१२. नम्रता

मंगल-प्रभात

७-१०-३०

इसका व्रतों में पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसा का यह अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत है; परन्तु नम्रता अभ्यास से प्राप्त नही होती है, वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले-पहल बनी तब मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान देने की सूचना की थी और तब भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं है तथापि वह व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है। आवश्यक तो है ही; परन्तु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्य का अभ्यास किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बंध में, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दम्भ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक-दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके सम्बंध में तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि सरीखा बनकर समाज में बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं । स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विष रूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का आत्यंतिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात्

'कुछ नहीं' हो जायं, तो हम सब-कुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से--परमात्मा से--सत्य से--पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिश्योक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता-शून्यता-अभ्यास से कैसे आ सकती है ? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अंहकारी कैसे हो सकता है ? दूसरे के लिए प्राण न्यौछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्यौछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी ? हिन्दू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्य को, पाखंड को स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परंतु वह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया-हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्र में रहने वाले बिंदु के लिए अराम कहां ? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बंध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया; आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महाअशांति में शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवनमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखता है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभवगम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करने के उद्देश्य से ही हम लोग आश्रम में एकत्र हुए हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियां यह अनुभव करने के लिए ही हैं । यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीको खोजने जाने से वह प्राप्त नहीं है।

१३. स्वदेशी

प्रवचनों में 'स्वदेशी' पर लिखने का विचारत्याग ही दूंगा; क्योंकि इससे, मैंने राजनैतिक विषयों को न छेड़ने का जो संकल्प किया है उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशी पर केवल धार्मिक दृष्टि से लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयों से परोक्ष सम्बन्ध है।

१४. स्वदेशी व्रत

स्वदेशीव्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा, उसके पालने के लिए व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। जो स्वभावत: निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जाने और पालनेवाला देह का भी त्याग करता है

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकतें हैं कि अपने पास रहनेवालों की सेवा में ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है | यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्रामवासियों को मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड कर चला ही था। यों हर तरह से उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसी से, 'स्वधर्म निधन श्रेय: परधर्मो भयावह:' वाक्य की उत्पति हुई है । इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी' पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी को समझ न पाने से ही गड़बड़ी होती है। कुटुंब पर मोह रख कर मैं उसे पोसुं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालने से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए । पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभिमान है, अत: वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुंब का बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंब की सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंब को खोकर कुटुंब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गांव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊं और इस रोग में फंस कर मौत के मुंह में चले जायें तो मैंने कूटुंब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचारधारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालने की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालने से भी हिंदुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे तलवार को या अफीम के दुकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कात कर, खादी पहन-पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी

धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं । स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो । इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुंदर धर्म है

१५. व्रत की आवश्यकता

मंगल-प्रभात

१४-१०-३०

व्रत के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं जहां-तहां इस लेख में लिख गया होऊंगा; परन्तु व्रत जीवन के गठन के लिए कितने आवश्यक हैं, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतों के संबंध में लिख चुकने के बाद अब उन व्रतों की आवश्यकता पर विचार करेंगे।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उनके सम्बन्ध में व्रत लेने की आवश्यकता नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेने के बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्या है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरण के लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ ? दवा की भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत, यह तो गले में फंदा डालने के समान है। और जो बात शसब के बारे में है वही बात दूसरी चीजों के बारे में है। झूठ भी भलाई के लिए क्यों न बोला जाय ?' मुझे इन दलीलों में तत्त्व नहीं दिखाई देता। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिए ही तो व्रत की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता । वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तु के लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंध में व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टांत में तो पाप का आभासमात्र संभव है। सत्य कहने से किसी की हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्य से इस संसार में किसी की हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्य-पान के विषय में भी यही बात है। या तो इस व्रत में दवा के लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रत के पीछे शरीर के

लिए जोखिम उठाने का भी निश्चय रहना चाहिए। दवा के तौरपर भी शराब न पीने से शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीने से शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारण से न रहा तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी ? इसके विपरीत शरीर-रक्षा के लिए भी शराब न पीने के दृष्टांत का चमत्कारिक प्रभाव शराब की लत में फंसे हुए लोगों पर पड़े तो संसार का कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्म का पालन करना ही है-ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर की झांकी कर सकते हैं । व्रत लेना निर्बलता का सूचक नहीं, वरन् बल का सूचक है। अमुक बात का करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नाम से पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परन्तु 'जहां तक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमान का परिचय देता है भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे । इसमें नम्रता की गंध तक नहीं है। मैंने अपने और बहुतों के जीवन में देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा," वहां जक करने के मानी हैं पहले ही अड़चन के सामने गिर पड़ना। 'सत्य का पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा', इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यथासंभव अमुक तारीख को अमुक रकम चुका दी जायंगी इस तरह की चिट्ठी, चेक या हुंडी के रूप में स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहांतक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करनेवाले की हुंडी भगवान ही दुकान में नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वंय निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्त्ति है। उसके नियमों से एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सुर्य महाव्रतधारी है, उससे संसार का काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचांगों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। व्यापार मात्र एक-दुसरे के प्रति वायदे से बंधे न हों हो तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन करने का प्रश्न हो, वहां व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है ? इसलिए व्रत की आवश्यकता विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियों से

आश्रम-विषयक जीवन-संबंधी नीति-नियम

निवेदन

गांधीजी के और हमारे राष्ट्रीय जीवन के अपूर्व अवसर पर उनके पत्रों का यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ये पत्र आश्रमवासियों को ही संबोधित किये गए हैं, तथापि जो अपने को आश्रमवासी मानते हैं या आश्रमजीवन का सद्भाव से अभ्यास करते हैं उनको भी ये बोधप्रद होंगे, इस मान्यता से यह पत्र-संग्रह प्रकाशित किया गया है।

गत वर्ष के जेलवास के समान इस बार भी गांधीजी ने आश्रमवासियों के नाम साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजने का नियम जारी रखा। उसके अनुसार आजतक जितने प्रवचन आ गये हैं, उनका यह संग्रह है।

पिछले वर्ष उन्होंने एक विषय का ही लगातार सिलसिलेवार विवेचन किया था। इसके परिणामस्वरूप 'व्रतविचार' या 'मंगलप्रभात' और 'गीताबोध' के १० अध्याय तैयार हो गये थे। इस बार शुरू में उन्होंने 'गीता बोध' के बाकी के अध्यायों को पूरा किया। इसके बाद किसी एक विषय पर सिलसिलेवार पत्र लिखने के बजाय आश्रम-जीवन विषयक छुटपुट विचारों को एक दूसरी तरह लिख भेजते रहे। इस प्रकार से अलग-अलग दिखाई देने पर भी इन प्रवचनों में एक ही विषय पर अनेक पहलुओं से चर्चा की गई है। विलक्षण वाचक को इनमें यह मालूम हुए बिना नहीं रहेगा।

हरिजनोद्धार के लिए की गई अनशनव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा के आरम्भ के समय तक के प्रवचनों का इस संग्रह में समावेश हुआ है।

चरखा द्वादशी सं० १९८८

सत्याग्रहाश्रम — नाराणदास खु. गांधी

साबरमती — मंत्री, उद्योग मंदिर

अहिंसा प्रतिक्षण काम करने वाली प्रचंड शक्ति है । उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है । जो कौड़ी की फिक्र करेगा, उसकी कौड़ी सलामत ही है, पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की, उसने कौड़ी भी खोई, और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं ।

आश्रमवासियों से

१. मृत्युमित्र

यरवदा-मन्दिर

२९-२-३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेंस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नये, पर नीतिवर्धक विचार राजशक्तिधारियों को न रुचे। इससे उसे मौत की सजा मिली। उस जमाने में उस देश में विषपान करके मर जाने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिस को मीराबाई की तरह जहर का प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिस ने जो अन्तिम वचन कहे उसके सार पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिस को हम सुकरात कहते हैं, अरब भी इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं । भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता । फिर मैं तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसी की भी मौत अचानक नहीं आती । मृत्युदंड़ मेरे लिए सजा नहीं है । मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे जहर का प्याला दिया है । इसी में मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देने वालों के प्रति मेरे मन में क्रोध नहीं है । उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके ।

"महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है : मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जायं और धन के लोभी हो जायं तो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें । वे दंभी हो जायं, जैसे न हों । वैसे दिखाने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें । आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया ।"

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह मांग अद्भुत है । जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था । वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था । इससे सुकरात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की अपनी संतान को चेताया और उससे क्या आशा रखी थी यह बताया । महाजनों को मीठी

फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमनसी के लिए सजा दी थी । सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया, वह उसके लड़कों के लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो वे दंड के योग्य समझे जाय।

२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार

यरवदा-मंदिर

२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकार का लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहान्त १८८०[१] के आसपास हुआ। अधिकांश आश्रमवासियों को यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तक का मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवन में महत्त्व का परिवर्तन एक क्षण में कर डाला । सन् १८७१ में उसने केवल श्रमिक वर्ग को सामने रखकर मासिक रूप में पत्र या लेखमाला लिखना आरंभ किया था। इन पत्रों की प्रशंसा मैंने टाल्स्टाय के किसी निबन्ध में पढ़ी; पर अबतक मैं उसके अंकों को प्राप्त न कर सका था। रस्किन की प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य के विषय पर एक पुस्तक मेरे हाथ आई थी, वह मैंने यहां पढ़ी । इसमें भी इन पत्रों का उल्लेख हुआ है। उसे देखकर मैंने विलायत में रस्किन की एक शिष्या को लिखा। वही उक्त पुस्तक की लेखिका है। वह बेचारी गरीब ठहरी। अत: ये पुस्तकें कहां से भेजती ? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रम से पैसे मंगा लेना। उस भली महिला ने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्र के पास भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' पत्र के संपादक थे। उनसे मैं विलायत में मिल भी चुका था। रस्किन के उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खंडों में प्रकाशित हुए हैं। वह उन्होंने भेज दिये। उनमें का पहला भाग मैं पढ़ रहा हूं। उसके विचार उत्तम हैं और हमारे बहुत-से विचारों से मिलते हैं। यह मेल इतना है कि अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रम में जो कुछ हम आचरण करतें हैं वह सब रस्किन के इन निबन्धों से चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्द का अर्थ तो समझ में आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पास से लिया गया हो उसका नाम छिपाकर अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किन ने बहुत लिखा है। उसमें से थोड़ा ही इस वक्त देना चाहता हूं। रस्किन का कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिल्कुल अक्षरज्ञान न होने से कुछ भी होना अच्छा है, उसमें गंभीर भूल है । उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्मा की पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनन्तर उसने कहा है कि इसी जगत् में मनुष्यमात्र को तीन पदार्थों और तीन

गुणों की आवश्यकता है। जो इन्हें पनपाना नहीं जानता वह जीने का मंत्र ही नहीं जानता। अत: ये छ: चीजें ही शिक्षा की नींवरूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्र को बचपन से--वह लड़का हो या लड़की--यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी किसे कहना चाहिए, उन्हें किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणों में उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेम को गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणों की कदर नहीं है, जो सुन्दर वस्तु को पहचान नहीं सकता, वह अपने घमंड में भटकता है और आत्मानंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नहीं है, अर्थात जो ईश्वरीय न्याय के विषय में शंकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुलित नहीं रह सकता, और जिसमें प्रेम नहीं यानि अहिंसा नहीं, जो जीवमात्र को अपना कुटुम्बी नहीं मान सकता, वह जीने का मंत्र कभी साध नहीं सकता।

इस विषय पर रस्किन ने अपनी चमत्कारभरी भाषा में बहुत विस्तार से लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाज के समझने लायक रूप में लिख सकूं तो अच्छा ही है। आज तो इतने से ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही यह कह देना चाहता हूं कि जिन बातों को हम अपने गंवारू शब्दों में सोचते आये हैं और जिन्हें आचार में उतारने का यत्न कर रहे हैं लगभग उन्हीं सबको रस्किन ने अपनी प्रौढ़ और सुसंकृत भाषा में, अंग्रेजी-भाषी जनता समझ सके इस रीति से, प्रकट किया है। यहां मैंने तुलना दो भिन्न भाषाओं की नहीं की है, बल्कि दो भाषाशास्त्रियों की की है। रस्किन के भाषाशास्त्र के ज्ञान का मुकाबला मुझ-जैसा आदमी नहीं कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयेगा जबकि मातृभाषा का प्रेम बढ़ेगा, उस समय भाषा के पीछे मेहनत करनेवाले विद्वान रस्किन की प्रभावशाली अंग्रेजी जैसा जोरदार गुजराती लिख सकेंगे।

---

१. जान रस्किन का जन्म १८९९ ई० में और मृत्यु १९०० ई. में हुई!

३. आकाश-दर्शन-१

यरवदा-मन्दिर

११-४-३२

सत्य के पुजारी का रस अनन्त होता है। सत्यनारायण की झांकी के लिए वह अपने-आपको कभी बूढ़ा नहीं मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वर के ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्य को ही देखता है, उसके लिए बुढ़ापा विघ्नरूप नहीं होता। सत्यार्थी अपने ध्येय को ढूंढने के लिए अमर है, अजर है।

यह सुन्दर स्थिति मैं तो बरसों से भोग रहा हूँ। जिस ज्ञान से जान पड़े कि मैं सत्यदेव के अधिक पास पहुंच रहा हूं, उसके पीछे जाने में बुढ़ापा मुझे बाधक नहीं हुआ। इसकी ताजा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाश का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो अन्तर में अनेक बार उपजी, पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगने की इजाजत न देंगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन '२२ के कारावास में भाई शंकरलाल को प्रेरणा करनेवाला बहुत करके मैं ही था। उस विषय की पुस्तकें मगाई गईं। भाई शंकरलाल ने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितने से उन्हें संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन ३०-३१ में काकासाहब का सत्संग मिला। उन्हें इस विषय का अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१ में कारावास के आखिरी महीने में यकायक शौक जगा। बाह्य दृष्टि से जहां सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मैं क्यों न करूं? पशु की तरह आंखें महज देखा करें, पर जिसे देखें वह विशाल दृश्य ज्ञानतन्तु तक न पहुंचे, यह कैसा दयनीय है? ईश्वर की महान् लीला के निखरने का यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता? यों आकाश को पहचान लेने की जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हूं और यहांतक आया हूं कि आश्रमवासियों को मेरे मन में उठनेवाली तरंगों में साझी बनाये बिना अब नहीं रहा जाता।

हमें बचपन से यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नाम के पंचमहाभूत का बना हुआ है। इन सभी के विषय में हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी

इन तत्वों के विषय में हमें बहुत थोड़ी जानकारी है। इस समय तो हमें आकाश के विषय में ही विचार करना है।

आकाश के मानी हैं अवकाश-खाली जगह। हमारे शरीर में अवकाश न हो तो हम क्षणभर भी न जी सकें। जो बात शरीर के विषय में है वही जगत् के विषय में भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनन्त आकाश से घिरी हुई है, हम अपने चारों ओर जो आसमानी रंग की चीज देखते हैं वह आकाश है। पृथ्वी के छोर-सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लम्बी है, पर आकाश पीला है। उसकी धुरी माने तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनन्त आकाश में पृथ्वी एक रजकण के समान है और उस रजकण पर हम तो रजकण के भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। इस प्रकार शरीर-रूप से हम शून्य हैं, यह कहने में तनिक भी अतिश्योक्ति या अल्पोक्ति नहीं। हमारे शरीर के साथ तुलना करते हुए चींटी का शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वी के साथ तुलना करने में हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है, तब उसका मोह क्यों हो? वह छूट जाय तो शोक क्यों करें?

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीर की भारी कीमत है, क्योंकि वह आत्मा का और हम समझें तो परमात्मा का - सत्यनारायण का - निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिल में बसे तो हम शरीर को विकार का भाजन बनाना भूल जायं: पर अगर हम आकाश के साथ ओतप्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छता को समझ लें तो हमारा सारा घमंड चूर हो जाय। आकाश में जिन असंख्य दिव्य गणों के दर्शन होते हैं वे न हों तो हम भी न हों। खगोल वेत्ताओं ने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाश विषयक ज्ञान नहीं के बराबर है। जितना है वह हमें स्पष्ट रीति से बताता है कि आकाश में सूर्यनारायण एक दिन के लिए भी अतंद्रित तमश्यचर्या बंद कर दें तो हमारा नाश हो जाय । वैसे ही चंद्र अपनी शीत किरणें लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमान से हम कह सकते हैं कि रात्रि के आकाश में जो असंख्य तारागण हमें दिखाई देते हैं उन सबका इस जगत् को बनाये रखने में स्थान है। इस प्रकार इस विश्व में संपूर्ण प्राणियों के साथ, संपूर्ण दृश्यों के साथ हमारा बहुत घना संबंध है और हम एक-दूसरे के सहारे टिक रहे हैं। अत: हमें अपने आश्रयदाता आकाश में विचरनेवाले दिव्य गणों का थोड़ा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचय का एक विशेष कारण भी है। हमारे यहां कहावत है-"दूर के ढोल सुहावने। " इसमें बहुत सचाई है। जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्य के पास जाकर हम बैठें तो उसी क्षण भस्म हो जायं। यही बात आकाश में बसनेवाले दूसरे गणों की भी है। अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओं के गुण-दोष हम जानते हैं, इससे कभी-कभी हमें उनसे विरक्ति होती है, दोषों के स्पर्श से हम दूषित भी होते हैं, आकाश के देवगण के हम गुण ही जानते हैं, उनको निहारते हम थकते ही नहीं, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नहीं सकता और इन देवों का ध्यान करते हुए हम अपनी कल्पनाशक्ति को नीतिपोषक विचारों से जितनी दूर ले जाना हो उतनी दूर ले जा सकते हैं।

इसमें तो शंका ही नहीं कि आकाश के और अपने बीच हम जितना पर्दा खड़ा करते हैं उतने ही अंश में अपनी देह, मन और आत्मा की हानि पहुंचाते हैं, हम स्वाभाविक रीति से रहते हों तो चौबीसों घंटे आसमान के नीचे ही रहें | यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हों उतने समय रहें | आकाश-दर्शन अर्थात् अर्थात् तारादर्शन तो रात में ही हो सकता है और सबसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है। अत: जो इस दर्शन का पूरा लाभ उठाना चाहें उसे तो सीधे आकाश के नीचे ही सोना चाहिए। आसमान ऊंचे मकान या पेड़ हों तो वे इस दर्शन में विघ्न डालते हैं।

बच्चों को और बड़ों को भी नाटक और उनमें दिखाये जानेवाले दृश्य बहुत रुचते हैं; पर जिस नाटक की योजना प्रकृति ने हमारे लिए आकाश में की है उसको मनुष्यकृत एक भी नाटक नहीं पा सकता। फिर नाटकशाला में आंखें बिगड़ती हैं, फेफड़ों में गंदी हवा जाती है, और आचरण के बिगड़ने का भी बहुत डर रहता है। इस प्राकृतिक नाटक में तो लाभ-ही-लाभ है। आकाश को निहारने से आंखों को शांति मिलती है। आकाश के दर्शन के लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेंफड़ों को शुद्ध हवा मिलेगी। आकाश को निहारने से किसीका आचरण बिगड़ता आज तक नहीं सुना गया। ज्यों-ज्यों इस ईश्वरी चमत्कार का ध्यान किया जाता है त्यों-त्यों आत्मा का विकास होता है। जिसके मन में रोज रात को सपने में मलिन विचार आते हों, वह बाहर सोकर आकाश-दर्शन में लीन होने का यत्न कर देखे उसे तुरंत निर्दोष निद्रा का आनंद मिलेगा। आकाश में अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वर का मूक स्तवन कर रहे हों। हम जब इस महादर्शन में तन्मय हो जायेंगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पड़ेंगे। जिसके आंखें हों वह इस नित्य नवीन नृत्य को देखे। जिसके कान हों वह इन अगणित गंधर्वों का मूक गान सुने।

आइये, अब हम इनके बारे में कुछ जानें या मुझे जो बहुत थोड़ा मिला है, उसमें सब साथियों को साझी बनाऊं। सच पूछिये तो पृथ्वी आदि के विषय में थोड़ा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जाएगा। हो सकता है कि मैं जो लिखनेवाला हूं वह सब काकासाहब के संपर्क में आये हुए आश्रम के बालक जानते हों। ऐसा हो तो अच्छा ही है। मैं आश्रम के छोटे-बड़े, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हूं। उसमें जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिल्कुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थना के बाद तुरंत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इसमें एक बार बीस मिनट से अधिक समय देने की जरूरत नहीं। जो समझेगा वह इसे प्रार्थना का अंग मानेगा ही। बाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोड़ी ही देर में उसी ध्यान में वह सो जायगा। रात में नींद टूटे तो फिर थोड़ी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षण में उसके दर्शन बदला ही करते हैं।

आठ बजे आकाश की ओर देखिये तो पश्चिम में एक भव्य आकृति के दर्शन होंगे।

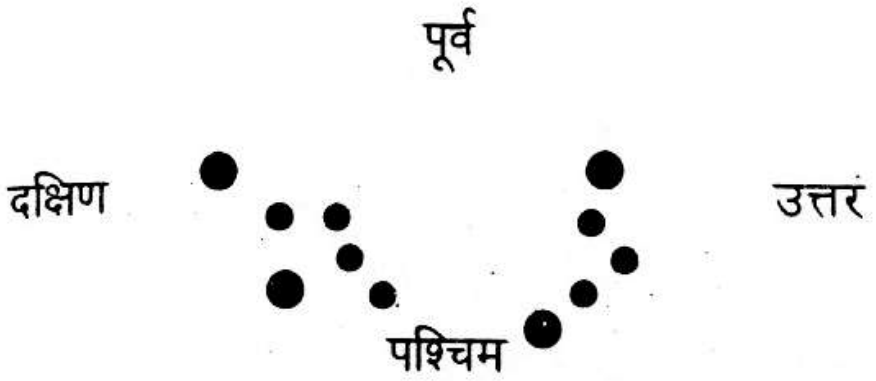

यह आकृति पश्चिम में होगी। मैं पूरब में सिर रखकर सामने देख रहा हूं। इस तरह देखनेवाला इस आकृति को भूल सकता ही नहीं। इन दिनों उजाला पाख है, इसलिए यह तारामंडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते हैं। फिर भी यह मंडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखिये को भी उसे ढूंढ़ लेने में कठिनाई नहीं होती । इसके विषय में हमारे यहां और पश्चिम में लोगों का क्या ख्याल है, यह पीछे बताऊंगा। इस वक्त तो इतना ही कहूंगा कि इस मंडल के स्थान का वर्णन वेद में देखकर लोकमान्य तिलक महाराज के काल की खोज कर सके थे। आश्रम के पुस्तक-संग्रह में स्वर्गवासी दीक्षितजी की

पुस्तक है। उसमें तो बहुत बातें बताई गई हैं। मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देना मात्र है, पीछे तो आश्रमवासियों से मैं अधिक सीख सकूंगा। मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वर के साथ संबंध जोड़ने के एक साधन हो गये हैं। आश्रमवासियों के लिए भी हों।

"जैसे (चरखे से) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरि को प्राप्त कर।"[१]

---

१. गुजराती सन्त कवि अक्खा भगत (१६१५-१९७४ ई०) की एक पंक्ति का भाग ।-अनु०

४. आकाश-दर्शन-२

यरवदा-मंदिर

१८-४-३२

पिछली बार तारा-मंडल का जो चित्र भेजा है उसके विषय में अनेक कल्पनाएं हैं। इस मंडल के चित्रों में से एक भी सम्पूर्ण नहीं होता। जितने तारे चित्र में दिखाई देते हैं उनसे कहीं अधिक उसमें होते हैं। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाये और जितने तारे खाली आंख से दिखाई दें उनके चिन्ह बना ले। इससे तारों को पहचानने की शक्ति तुरन्त बढ़ जायगी और नक्शों में जो तस्वीरें आती हैं उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खींचा हुआ चित्र बढ़िया होगा, क्योंकि अलग-अलग जगहों से देखने में थोड़ा-थोड़ा फर्क तो पड़ता ही है। हर आदमी नियत स्थान से नियत समय पर निरीक्षण करे तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नक्शे के बारे में और आरम्भ करने वाले के लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रों की पहचान कर लें तो फिर कहीं भी हों अपने इन दिव्य मित्रों या दिव्य गणों को तुरन्त पहचान लेंगे।

मद्रास के 'हिन्दू' दैनिक के साथ एक साप्ताहिक निकलता है, बम्बई के 'टाइम्स' के साथ भी निकलता है। दोनों में हर महीने दिखाई देनेवाले तारक-मंडलों के नक्शे छपा करते हैं। 'हिन्दू' में हर महीने के पहले हफ्ते में और 'टाइम्स' में दूसरे हफ्ते में निकलता है। इनमें से कोई नक्शा हाथ आ जाय तो उसमें हमें बहुत कुछ मिल जायगा। 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवां या शती अंक निकलनेवाला है, उसमें भाई हीरालाल शाह ने इस विषय पर लेख भेजा है। उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है। यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय। मैं तो इस लेख के आद इस विषय पर अधिक न लिखूंगा। मैं आकाश-दर्शन किस रीति से कर रहा हूं इसको यहां थोड़ा अधिक स्पष्ट करूंगा। इससे आगे आऊं तो इस हफ्ते में जो दूसरी चीजें लिखने को हैं वे रह जायंगी । प्रसंगवश कुछ भेज दूं तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्न पर भेजूं।

जिस नक्षत्र का चित्र मैंने दिया है, उसका नाम अपने यहां मृग या मृगशीर्ष है। उसीपर से हमारे अगहन महीने का नाम मार्गशीर्ष--मगसिर-पड़ा है। हमारे महीनों के नाम उन नक्षत्रों के नाम पर से पड़े हैं। मृग-नक्षत्र को पश्चिम में 'ओरायन' कहते हैं। यह शिकारी है। इसके पूरब में दो सीधी रेखाओं में बहुत

तेजस्वी तारे हैं। उनके शिकारी के कुत्ते होने की कल्पना की गई है। जो पश्चिम में है वह बड़ा और जो उत्तर में है वह छोटा कुत्ता है। पूरब की ओर और दक्षिण में शिकारी के चौथे कोने के तारे के नीचे जो नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया जाता है। कुत्ते उसकी ओर दौड़ते हैं। बीच में जो तीन तारे हैं वे शिकारी के कमरबन्द के तीन रत्न हैं।

ऐसी आकृतियां भी खींची गई हैं। बड़े कुत्ते को हमारे यहां लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारों को मृग का पेट कहते हैं। उसके दक्षिण में जो तारा है वह लुब्धक का छोड़ा हुआ बाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोण के बाहर के तीन तारे मृग के सिर हैं। यह सारी कल्पना खासी मनोरंजक है। उसकी उत्पत्ति के विषय में बहुत लिखा गया है । उसमें से बहुत ही थोड़ा मैं पढ़ पाया हूँ।

आकाश में ऐसी आकृति बिल्कुल नहीं है। वह हमें जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नहीं है। ये तारे तारे नहीं, बल्कि सूर्य से भी बड़े सूर्य हैं। करोड़ों मील दूर होने के कारण वे आकाश में बूंद की तरह झलकते हैं। इन सूर्यों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है, पर अपढ़-से-अपढ़ के लिए भी ये तारागण मित्र के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। क्षण भर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरन्त देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दुःख-दर्द भूल जाय और भगवान की महिमा गाने लगे। तारों को वह ईश्वर के दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते हैं और हमें आश्वासन देते हैं। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य हैं, बहुत दूर हैं, आदि बुद्धि के प्रयोग हैं। वे हमें ईश्वर की ओर ले जाने में जो सहायता देते हैं वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीति से हम जल को अनेक रीतियों से पहचानते हैं, पर उस ज्ञान का शायद कोई उपयोग नहीं करते। वह प्राण और शरीर को साफ-सुथरा रखने की चीज है, यह ज्ञान और उसका यह हमारे लिए बड़े ही काम के हैं और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर वस्तुत: वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागण के विषय में है। उनके उपयोग अनेक हैं। मैंने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पड़ा उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है । जान पड़ता है, पीछे कालक्रम से अनेक प्रकार के दूसरे वर्णन उसमें मिल गये और आख्यायिकाएं उत्पन्न हुईं। इन सबको हम इस विषय में रुचि बढ़ाने के लिए अवश्य पढ़ें पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूलें।

मृग के उत्तर में दो दूसरे मंडल हैं, उनकी पहचान हम कर लें –

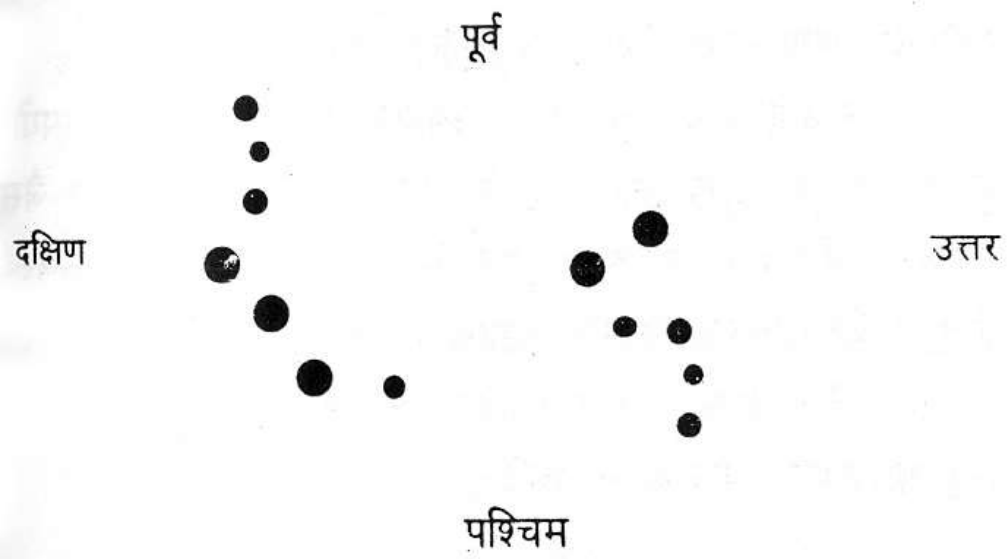

इनमें बड़ा मंडल सप्तर्षि है। छोटे को ध्रुव मत्स्य कहते हैं। दोनों में सात-सात तारे दिये हैं, पर सप्तर्षि में दूसरे बहुत-से हैं वे 'टाइम्स' और 'हिंदू' के चित्रों में मौजूद हैं | ध्रुव मत्स्य में दूसरे तारे नहीं दिखाई देते | इन दिनों उजाले पक्ष में तो शायद तीन ही दिखाई देगे-दो चतुष्कोण के और एक सिरे का, जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमाने में तो नाव-जहाज चलानेवालों को बड़ी मदद मिलती थी। ये दोनों मंडल ध्रुव की प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पढ़ते हैं। इन दिनों इनकी गति देखने का बड़ा आनन्द आता है। सारी रात इनका स्थान बदलता ही रहता है। इसको नोट करते जायं तो इनके मार्ग का नक्शा खासा कुंडलाकार होगा। पश्चिम में इन्हें बड़ा रीछ और छोटा रीछ कहते हैं। एक पुस्तक में तो इनके सुंदर चित्र भी मैंने देखे हैं। बड़े रीछ को हल की उपमा भी देते हैं। सप्तर्षि रात के घड़ियाल का काम देते हैं। थोड़ा अभ्यास हो जाने के बाद सप्तर्षि की गति का समय अवश्य जाना जा सकता है। ।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोग के सामने मुझे तुच्छ-से लगते हैं। हमें चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी हैं वैसे हम तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते जान पढ़ते हैं वैसे हम करें । वे जैसे अपना रास्ता एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते हम भी अपना कर्तव्य न छोड़ें।

५. गोशवारे की आवश्यकता

यरवदा-मंदिर

२५-४-३२

आश्रम का इतिहास लिखते समय मन में अनेक विचार आते हैं, अपनी अनेक त्रुटियों की ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमें समय-समय पर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापार का हर रोज गोशवारा-हिसाब का खुलासा--तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और बड़ा गोशवारा हर साल बनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा, इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा बनाना उचित है। हरेक को अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाज को सारी संस्था का। ऐसा न करें तो गोशवारा न बनानेवाले व्यापारी की तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा। अपने व्रतों और कामों, उद्योगों में हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे छूट रहे हैं, यह हम न जानें तो हम यंत्र की तरह जड़ बन जायंगे और अंत में यंत्र से कम काम करेंगे, यानि अपनी हानि करेंगे।

यह गोशवारा हम किस रीति से तैयार करें ? इसका जवाब मैं कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हूं :

१. हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते हैं ? हम यानि हरेक।

२. ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है ? कहां-कहां असत्य का आचरण हुआ ? इसके लिए उसने क्या किया ? आश्रम ने क्या किया ?

३. आश्रम के इतने बरस के जीवन में हम इस विषय में आगे बढ़े कि पीछे हटे ?

इस प्रकार सब व्रतों के विषय में विचार करके जहां-जहां खोट-खामी दिखाई दे वहां-वहां उपाय ढूंढें और करें।

कार्यों, उद्योगों के विषय में भी यही कर्तव्य है। उनके विषय में तो दूना विचार करना है। आर्थिक दृष्टि से जमा-खर्च बराबर आता है ? हम मानते हैं कि भौतिक उद्योग में अगर दोनों मद बराबर आये तो यह संभव है कि वह धार्मिक रीति से चलाया गया हो, अगर घाटा आये या नफा रहे तो अवश्य कहीं

नीति-भंग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि उस उद्योग के चलाने में धर्म का ही विचार प्रधानत: रखा गया है ? आश्रम में यह बात आवश्यक है, क्योंकि उसके सारे उद्योग धर्म के अर्थात् सत्य के अधीन हैं।

इन दोनों--व्रतों और उद्योगों--के विषय में यह विचार मन में आये बिना नहीं रहते :

१. आश्रम में ही एक-दूसरे के बीच सूक्ष्म चोरियां क्यों होती हैं।

२. ऐसा वक्त कब और कैसे आयगा जब हममें एक-दूसरे का अविश्वास रहे ही नहीं ?

३. आश्रम में अब भी बाहर से चोर क्यों आते हैं ?

४. हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यों बढ़ रहा है ?

५. हमने आसपास के गांवों के साथ क्यों सम्बन्ध नहीं जोड़ा ? वह किस तरह जोड़ा जा सकता है ?

६. आश्रम में अब भी बीमारी क्यों रहा करती है ?

७. आश्रम के मजदूर-वर्ग के लिए हमने क्या किया ? वे क्यों आश्रमवासी नहीं बनें ? या मजदूर ही आश्रम में क्यों हों ? आश्रम में मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हों ?

ऐसे सवाल अभी और बहुत-से सोच सकता हूं, पर मेरे विचार बता देने के लिए इतने काफी हैं। मैं चाहता हूं कि छोटे-बड़े सभी विचार करने लग जायं। रोजनामचा रखने के मेरे आग्रह में यह हेतु तो था ही।

६. सप्ताह का सार

यरवदा-मंदिर

२-५-३२

अप्रेल मास के शुद्धि-सप्ताह पर भाई भगवानजी का पत्र आया है। उसमें कपास की खराबी की ओर मेरा ध्यान खींचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगों ने जान-बूझकर तार[१] बढ़ाकर लिखे हैं। खराबी वह दो तरह की बताते हैं--एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावली में कातने से सूत के नम्बर बहुत कम हैं।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हों तो इसको मैं भारी दोष मानता हूं। आश्रम के नाम को इससे धब्बा लगता है। गलत लिखनेवाले का यज्ञ ईश्वर की बही में तो लिखा ही नहीं जाता। हमारी बही में जो तार या गज लिखे गये हों उनकी कीमत तो कुछ भी नहीं। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखने से उसमें घट-बढ़ नहीं होती और सूत की कीमत तो कुछ आने की होती है। असली कीमत तो कातने के पीछे रहने-वाले शुद्ध उद्देश्य की ही है। यह कीमत हम आंक सकते ही नहीं । यह तो दैवी बही में ही हो सकती है; क्योंकि मनुष्य के हेतु को कौन समझ सकता है ? फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अंत में ऐसे यज्ञ का सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममें कहीं-न-कहीं मलिनता है। इस दृष्टि से हरेक अपने-अपने काम का विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूल कर शुद्ध हो जाय। आश्रम में हमसे किसीकी छिपी निगरानी नहीं हो सकती। बहुत-सा काम विश्वास पर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीति से चल भी नहीं सकता। इसलिए सबको अपने धर्म का बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तार के साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार लें। कातने में आलस किया था ? बेगार टाली थी ? वक्त चुराया था ? टूटा हुआ सूत फेंक दिया था ? यज्ञ की शर्त यह है कि याज्ञिक उसमें तन्मय हो जाय, कार्य में अपनी सारी होशियारी खर्च कर दे।

कोई यह न सोचे कि पूरे बरस चाहे जैसा व्यवहार कर शुद्धि-सप्ताह में ऊपर के नियम का पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञरूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताह में इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातने में अधिक समय दिया करते हैं।

आगे के लिए मैं ये नियम सुझाता हूं :

१. बीस नंबर से नीचे का सूत काता जाय तो वह यज्ञ में न गिना जाय।

२. सूत की खराबी नियत माप से अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस-मजबूती नियत सीमा से नीचे आय तो भी यज्ञ न गिना जाय।

यज्ञ-कार्य हो कि दूसरा कोई, संख्या या वजन से सफाई, सचाई की कीमत ज्यादा होगी। पचास अपंग बैल हमारे सिर पर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास मोथरी छुरियां शाक नहीं काट सकतीं। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर काम की पूर्णता की ओर देने की आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताह में हम इस चीज पर ही ध्यान दें।

मैं देखता हूं कि कातने में कुछ लोगों का मन ऊबता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसंद करते हैं। इसमें एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमी को जो काम रोज करना पड़ता है उससे वह ऊबता है और और मन को फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मैं न ऊबता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोज का हो जाता है तो वह तीसरा मांगता है। फिर कातनेवाले का ध्यान जानेबेजाने कताई से मिलनेवाली थोड़ी मजदूरी की ओर जाता है। आश्रम की दृष्टि से यह दोष है। कातने की मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धंधा है, जिसे करोड़ों कर सकें और उससे कुछ कमा भी

लें। अत: इस काम को व्यापक करने के लिए हम सब यज्ञ-रूप में कातते हैं। यज्ञ में कल्पना यह है कि हम ईश्वरार्पण-बुद्धि से काम करते हैं और फल देना भगवान के हाथ है। इस रहस्य को समझकर कातने का यज्ञ सबको नित्य उसमें तन्मय होकर करना उचित है।

---

१. अटेरन पर लपेटे हुए ४८ इंच सूत की नाप

७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर

९-५-३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अत: मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाई की तीखी आंखों ने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकड़ी का एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरंत उसका मजाक किया। मणिबहन के अति सुघड़पन का मूल मुझे यहीं मिला। जिस लिफाफे में मैं आश्रम की डाक बंद किया करता हूं, वह सरदार की हुनरमन्दी का एक नमूना है। जिसने इस लिफाफे को न देखा हो वह देख ले। उसमें सुघड़पन के साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहां की डाक के लिए बहुत लंबे लिफाफे की जरूरत नहीं होती, इसलिए एक के दो हो जाते हैं। जो बादामी कागज पुड़ियों आदि में आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफों के लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाई की आलोचना पर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखे से काम लेने के लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा करते थे कि बाएं हाथ से चरखे का चक्र भी न घुमाओ। उसे पांव से चलाऊं तो चरखे का एक दिन भी शायद खराब न हो। अत: उसपर जल्दी काबू पा लेने की धुन में मैंने जाले की तह चढ़ी रहने दी। आज दाहिने हाथ से काम कर सकने की हिम्मत हुई तो चरखे की खराबी के ऊपर निगाह गई। एक के बजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतल के मोढ़िये पर तेल और धूल का मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढ़ई पर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्रनारायण का चक्र है, उनकी पूजा की यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढ़ाकर हम दरिद्रनारायण का अनादर करते हैं। सामान्य रीति से मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानों की सफाई रखी जाती है। हम तो मानते हैं कि हरेक स्थान मंदिर है। एक भी कोना नहीं है, जहां ईश्वर न हो | इसलिए हमारे मत से तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मंदिर हैं और मंदिर की तरह साफ-सुथरे रहने-चाहिए। तब फिर चरखे का तो कहना ही क्या ! चरखे की शक्ति को हम सचमुच ही मानते हों तो बच्चे से लगाकर बूढ़े तक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्ली की सफाई के बारे में तो मैं लिख ही चुका हूं। इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ़ महीने पहले उसने दो बच्चे जने। उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है। तीनों शायद ही कभी अलग देखने में आते हों | जब बच्चे चाहते हैं तब मां दूध पिलाती है। दोनों साथ-साथ सटकर दौड़ते हैं, यह दृश्य भव्य होता है। मां को इसमें कोई शर्म नहीं लगती। बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नहीं करती। बच्चे चलने-फिरने और खेलनेवाले हुए कि मां ने तुरंत उन्हें शौच का नियम सिखाया। खुद एकांत में जाकर नरम जमीन पंजों से खोदकर गढ़ा किया और बच्चों को उसके ऊपर बैठाया, फिर धूल से मैले को ठीक तौर से ढक कर जमीन जैसी थी वैसी कर दी। अब बच्चे रोज इसी रीति से निबटते हैं। वे भाई-बहन हैं। चार दिन पहले उनमें से एक जमीन खोदने लगा; पर वह कठिन थी। दूसरा मदद को पहुंचा और दोनों ने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढ़ा खोद लिया। शौच हो लेने के बाद जमीन ढाककर चलते बने। ऐसे प्राणी-छोटे-बड़े-जो कर सकते हैं वह हम सहज ही क्यों न करें?

शीर्षक में चार शब्द एक ही भाव को प्रकट करने के लिए व्यवहार किये गए हैं । हमें आत्मा का बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनों की होनी चाहिए। पर अंदर की सफाई तो सचाई है। सचाई ही सबसे बड़ी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है। हम बाहर से साफ-सुथरे हों और अंदर मैला हो तो या तो यह आडंबरमात्र है, या दंभ है, विषयभोग की निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषों की स्वच्छता अंतर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमें बाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारों से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हरएक काम में स्वच्छता प्रकट करेगा । यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

८. अद्भुत त्याग

यरवदा-मंदिर

१५-५-३२

अक्सर सामान्य पाठ्य-पुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूं। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अत: उसका सार यहां दिये देता हूं।

पैगम्बरसाहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आम तौर से लड़ाई भी बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तब अरब-सेना में एक अरब अपने चाचा के बेटे को ढूंढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे । शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर इस भाई ने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी । अत: उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी, उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा ।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। वह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अत: बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है, वहां जाकर पानी पिला आओ। नि:श्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेग से दौड़कर जहां से आर्त्तनाद आ रहा था, वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी नहीं मिला ! अत: यह भाई, उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था, वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है तो

उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दुःख-भरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बन्द पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलों में किसी ने भी पानी न पिया, पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं, पर ऊपर जो अदूभुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एक मात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी जैसी कोठरी के अंदर बहुत-से आदमी ठूंस दिये गए हों, एक ही सूराख से थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायं। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नंबर पर पानी की आवश्यकता-प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौके पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हममें आये, पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं ? न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आता।

९. बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मंदिर

२२-५-३२

यहां की बिल्ली की सफाई-पसंदी के बारे में तो मैं लिख चुका हूं। उसको और उसके बच्चों को देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्ली के बच्चों को जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता बिना किसी उपद्रव के और बिना मुंह से एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते कर दिखाती है। बच्चे तुरन्त उसे करने लग जाते हैं। इस रीति से वे दौड़ना, पेड़ पर चढ़ना, सम्हालकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीर को चाटकर साफ कर लेना सीख गये। मां जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गये।

मां बच्चों को अक्सर बेकार भटकने के लिए छोड़ती नहीं । उसका प्रेम मनुष्य के प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चों को बगल में लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते हैं तब खुद लेट जाती है और उन्हें दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चों के पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते हैं। छोटी-सी रकाबी में तीनों दूध पीते हैं। अक्सर मां देखा करती है, पर खुद उसमें हिस्सा नहीं बटाती। वह बच्चों के साथ बच्चों की तरह क्रीड़ा करती है, कुश्ती लड़ती है।

इससे मैंने यह सार निकाला कि हम बच्चों को शिक्षा देना चाहते हैं तो जो बात उनसे कराना चाहते हों वह खुद करनी चाहिए। बच्चों में अनुकरण की भारी शक्ति होती है। मुंह से कहा हुआ वह कम समझेंगे। हम उन्हें सत्य सिखाना चाहते हैं तो खुद हमें बहुत सावधानी से सत्य का पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमें परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीति के विषय में है वही शारीरिक कार्यों के विषय में भी है।

इस रीति से विचार करते हुए हम तुरंत देख सकते हैं कि आज जिस रीति से शिक्षा दी जाती है उसमें पैसे और समय के व्यय के परिमाण में फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि बड़ी उम्र को पहुंचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर हैं। इस स्थान के साथ न्याय नहीं होता। इसका उचित आदर नहीं किया जाता। इससे शिक्षा ने वक्र रूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओं को बुद्धि नहीं है या मनुष्य की जैसी बुद्धि नहीं है। वह जो करते हैं उससे तो हमें बहुत आगे जाना चाहिए; पर इसके शक्य होने के पहले भावी संतान की नीति के रक्षक होने के नाते, हमें खुद उसका पालन करना होगा। जिस बात को हम चाहते हों कि आनेवाली संतानें सीखें उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रम में जो लोग शिक्षक और शिक्षिका हैं वे इस दृष्टी से विचार करने लगें और जहां अमल करना उचित हो वहां करने लगें, इसी उद्देश्य से यह लेख लिखा है।

१०. मृत्यु का बोध

यरवदा-मंदिर

३०-५-३२

आश्रम में अबतक नीचे लिखी मौतें होने की बात मुझे याद है : फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसन्त, इमामसाहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल में सारी रात मैं ही बैठा रहा। सबेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयों को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयों को भी मैं खो बैठा।

ब्रजलाल बड़ी उम्र में, शुद्ध सेवाभाव से आश्रम में आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभारूप हुए। एक लड़के का घड़ा कुएं से निकालते हुए डोर में फंसकर फिसल गये और प्राण तजे।

गीता गीता का पाठ शांति से सुनती हुई चली गई। मेघज नटखट लड़का माना जाता था; पर बीमारी में उसने अद्भुत शांति रखी। बच्चे अक्सर बीमारी में बहुत हैरान होते हैं और पास रहनेवालों को हैरान करते हैं। मेघजी को लगभग आदर्श रोगी कह सकते हैं। वसंत ने बिल्कूल सेवा ली ही नहीं। प्राणघातक चेचक ने एक या दो दिन में ही जान ले ली। वसंत की मृत्यु पंडितजी और लक्ष्मीबहन की कठिन परीक्षा थी, उसमें वे पास हुए।

मगनलाल के विषय में क्या कहूं ? सच पूछिये तो यह गिनती आश्रम में हुई मौतों की है, इसलिए मगनलाल का नाम यहां न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फीसदी

खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है।

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान-कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम में बसा। उन्होंने मृत्यु से हमारे और मुसलामानों के बीच न टूटनेवाली गांठ बांध दी है। इमामसाहब अपने-आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप में आश्रम में आये। (यहां अमीना के दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारे में कोई कहने लायक बात नहीं। उनकी मृत्यु हमें संयम की आवश्यकता का पाठ अवश्य पढ़ातीं है।)

गंगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आंखों के सामने फिरा करता है, उनकी बोली की भनक मेरे कानों में पड़ती है। उनके स्मरणों को याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवन से हम सबको और बहनों को खास तौर से बहुत सबक सीखने हैं। वह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थीं। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी सम्हाल उन्होंने अपने बच्चे मानकर की। उन्होंने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था – उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

इन सभी मृत्युओं का स्मरण अपनी जागृति के लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडल में कण-समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप में तुच्छ कण हैं। हम एक बिल में रहनेवाली चींटियों को गिननें में असमर्थ हैं। चींटी से छोटे जंतुओं को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जंतु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरश: सत्य है। उसका मोह क्या ? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दु:ख दें ? कांच से भी कमजोर--जरा-सी चोट से टूट जानेवाली--देह को बनाये रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मचायें ? मौत के मानी हैं इस देह से जीव का उड़ जाना। इस मौत का डर किसलिए ? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महाप्रपंच क्यों ? इन बातों पर फिर-फिर विचारकर छोटे-बड़े सब दिल से मौत का डर निकाल दें और देह में रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवा के कार्य में उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममें आये, इसके लिए

नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम उन्नीस श्लोक हमें रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है।

पुनश्च – यह लेख लिखा जा चुकने के बाद महादेव ने फातिमा काकी और बालजी की माताजी के संस्मरण दिये हैं; पर मुझे जो सार खींचना था उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूं। बाकी की तीनों मौतों के बारे में जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में

यरवदा-मंदिर

९-६-३२

कोढ़ से पीड़ित एक भाई ने नीचे लिखे हुए उद्गार प्रकट किये हैं--

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियों के लिए आसन, प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करने के बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोग के लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादि के पाठ में, भजन गाने में, ध्यान में और कम-से-कम ५०० गज सूत कातने में मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षा का अर्थ तो यह है—"सब दुखों को मन में बिना विरोध किये, बिना चिन्ता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने-आप में उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञ-कार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमी से दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वर-कृपा से खुले हुए हैं और इनसे आनन्द प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मन में यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिल्कुल हो ही न सके तो! शास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगत् के लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधि से इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकार का यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरों की सेवा पर ही टिक रहा हो तो ऐसे समय क्या कर्तव्य है ! किसी-न-किसी शास्त्र में यह भी पढ़ा है कि जब आदमी को ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानी में डूबकर या ऐसे ही किसी और उपाय से प्राण-त्याग करे।"

यह एक सुंदर पत्र का मेरी भाषा में किया हुआ खुलासा है। इस पत्र से अपने लोगों के लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाई ने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपने में उत्पन्न करें और रोग से पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें।

सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रम में तो पद-पद पर हम इन्हें सुनते हैं; पर जब किसी अनुभवी की कलम से यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़ से पीड़ित जनों से ऐसी भाषा और ऐसे अनुभव की आशा हम नहीं रखते। आम तौर से ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीज का अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्र का सार मैंने आश्रमवासियों के लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञ का अर्थ हम परोपकार के लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं; पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीर से अशक्त है वह यज्ञहीन है जो शरीर सर्वथा आशक्त है वह अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके; वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञ कर्म करने की तीव्र इच्छा हो, देह के विषय में उदासीनता आ गई हो; दूसरों की सेवा लेने से दुख होता हो; बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने-आपको इतमीनान हो गया हो, मेरा खयाल है कि ऐसी हालत में जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राण-त्याग करने का पूर्ण अधिकार है; धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवाले को आघात पहुंचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवाले के मुंह में दूसरों के लिए प्राण-त्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नहीं है, जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीने की तृष्णा घट जाय और मृत्यु का भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोग के समय प्राण-त्याग को धर्म माने तो यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

१२. प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१९-६-३२

प्रार्थना आश्रम का एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीज को हमें ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिये। भोजन करते समय आमतौर से हम किसी को सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना भोजन से करोड़ गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोये तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे । खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचार को जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी उसकी गिनती दम्भ में होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोष किया; प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा ? ऐसी बात होती ही नहीं। अगर हम खाट से उठकर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघगे ही। प्रार्थना में जाने से पहले जाग्रत हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए। सोटे की तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज से, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम लें। इतने पर भी शरीर काबू में न रहे तो खड़ा हो जायं। छोटा हो या बड़ा, इसमें किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटाने के लिए बड़ों को चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब तब खड़े हों जाया करें।

प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाय उसे तुरंत सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

२५-६-३२

सर्प को मारें या नहीं ? स्त्री के ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारी को मारें या नहीं ? खेत में जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलायें या नहीं ? अहिंसा का उपासक इन प्रश्नों को हल करने में न लगे। इन गुत्थियों को जब सुलझाना होगा तब वह अपने-आप सुलझ जायंगी, इस भुलावे में पड़ना अहिंसा को बिसर जाने के बराबर है।

अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने अंतर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर ही नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली ? उसको कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली ? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला ? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया; प्यासे बटोहियों ने मुझसे पानी मांगा; मैंने न दिया। मेहमान आये उनका नमस्कार से भी सत्कार न किया; मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना बिचारे काम लादता रहा; बैल को पैना मारता रहा। रसीई में भात कच्चा था इससे खीझा--ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन न करें तो दुसरे विष्यों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी । अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है। जो कौड़ी की फिक्र करेगा उसकी कौड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

१४. सत्य का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

३-७-३२

जो बात अहिंसा की है वही सत्य की समझिये। गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्य की साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानी में बैठना सत्य को ढांकने का रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपन-आप हो जायगा।

इस दृष्टि से हममें से हरेक को केवल अपने-आप-को ही देखना है। अपने विचार से मैं किसीको ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमें नहीं हैं, उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं ? बोलने में अतिश्योक्ति करता हूं ? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूं ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरएक को रोज अपने-आपसे हिसाब लेकर अपने-आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलने की आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंह से निकल ही न सके, वह भले ही अपने-आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने-आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने-आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

१५. विद्याभ्यास

यरवदा-मंदिर

१०-७-३२

आश्रम का इतिहास लिखते हुए शिक्षा के विषय में जो विचार प्रधान रूप से मेरे मन में चल रहे हैं, उनका निचोड़ दिये देता हूं। आश्रम में कितने लोगों को वाचन शिक्षण-पढ़ाई की तालीम-की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमी को देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रम के साथ जुड़ी ही रहेगी। उसके कारण की चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमें इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यास का अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करने की रीति नहीं जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है, यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टि से प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति में बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है, जिसके-द्वारा हम आत्मा को, अपने-आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसी को साहित्यज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र की, किसीको कला की; पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्म-दर्शन होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है । जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे से छोटे काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है। खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का, जो हरेक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरेक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमें शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन--सत्य-दर्शन के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीज

में वह निपुण है उसके विषय में वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है उसके विषय में विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें और जिसमें पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जायं त्यों-त्यों हमारी विद्या-सत्य-दर्शन की शक्ति-बढ़ती ही जायगी।

तब अक्षर-ज्ञान का क्या हो ? यह प्रश्न अब रहता ही नहीं । जो बात अन्य कार्यों के विषय में है वही अक्षरज्ञान के विषय में है। ऊपर के विवेचन से एक वहम की अर्थात् शिक्षाशाला-रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षक के-भ्रम की जड़ कट जाती है। हमें अक्षरज्ञान की जिज्ञासा हो तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्न से प्राप्त करना है। आश्रम में उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौर से समझा सका होऊं तो अक्षरज्ञान की समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरों को यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

१६. व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१७-७-३२

व्यक्तिगत प्रार्थना के विषय में मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्त्व के विषय में फिर कुछ लिखने की आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना में से हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है ? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्म-दर्शन में--आत्मशुद्धि में--सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्योंही समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के हैं : सवेरे उठते ही अन्तर्यामी को याद करना और रात में आंख मूंदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जागृत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के संपादन में अन्तर्यामी को याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवाले से बुरा काम तो होगा ही नहीं और अंत में उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है, यों जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है, उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मंत्र या भजन की जरूरत नहीं होती । यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरंभ और अंत के लिए मन्त्र देखने में आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति में भगवान को याद करना है, ऐसा करने की आदत बहुत थोड़ों को ही होती है। बहुतों को हो तो दुनिया में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुंचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बांध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अन्त में हर सांस से रामनाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना में वक्त बिल्कुल नहीं जाता। उसमें वक्त की जरूरत नहीं, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आंख मूंदने में समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना में भी वह जाता नहीं मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदय में चलनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करने वाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

१७. देख-रेख की अनावश्यकता

यरवदा-मंदिर

२४-७-३२

यह शीर्षक चौंकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नहीं है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेख के अपना काम-काज चला सकते हैं। हां, यह आशय अवश्य है कि देख-रेख घटाते जाने और अंत में उसको बिल्कुल ही दूर कर देने का उपाय सुझाये।

धार्मिक संस्था में देख-रेख की जितनी जरूरत पड़े, उतनी धर्म की न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्म का--आत्मा का--घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमें किसकी देखरेख रखनी है ? जिसने रसोई या पाखाने की सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने-आप ठीक तौर से अपना काम क्यों न करे ? करेगा यह विश्वास हम क्यों न रखें ? जो निगरानी के बिना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए। हमारे रोज के काम का आत्म-परीक्षण हमारी देख-रेख है।

यहां देख-रेख का अर्थ समझ लेना चाहिए। बच्चे को तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नहीं, इसलिए सौंपे हुए काम को बताना जरूरी होता है। बड़ा भी, उसे कोई खास काम न आता हो तो, देख-रेख मांगता है, चाहता है। सच पूछिये तो इस तरह की देख-रेख नहीं, बल्कि शिक्षक की सहायता है। इस सहायता के सहारे नया सीखनेवाला आगे बढ़ता है।

पर जो देख-रेख रखवाली के रूप में है, वह दोषपूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौर से करता है या नहीं, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चों की भी ऐसी ही निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराई से निकल जाने का रास्ता हमें ढूंढ़ना चाहिए।

इस तलाश की पहली सीढ़ी यह है; जहां-जहां देखरेख रखी जाती हो उन कार्यों को नोट कर लो। उनमें कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेक पर छोड़ दो। संस्थापक और दूसरों को इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चों को भी ईश्वर की उपस्थिति का भान अभी से होना चाहिए। यह कोई वहम की चीज नहीं है, अनिश्चित

नहीं है। अपने अस्तित्व पर अपने निजी अस्तित्व का जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वास की यह बात है।

इस सुझाव पर सब लोग विचार करते रहें और उसपर जहांतक अमल करना शक्य है वहांतक करना अपना धर्म है।

१८. गीता कंठ करो

यरवदा-मंदिर

३१-७-३२

गीता को कंठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तों मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीता का मनन तो बरसों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए यद्यपि मुझे सहज ही इसका संयोग मिल जाय तो गीता कंठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीता के बदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती तो जो अब उसे सीख न सकते हों वे गुजराती या हिन्दी में कंठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्मग्रंथ पर हो वे उसे कंठ करें ।

और कंठ करने का अर्थ भी समझ लीजिये। जिस चीज को हम कंठ करें उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धांतों का घातक न हो। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आंख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं; पर समझ बनी हो-ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं – उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे-हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी-कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

१९. वाचन और विचार-१

यरवदा-मंदिर

१४-८-३२

पाठशालाओं में हम पढ़ते हैं – 'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[१] यह उक्ति शब्दश: सत्य है। हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जाएगा। आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जाएगा; पर जो खाली-खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकार का रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलत: पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे ? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सकता। यह देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करने की आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अत: उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैंने जानबूझकर किया है। सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं। वह तो पागलपन है। कितने ही विचारों के भंवर में पड़कर निराश हो जाते हैं, आत्मघात भी कर बैठते हैं। ऐसे विचार की बात यहां नहीं की जा रही है। इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुए पर विचार करने तक है। मान लीजिये कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना – यह विचारपद्धति कही जायगी। यह मैंने

सादे-से-सादा दृष्टान्त लिया है | इसमें से हरेक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टान्त घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंत में आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

---

१. 'भणतर मिथ्या वगर विचार'

२०. वाचन और विचार-२

यरवदा-मंदिर

२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है?" – अरे मुसाफिर, उठ सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आपसे पूछता है – मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा हुआ के मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति से अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात के मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल लापरवा – रहता है, उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवाले के लिए वह बोझस्वरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

२१. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-१

यरवदा-मंदिर

२८-८-३२

वाचन और विचार के विषय में तो मैं लिख चुका। आज कार्य और विचार के विषय में थोड़ा लिखता हूं। मेरी दृष्टि से विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीति से सज जायं।

जिस स्त्री ने नेवले के मुंह में लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोड़ा, उसने बहुत ही अविचार का काम किया और अंत में अपने बच्चे को बचानेवाले का वध करने के लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिन्दगी भर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाब में लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टान्त तो अंतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूल विषय पर ठीक बैठ सकता है। आश्रम में जितने काम हम करते हैं, विचारपूर्वक करें तो शांति बढ़े, करनेवाले की दक्षता बढ़े, बहुत-सा वक्त बचे और काम में नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवर के जरिए रहंट चलाते हैं। उसे बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है; पर उसके ज्ञान में वृद्धि नहीं होती, अपने काम में उसे रस नहीं आता। आदमी सिर पर खड़ा न हो तो वह रहंट की चर्खी घुमाये नहीं। पर हम तो मनुष्य हैं ! मनुष्य के मानी हैं विचार करनेवाला, ज्ञानवान । हमें पशु की भांति तो नहीं रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते हैं। विचार के बिना करें तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटें । विचारपूर्वक करें तो जानेंगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करने के मानी हैं पूरी सफाई करना, पाखाने को ठीक तौर से ढकना, साफ करने के औजारों को साफ रखना, पाखाने की जांच करना, उसमें खून हो, बदबू हो, कीड़े हों तो समझें कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा लें। हरेक पाखाने का कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमें होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूल से ठीक तौर से ढका नहीं गया है, मैला बाहर पड़ा है, पेशाब भी नीचे पड़ा है, तो यह दोष करनेवाले को ढूंढें और उसको विनयपूर्वक समझावें

। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवा भाव से यह काम करें। इसलिए ज्यों-ज्यों अपने कार्य में विचार से काम लेता जाएगा त्यों-त्यों वह सुधरेगा, सहज होगा और मन ऊबने के बजाय उसमें रस आवेगा। पाखाने के बारे में जितनी बातें सोची जा सकती हैं सब यहां नहीं दी हैं, उनका नमूना भर दे दिया है।

कताई के यज्ञ को लें तो उसके विषय में भी यदि विचारमय काम हो तो हमें उसमें से रस के घूंट मिलेंगे और कताई की कला की प्रगति की हद ही ने होगी। सब विचारपूर्वक कातें तो हम बहुतेरी खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकालें।

यही बात प्रार्थना की है। प्रार्थना क्या है ? किसलिए की जाती है ? मौन क्यों रखते हैं ? प्रार्थना संस्कृत में क्यों हो ? गुजराती, मराठी या हिन्दी में क्यों न कि जाय ? आदि अनेक बातों का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचंडशक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषय में कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते हैं।

योग:कर्मसु कौशलम्--यह गीता का विचार प्रौढ़ है। योग का अर्थ है जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ जने का नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशल से वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवाले को अपने कर्म तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकली पर कातनेवाले विचारक ने चरखे का महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले ने हजारों तकलीवाला चरजखा बनाया। मेरी दृष्टि से इसमें उसकी बुद्धि खुब चली; पर हृदय नहीं चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यता की तुलना में तो यंत्र का आविष्कार करनेवाले की विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

२२. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-२

यरवदा-मंदिर

११-९-३२

काम करने में भी विचार-शक्ति का पूरा उपयोग करने के विषय में लिख चुका हूं। उस पत्र के अन्त में एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमें मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमें ऐसे सुधार करने की बात सोचता है जिससे लाखों-करोड़ों कातनेवालों को आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मैं खुद ही एक चरखे के जरिए लाखों के बराबर सूत कात लूं तो कैसा अच्छा हो ! पहले का विचार समाज-पोषक, दैवी है। दूसरे का आसुरी है, समाजहित-विरोधी है। इसलिए हरेक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नहीं है। वह विचार सबके हित का भी हो, केवल अपने ही स्वार्थ का नहीं। सच पुछिए तो जो केवल अपने ही स्वार्थ के लिए प्रयास करता है वह दूसरों का नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंत में नहीं साध सकता।

इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर हरेक अपने हर काम, हर उद्योग के विषय में विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने काम को रसमय बनाता है, अपनी बुद्धि का विकास करता है, अपने हृदय को विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्य में कुशलता प्राप्त करता है और उसमें ऐसी खोजें और सुधार करता है, जिनसे समाज का कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काम में उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनन्द होता है, थकावट नहीं आती और कार्य कलामय हो जाता है, फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सड़क की सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशाला का हो, किताबें लिखने का हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आये उसीमें वह ईश्वर को देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नहीं होता। उसका रस उसके अन्तर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्तियोग को समझना, साधना चाहता हो उसको हरेक काम इसी तरह करना उचित है।

विविध

नीतिमय जीवन-संबंधी स्फुट रचनाएं

१. आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वर का डर मानता है, विनयपूर्वक अपना अन्तर्नाद सुनता है, उसके अनुसार बर्तता है और मानता है, "ईश्वर जो करता है, अच्छे के लिए करता है।"

निराशावादी कहता है, "मैं करता हूं।" अगर सफलता न मिली तो अपने को बचाकर दूसरे सब लोगों के मत्थे दोष मढ़ता है। भ्रमवश कहता है, "किसे पता, ईश्वर है या नहीं", और खुद अपनेको भला और दुनिया को बुरा मानकर कहता है कि मेरी किसीने कद्र नहीं की और अन्त में आत्मघात कर लेता है, और यदि न करे तो भी मुर्दे की तरह जीवन बिताता है।

आशावादी प्रेम में मगन रहता है। किसीको अपना दुश्मन नहीं मानता। इससे वह निडर होकर जंगलों में और गाँवों में सैर करता है। भयानक जानवरों तथा ऐसे जानवरों-जैसे मनुष्यों से भी वह नहीं डरता; क्योंकि उसकी आत्मा को न तो सांप काट सकता है और न पापी का खंजर ही छेद सकता है। शरीर की तो वह चिंता ही नहीं करता, क्योंकि वह काया को कांच की बोतल समझता है। वह जानता है कि एक-न-एक दिन तो फूटने ही वाली है। इसलिए वह उसकी रक्षा के निमित्त संसार को पीड़ित नहीं करता। वह न किसीको दिक करता है, न किसीकी जान पर ही हाथ उठाता है। वह तो अपने हृदय में वीणा के मधुर गान को निरंतर सुनता है और आनन्द-सागर में डूबा रहता है।

निराशावादी स्वयं राग-द्वेष से भरपूर होता है। इसलिए वह हरएक को अपना दुश्मन मानता है और हरएक से डरता है। अन्तर्नाद तो उसके होता ही नहीं। वह तो मधुमक्खियों की तरह इधर-उधर भिनभिनाता हुआ बाहरी भोगों को भोग-भोगकर रोज थकता है और रोज नया भोग खोजता है, और इस तरह प्रेमरहित तथा अ-मित्र होकर इस दुनिया से कूच कर देता है । उसके नाम की याद तक किसीको नहीं आती।

हिन्दी नवजीवन
२८ अक्तूबर, १९२२

२. आचार बनाम विचार

मौलाना मुहम्मद अली ने इस्लाम-विषयक भाषण में जो भेद दिखाया है, उसे कितने ही समझदार और विवेकवान सज्जन भी नहीं समझ पाये हैं। मौलाना-साहब मानते हैं कि :

१. मनुष्य के आचार और विचार में भेद होता है।

२. श्रेष्ठ विचारवालों का आचार बुरा भी हो सकता है।

३. श्रेष्ठ आचारवाले के विचार दूसरे विचारों के मुकाबले में ही न हो सकते हैं।

यहां विचार का अर्थ है—विश्वास, धर्म, मत। जैसे ईसाई मत में ईसा मसीह को एकान्तिक ईश्वर मानना, इस्लाम में ईश्वर को अद्वैत और मुहम्मदसाहब को पैगम्बर मानना। हिंदू धर्म में मेरे विचार के अनुसार सत्य और अहिंसा की श्रेष्ठता मानी गई है—"सत्यात् नास्ति परो धर्म:", "अहिंसा परमो धर्म:।"

सच यह है कि सारा संसार पूर्वोक्त तीन सिद्धान्तों को मानता है। फर्ज कीजिए कि यूरोप का एक सर्वश्रेष्ठ साधु यह मानता है कि मनुष्य के शरीर की रक्षा के लिए जीवित पशु इत्यादि को तरह-तरह के कष्ट देकर उनपर प्रयोग करने अथवा उन्हें मार डालने में किसी तरह की बुराई नहीं। यही नहीं, बल्कि अहसान करने में बुराई है। इसके खिलाफ, फर्ज कीजिये कि मैं एक दुष्ट मनुष्य हूं, पर मैं मानता हूं कि मनुष्य-शरीर को बचाने के लिए भी किसी जीवधारी की हिंसा करना इन्सानियत को कम कर देना है। तो क्या उस श्रेष्ठ साधु के साथ जरा भी गुस्ताखी किये बिना मैं यह नहीं कह सकता कि केवल विचार-विश्वास-का मुकाबला करें तो मेरे दुष्ट होते हुए भी मेरा विश्वास उन सर्वश्रेष्ठ साधू के विश्वास से बहुत ऊंचे दर्जे का है ?

इस वर्तमान चर्चा में एक बात साफ तौर पर चमक उठती है और वह मानो इस अंधेरे में आशा की किरण है। सब लोग यह प्रतिपादन करते हुए मालूम होते हैं कि आचारहीन विचार बेकार हैं और अकेले शुद्ध विचार से स्वर्ग नहीं मिल सकता। मौलानासाहब ने अपनी राय में कहीं भी इस बात का विरोध नहीं किया है। इस प्रयत्न में मुझे आशा की किरणें दिखाई देती हैं, क्योंकि आचार का पालन करनेवाले तथा उसका निरादर करनेवाले, दोनों, आचार के अर्थात् सदाचार के पुजारी हैं।

परन्तु आचार की पूजा करते हुए हमें विचार की शुद्धता की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहां विचार में दोष होगा, वहां आचार अन्तिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ पावेगा। रावण और इंद्रजीत की तपस्या में किस बात की खामी थी? इन्द्रजीत के संयम का मुकाबला करने के लिए लक्ष्मण के संयम की आवश्यकता थी—यह दिखाकर आदिकवि ने आचार का महत्व सिद्ध किया। परन्तु इन्द्रजीत के विचार – विश्वास – में आर्थिक वैभव को प्रधान पद दिया गया था और लक्ष्मण के विश्वास में वह पद परमार्थ को मिला था। अतएव अंत में कवि ने लक्ष्मण को विजयमाला पहनाई। "यतो धर्मस्ततो जय: का" भी अर्थ यही है। यहां धर्म का अर्थ यही हो सकता है कि उच्च-से-उच्च विचार अर्थात विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार।

एक तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा में जगह नहीं है। वे हैं ढोंगी। उनके पास विचार का, विश्वास का, केवल दावा भर है; पर आचार बिल्कुल स्वांग है – आडंबर है। वास्तव में उनका विश्वास ही नहीं होता। तोता 'राम-राम' रटता है तो क्या इससे लोग उसे राम-भक्त कहेंगे ? फिर भी हम दो तोतों या तोते और चिड़िया की बोली की तुलना करके उनकी बोली की कीमत आंक सकते हैं।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अप्रैल, १९२४

३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व

आज मुझे आपके सामने मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलते हुए आनन्द होता है। अब वहां हमारे जिन भाइयों की विडम्बना हो रही है, उन्हें मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व का क्या खयाल आ सकता है ? वे तो कहेंगे कि जहां से हिन्दुस्तानियों का निकालने का, अथवा एक अंगरेज की मालिकी वाले अखबार ने जैसा कि कहा है, वहां से भूखों मार-मारकर उन्हें निकालने का प्रयत्न वहां की सरकार कर रही है वहां बन्धुत्व किस तरह हो सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। फिर भी मैंने आपके समक्ष इस विषय पर बोलना इसीलिए स्वीकार किया है कि ऐसी विडम्बना के समय और बुरे दिन में ही मनुष्य के प्रति मनुष्य के बन्धुत्व की सच्ची आजमाइश होती है।

बहुत बार मेरी स्तुति की जाती है। उसे मैं एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता हूं। पर आज आपने जिस गुण का आरोप मुझपर किया है, उसे स्वीकार करने को जी चाहता है। आप कहते हैं कि मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलने का अधिकार यदि किसीको हो तो वह आपको अवश्य होना चाहिए। मैं इस बात को मानता हूं। मैंने अनेक बार यह देखने की कोशिश की है कि मैं अपने शत्रु से घृणा कर सकता हूं या नहीं – यह देखने का नहीं कि प्रेम कर सकता हूं या नहीं, पर यह देखने का कि घृणा कर सकता हूं या नहीं – और मुझे ईमानदारी के साथ परन्तु पूरी-पूरी नम्रता के साथ कहना चाहिए कि मुझे नहीं मालूम हुआ कि मैं उससे घृणा कर सकता हूं। मुझे यह याद नहीं आता कि कभी भी मनुष्य के प्रति मेरे मन में तिरस्कार उत्पन्न हुआ हो। मैं नहीं समझ सकता कि यह स्थिति मुझे किस तरह प्राप्त हुई है। पर आपसे यह कहता हूं कि जीवनभर मैं इसीका आचरण करता आया हूं।

बन्धुत्व का अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें, उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्यत्व के साथ नहीं, प्राणि-मात्र के साथ होना चाहिए। कितनी ही मानव-दया-सभाएं इग्लैंड में मासिक पत्र निकालती हैं। एक पत्र में तीस-पैंतीस साल पहले मैंने 'मेरा भाई बैल' नाम की कविता पढ़ी थी। उसमें यह उपदेश बड़ी मनोहर रीति से दिया गया था कि मनुष्य को चाहनेवाला प्राणि-मात्र पर प्रेम करे। मैं उसपर मुग्ध हो गया था। उस समय मुझे हिन्दू धर्म का बहुत कम ज्ञान था। मेरे आस-पास के वायुमण्डल से, मेरे माता-पिता से, तथा स्वजनों से, जो कुछ मिल सकता था, मिला था। तो भी इतना

तो मैं समझ ही गया था कि सब धर्म प्राणि-मात्र के बन्धुत्व का उपदेश करते हैं। पर मैं आज इस व्यापक बन्धुत्व की बात करना नहीं चाहता। मैं तो यह बात यह दिखलाने के लिए करता हूं कि यदि हम अपने शत्रु के साथ भी प्रेम करने के लिए तैयार न हों, तो हमारा बन्धुत्व और कुछ नहीं, एक ढकोसला है। दूसरी तरह से कहूं कि जिसने अपने हृदय में बन्धुत्व के भाव को स्थान दिया है, वह यह नहीं कह सकता कि उसका कोई शत्रु है। लोग चाहें हमें अपना शत्रु मानते रहें पर हम ऐसा दावा न करें।

तब सवाल यह होता है कि जो हमें अपना शत्रु समझते हैं उनके साथ प्रेम किस तरह करें ? प्रतिदिन मुझे हिन्दु, मुसलमान ईसाई लोगों की चिट्ठियां मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि हम शत्रु को मित्र मान सकते हैं। हिन्दू लेखक लिखते हैं कि जो गाय हमारे लिए प्राण-समान प्रिय है, उसको मारनेवाले मुसलमान के साथ प्रेम किस तरह हो सकता है ? ईसाई लेखक पूछते हैं कि अस्पृश्यता को माननेवाले, अपने भाइयों को अछूत समझकर दलित करनेवाले हिन्दुओं के साथ प्रेम किस तरह करें ? लेखक, यदि वह मुसलमान, हो तो पूछता है कि बुतपरस्त हिन्दुओं के साथ मुहब्बत कैसे हो सकती है ? उन तीनों से मेरा यह कहना है, "आपका बन्धुत्व बेकार है, यदि आप अपने वर्णित इन लोगों को नहीं चाह सकते हैं।" परन्तु इस तिरस्कार-भाव का अर्थ क्या है ? इसके मूल में भय है या सहिष्णुता? यदि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं तो हम एक-दूसरे से क्यों डरें, अथवा हमसे भिन्न मत रखनेवाले से द्वेष क्यों करें ? पर जिस कृत्य से हम घृणा करते हों, वह क्या किसी मुसलमान को करने दें ? मेरा बन्धुत्व उत्तर देता है, "हां।" और उसमें इतनी बात अधिक जोड़ता है, "आप अपने को कुरबान कर दीजिये। जो वस्तु आपको प्रिय हो, यदि आप उसकी रक्षा करना चाहते हों तो आप बिना किसी पर हाथ उठाये उसके लिए मर जाइये।" मुझे ऐसी घटनाओं का अनुभव है। आपके अन्दर यदि प्रेम के साथ कष्ट सहने की हिम्मत हो, तो आप पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी कर सकोगे। बदमाश यदि आपसे सवाया बलवान् हो तो आप हाथ उठाकर कया करेंगे ? वह आपको जीतकर अधिक बदमाशी न करेगा? दुष्टता की आग विरोध के घी से अधिक नहीं धधकती ? क्या इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है ? और क्या इतिहास में ही ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुंच जाने वालों ने बड़े-बड़े विकाल पशुओं को वश में कर लिया है ? पर इस पराकाष्ठा की अहिंसा को जानें दें। इसके लिए तो महा शूरवीर योद्धा से भी अधिक बहादुरी की जरूरत है। और जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो,

उसके साथ लड़कर मर जाने के डर से बैठे रहने की अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है। कायरता और बन्धुत्व परस्पर-विरोधी हैं। संसार शत्रु के साथ प्रीति करने की बात को स्वीकार नहीं करता। ईसा के अनुयायी यूरोप में भी अहिंसा के सिद्धांत का मजाक उड़ाया जाता है। वहां से कोई साहब लिखते हैं, "अहिंसा का सिद्धांत अधिक समझाइये", तो कोई कहते हैं, "हिन्दुस्तान में बैठे-बैठे आप भले ही ऐसी बातें कीजिये, किन्तु यूरोप में आप ऐसा नहीं कर सकते ।" और कितने ही लिखते हैं कि ईसाई धर्म तो आज पाखण्ड हो रहा है, ईसाई लोग ईसा के सन्देश को नहीं समझते। इस तरह उसके पहुंचाने की जरूरत है कि हम समझ जायं। तीनों की दृष्टियों से तीनों का कथन ठीक है, पर मुझे कहना होगा कि यदि शत्रु को चाहने का सिद्धांत स्वीकार न करें तो बन्धुत्व की बातें करना हवा में महल बनाना है। कितने ही स्त्री-पुरुष मुझसे पूछते हैं कि क्या लोग वहीं वैर-भाव को छोड़ सकते हैं ? मैं कहता हूं, "हां।" हमें अपने मनुष्यत्व का पूरा भान नहीं, इसीसे वैर नहीं छोड़ा जाता। डार्विन कहता है, हम बन्दर के वंशज हैं। यदि यह सच हो तो हम अभी मनुष्य की दशा प्राप्त नहीं कर पाये हैं। डा. आना किंग्सफर्ड ने लिखा है कि मैंने पेरिस में मनुष्य के रूप में सिंह, शेर, भालू और सांप को विचरते हुए देखा है। इस पशुत्व को मिटाने के लिए मनुष्य को भय छोड़ने की आदश्यकता है। डर अपने अन्दर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियार से सुसज्जित होकर नहीं। महाभारत ने वीर का भूषण अथवा वीर का गुण क्षमा बताया जाता है। जनरल गार्डन का एक पुतला है। उसकी बहादुरी बताने के लिए उसके हाथ में तलवार नहीं, बल्कि एक छड़ी रक्खी गई है। यदि मैं शिल्पकार होता और मैं गार्डन की मूर्ति बनाता तो मैं उन्हें अदब के साथ सीना ताने हुए खड़ा बनाता और नीचे लिखे शब्द संसार को सुनाता हुआ बनाता :

"चाहे कितने ही प्रहार करो, बिना भय के, बिना वैर के उन्हें झेलने के लिए यह सीना खुला हुआ है।"

यह है मेरे वीर का आदर्श ! ऐसे वीर जगत् में अमर हुए हैं। ईसाई धर्म ने ऐसे शूरवीरों को जन्म दिया है। हिन्दू धर्म और इस्लाम ने भी दिया है। मुझे यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि इस्लाम तलवार का धर्म है। इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता।

ये तो व्यक्तियों की बातें हैं। जातियों के निर्वैर हो जाने के भी उदाहरण हैं। ज्यों-ज्यों हम बंधुत्व का सबक सीखते जायंगे और उसके अनुसार चलते जायंगे, त्यों-त्यों वह व्यापक होता जायगा। क्वेकर तथा टालस्टाय वर्णित दुखोबोर का इतिहास क्या कहता है !

परन्तु यूरोप के कितने ही प्रशस्त लेखक तथा भारत के बड़े लेखक कहते हैं कि ऐसा समय कभी नहीं आ सकता कि मनुष्यजाति निर्वैर हो जाय। इसी बात पर मेरा विवाद है। मैं उलटा यह कहता हूं कि मनुष्य जबतक निर्वैर नहीं हो जाता तबतक वह मनुष्य नहीं बन सकता, अपने धाम को नहीं पहुंच सकता। हम चाहें या न चाहें, हमें इसी रास्ते जाना होगा, और आज मैं आपसे यह कहने आया हूं कि लाचार होकर इस रास्ते जाने की अपेक्षा स्वेच्छा से क्यों नहीं जाते ? यह बात जरा विचित्र मालूम होगी कि मुझे ईसाइयों के सामने यह बात करनी पड़ती है। परन्तु हिन्दुओं के सामने भी यही बात करनी पड़ती है। कितने ही ईसाई तो मुझसे कहते हैं कि हजरत ईसा की निर्वैरता का उपदेश केवल उनके बारह शिष्यों के ही लिए था। हिन्दुस्तान में अहिंसा के विराधी लोग कहते हैं कि अहिंसा से नामर्दी फैलेगी। मैं आपसे कहने के लिए आया हूं कि यदि भारतवर्ष अहिंसक न बनेगा तो उसका सर्वनाश समझिये, दूसरी तमाम कौमों का नाश समझिये। भारतवर्ष तो एक भारी भूखण्ड है। वह यदि हिंसक हो जाय तो और खण्डों की तरह वह भी दुर्बल पर सीनाजोरी करेगा और यदि ऐसा हुआ तो इसका क्या फल होगा, इसकी कल्पना कर लीजिये।

मेरी राष्ट्रीयता में प्राणि-मात्र का समावेश होता है। संसार की समस्त जातियों का समावेश होता है। और यदि मैं भारतवर्ष अहिंसा का कायल कर सकूं तो भारत सारे जगत् को भी चमत्कार दिखा सकेगा। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रों की चिता-भस्म पर खड़ा हो। मैं चाहता हूं कि भारत आत्म-बल प्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रों को बलवान बनावे। दूसरे राष्ट्र हमें बल का मार्ग नहीं दिखा रहे हैं। इसीलिए मुझे इस अचल सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधान को स्वीकार न करूंगा, जिसका आधार पशु-बल हो।

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चौदह सिद्धान्तों की रचना की और उसपर कलश चढ़ाते हुए कहा, "यदि हम इसमें सफल न हों तो फिर हथियार तो है ही।" मैं इसे उलट कर कहना चाहता हूं, "हमारे सब

पार्थिव शस्त्र बेकार हुए हैं, किसी नये शस्त्र को खोजें | चलो, अब प्रेम का शस्त्र—सत्य का शस्त्र—लें। यह शस्त्र जब हमें मिल जायगा तब हमें दूसरे किसी शस्त्र की जरूरत न रहेगी।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अगस्त १९१५

४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हम सब पाप से युक्त हैं। फिर भी हम चाहते हैं कि संसार हमें सहन करे, निबाहे। तब अंग्रेजों को भी हम क्यों न निबाह लें ? ईश्वर जानता है कि अंग्रेज राज-कर्त्ताओं के पाप की टीका मुझसे अधिक सख्त और निडर दूसरे किसी ने न की होगी, वर्तमान शासन-प्रथा की दुष्टता की निन्दा मुझसे अधिक कठोर किसी ने न की होगी। फिर भी उस प्रथा के प्रवर्तकों या संचालकों से मुझे जरा भी घृणा नहीं। अपने विषय में तो मेरा दावा है कि मैंने उनके प्रति प्रेम रक्खा है और फिर भी उनके अपराध के प्रति मैं अन्धा नहीं। हम प्रेम तभी करें जब किसी में गुण हो, तो क्या इसे प्रेम कह सकते हैं ? यदि मैं अपने धर्म का पालन करने वाला हूं, यदि मैं मानव-जाति के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करता हूं तो मुझे मनुष्य-जाति की दोष-पात्रता, अपने विरोधियों की न्यूनता और पाप के देखने पर उनके प्रति घृणा नहीं, बल्कि प्रेम करना चाहिए। मैंने तो प्रचलित शासन-प्रणाली को 'राक्षसी' कहा है और अब भी कहता हूं, परन्तु इसलिए यदि उस के संचालकों को सजा दिलाने को षड्यन्त्र रचने लगूं तो बस मेरा खात्मा समझिये। असहयोग द्वेष या घृणा का मंत्र नहीं, प्रेम का मंत्र है। कितने ही सत्याग्रही और असहयोगी केवल नामधारी हैं, यह मैं जानता हूं। वे कदम-कदम पर अपने धर्म का ध्वंस करते हैं, यह मुझे पता है। परन्तु इस प्रेम-मंत्र के रहस्य के विषय में तो बिल्कुल संदेह ही नहीं है। इसका रहस्य यह है कि स्वयं कष्ट उठा कर विराधी को जीतना, स्वयं संकट सहन कर जालिम को नम्र बनाना। सत्याग्रह का रहस्य यही है कि जो धर्म पिता और पुत्र में है, वही एक समूह का दूसरे समूह के प्रति, शासक और शासित में पालन किया जाय। पुत्र पिता के और पिता पुत्र के प्रति अपनी आंख मूंद रक्खे तो उसका प्रेम अन्धा है, पर उसके पाप को जानते हुए यदि प्रेम से उसे जीते, तभी उस प्रेम में विवेक है। यह विवेक-युक्त प्रेम सुधारक का प्रेम है और यह प्रेम सब दुःखों के निवारण की कुंजी है।

हिन्दी नवजीवन
१० सितम्बर १९२५

५. प्रिय और अप्रिय सत्य

हाल ही में प्रकाशित हुए एक लेखक के एक पत्र में से मैंने कुछ वाक्य निकाल डाले थे। उसके सिलसिले में वे शिकायत करते हैं:

"मेरे उस पत्र से आपने जो कुछ अंश निकाल डाला, उसके होते हुए भी मैं कहता हूं कि आपको भेजे अपने तमाम पत्रों में और खासकर उनमें, जिनका संबंध जातिगत प्रश्नों से है, मैंने 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न बूयात सत्यम प्रियम्' इस दूरदृष्टि-पूर्ण वचन का पालन नहीं किया है, बल्कि विलियम लॉयड गैरिसन की उस उक्ति का पालन किया है, जो कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' बम्बई का ध्येय-सूत्र है – मैं सत्य की तरह कठोर-अप्रिय बोलूंगा और न्याय की तरह अटल आग्रही रहूंगा, आदि।"

मैं अप्रिय सत्य का ख्याल नहीं करता। हां, तीखे, चटपटे सत्य पर जरूर मेरा ऐतराज है। तीखी, चटपटी भाषा सत्य के नजदीक उतनी ही विजातीय है, जितनी कि नीरोग जठर के लिए तेज मिर्च। जो वाक्य मैंने हटा लिये थे, वे लेखक के आशय को स्पष्ट करने के लिए या उसमें से कोई मुद्दा निकालने के लिए आवश्यक न थे। वे न तो उपयोगी थे, न आवश्यक, उल्टा दिल दुखाने वाले थे। ऐसा विचार करने का रिवाज-सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलने के लिए मनुष्य को अप्रिय भाषा का प्रयोग करना चाहिए, हालांकि जब सत्य अप्रियता के साथ में उपस्थित करते हैं तब उसको हानि पहुंचती है। यह ऐसा ही है जैसा कि शक्ति को सहारा देना। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान् है और जब कड़े शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। मुझे उस संस्कृत-वचन में और गैरिसन के सूत्र में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। मेरी राय में संस्कृत-श्लोक का अर्थ है कि मनुष्य को सत्य प्रिय-मृदु-भाषा में बोलना चाहिए। यदि मृदुलता से ऐसा न कर सके तो बेहतर है कि वह चुप रहे। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अपनी जिव्हा को कब्जे में नहीं रख सकता, उसमें सत्य का अधिष्ठान नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो "अहिंसा-शून्य सत्य, नहीं, बल्कि असत्य है।" गैरिसन के सूत्र का अर्थ उसके जीवन को सामने रखकर लगाना चाहिए। वह अपने समय का एक नम्र-से-नम्न मनुष्य था। उसकी भाषा को देखिये, वह सत्य की ही तरह कठोर होगी, पर चूंकि सत्य वही होता है, जोकि कभी कठोर नहीं होता, बल्कि हमेशा प्रिय और हितकर होता है, उस सूत्र का यही अर्थ हो सकता है कि गैरिसन उतना ही नम्र होगा, जितना कि सत्य। बस, दोनों वचन वक्ता या लेखक की आंतरिक अवस्था से सम्बन्ध रखते

हैं, उस प्रभाव से नहीं, जोकि उन लोगों पर पड़ेगा, जिनके सम्बन्ध में वह लिखा या कहा गया हो. . . इन दिनों, जबकि चारों ओर कटुता फैली हुई है, अति सावधानी से भी कोई भारी बात नहीं कही जा सकती। और आखिर पूर्ण सत्य को जानता ही कौन है ? मामूली व्यवहारों में तो सत्य सिर्फ एक सापेक्ष शब्द है। जो बात मेरे नजदीक सत्य नहीं हो सकती, वही आवश्यक रूप से मेरे अन्य साथियों के नजदीक सत्य नहीं हो सकती। हम सब उन अंधे आदमियों की तरह हैं, जिन्होंने हाथी को टटोल-टटोलकर उसका जुदा-जुदा वर्णन किया था और उनकी बुद्धि और विचार के अनुसार वे सब सच थे, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि वे सब गलती पर थे। हर आदमी सत्य से बहुत दूर रहा था। इसलिए यदि कोई आदमी कटुता से बचते रहने की आवश्यकता पर जोर दे तो वह कुछ ज्यादा बात नहीं कही जा सकती। कटुता से कल्पना-पथ मलिन हो जाता है और मनुष्य उस मर्यादित सत्य को भी देखने में उस हद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हद तक कि शरीर से अंधे मनुष्य देख पायें।

हिन्दी नवजीवम
१७ सितम्बर, १९२५

६. यह सुधार है ?

एक लेखक, जिन्हें मैं अच्छी तरह पहचानता हूं, इस प्रकार लिखते हैं :

"बार-बार मन में यही सवाल होता है कि क्या प्रचलित नीति प्राकृतिक नीति है ? आपने नीति-धर्म की पुस्तक लिखकर प्रचलित नीति का समर्थन किया है। क्या यह प्रचलित नीति कुदरती है ? मेरा तो यह खयाल है कि वह कुदरती है, क्योंकि वर्तमान नीति के कारण ही मनुष्य विषय-विकार में पशु से भी अधम बन गया है। आज की नीति की मर्यादा के कारण संतोषकारक विवाह शायद ही कहीं होता होगा, नहीं होता है, यह कहूं तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। जब विवाह का नियम न था, उस समय कुदरत के नियमों के अनुसार स्त्री-पुरुषों का समागम होता था और वह समागम सुख-रूप होता था। आज नीति के बन्धनों के कारण वह समागम एक प्रकार का दु:ख हो गया है। इस दु:ख में सारा जगत् फंसा हुआ है और फंसता जा रहा है।

"अब नीति कहेंगे किसे ? एक नीति दूसरे की अनीति होती है। एक एक ही पत्नी के साथ विवाह का होना स्वीकार करता है, दूसरा अनेक पत्नी करने की इजाजत देता है। कोई काका-मामा की सन्तानों के साथ विवाह-सम्बन्ध को त्याज्य मानते हैं तो कोई उसके लिए इजाज़त भी देते हैं। तो अब इसमें नीति क्या समझनी चाहिए ? मैं तो यह कहता हूं कि विवाह एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था है, उसका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराने जमाने के महापुरुषों ने देशकालानुसार नीति की व्यवस्था की थी।

"अब इस नीति के कारण जगत् की कितनी हानि हुई है, इसकी जांच करें :

(१) प्रमेह (सुज़ाक) उपदंश (गरमी) इत्यादि रोग उत्पन्न हुए। पशुओं में ये रोग नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक समागम होता है।

(२) बाल-हत्याएं करायीं। यह लिखने में मेरा हृदय कांप उठता है। केवल इस नीति के नियम के कारण ही तो एक कोमल हृदय की माता क्रूर बनकर अपने बालक का गर्भ में या उसके गर्भ के बाहर आने पर नाश करती है।

(३) बाल-विवाह, वृद्ध पति के साथ छोटी उम्र की लड़कियों का विवाह इत्यादि पसन्द न करने योग्य समागमों का होना। ऐसे समागमों के कारण ही आज संसार और उसमें भी विशेषकर भारतवर्ष, दुर्बल बना हुआ है।

(४) जर, जोरू और ज़मीन के तीन प्रकार के झगड़ों में भी जोरू के लिए किये गए झगड़ों को प्रथम्र स्थान प्राप्त है। ये भी वर्तमान नीति के कारण ही होते हैं।

"उपरोक्त चार कारणों के सिवा दूसरे कारण भी होंगे। यदि मेरी दलील ठीक है तो क्या प्रचलित नीति में कोई सुधार नहीं किया जाना चाहिए ?

"ब्रह्मचर्य को आप मानते हैं, यह ठीक ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य राजी-खुशी का होना चाहिए, जबर्दस्ती का नहीं। और हिन्दू लोग लाखों विधवाओं से जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य का पालन कराते हैं। इन विधवाओं के दु:खों को तो आप जानते ही हैं। आप यह भी जानते हैं कि इसी कारण से बाल-हत्याएं होती हैं। यदि आप पुनर्विवाह के लिए एक बड़ी हलचल करें तो क्या बुरा ? उसकी आवश्यकता भी कुछ कम नहीं है। आप उसके प्रति जितना चाहिए, उतना ध्यान क्यों नहीं दे रहे हैं ?"

मैं यह खयाल करता हूं कि लेखक ने ऊपर जो प्रश्न पूछे हैं, इस विषय पर मुझसे कुछ लिखाने के लिए ही पूछे हैं, क्योंकि ऊपर के लेख में जिस पक्ष का समर्थन किया गया है, उसका लेखक स्वयं ही समर्थन करते हों तो इसकी मुझे कभी बू तक नहीं मिली है, परन्तु मैं यह जानता हूं कि उन्होंने जैसे प्रश्न पूछे हैं, वैसे प्रश्न आजकल भारतवर्ष में भी हो रहे हैं। उसकी उत्पत्ति पश्चिम में हुई, और विवाह को पुरानी, जंगली और अनीति की वृद्धि करने वाली प्रथा मानने वालों की संख्या पश्चिम में कुछ कम नहीं है। शायद वह संख्या बढ़ रही होगी। विवाह को जंगली साबित करने के लिए पश्चिम में जो दलीलें दी जाती हैं, उन सब दलीलों को मैंने नहीं पढ़ा है। परन्तु ऊपर लेखक ने जैसी दलीलें की हैं, वैसी ही वे दलीलें हों तो मेरे-जैसे पुराण-प्रिय को (अथवा यदि मेरा दावा कुबूल रक्खा जाय तो सनातनी को) उनका खण्डन करने में कोई मुश्किल या पसोपेश न होगा।

मनुष्य की तुलना पशु के साथ करने में ही मूलत: गलती होती है। मनुष्य के लिए जो नीति और आदर्श रक्खे गये हैं, वे बहुतांश में पशु-नीति से जुदा हैं। और उत्तम हैं और यही मनुष्य की विशेषता है अर्थात् कुदरत के नियमों का जो अर्थ पशु-योनि के लिए किया जा सकता है, वह मनुष्य-योनि के लिए

हमेशा नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ने मनुष्य को विवेक-शक्ति दी है। पशु केवल पराधीन है। इसलिए पशु के लिए स्वतंत्रता अथवा अपनी पसंदगी-जैसी कोई चीज़ नहीं है। मनुष्य की अपनी पसन्दगी होती है। वह सार-असार का विचार कर सकता है और उसके स्वतंत्र होने से उसे पाप-पुण्य भी लगता है, और जहां उसकी अपनी पसन्दगी रक्खी गयी है, वहां उसे पशु से भी अधम बनने का अवकाश रहता है। उसी प्रकार यदि वह अपने दिव्य स्वभाव के अनुकूल चले तो वह आगे भी बढ़ सकता है। जंगलियों में भी जंगली दीखने वाली कौमों में भी थोड़े-बहुत अंशों में विवाह का अंकुश होता है। यदि यह कहा जाय कि यह अंकुश रखने में ही जंगलीपन है, क्योंकि पशु किसी अंकुश के वश नहीं होते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि स्वच्छन्दता ही मनुष्य का नियम बन जायगा। परन्तु यदि सब मनुष्य चौबीस घण्टे तक भी स्वेच्छाचारी बनकर रहें तो सारे जगत् का नाश हो जायगा। न कोई किसी की मानेगा, न सुनेगा, स्त्री और पुरुष में मर्यादा का होना अधर्म गिना जायगा, और मनुष्य का विकार तो पशु के बनिस्बत कहीं अधिक होता है। इस विकार की लगाम ढीली कर दी कि उसके वेग से उत्पन्न होने वाला अग्नि ज्वालामुखी की तरह भभक उठेगा और संसार को क्षण मात्र में भस्म कर देगा। थोड़ा-सा विचार करने पर यह मालूम होगा कि मनुष्य इस संसार में दूसरे अनेक प्राणियों पर जो अधिकार प्राप्त किये हुए हैं, वह केवल संयम, त्याग और आत्मबलिदान, यज्ञ और कुरबानी के कारण ही प्राप्त किये हुए हैं।

उपदेश, प्रमेह इत्यादि का उपद्रव विवाह के नियमों का भंग करने से और मनुष्य के पशु न होने पर भी पशु का अनुकरण करने में दोषी बन जाने से ही होता है। विवाह के नियमों का पालन करने वाले ऐसे एक भी शख्स को मैं नहीं जानता हूं, जिसे इन भयंकर रोगों का शिकार होना पड़ा हो। जहां-जहां ये रोग हुए हैं, वहां-वहां अधिकांश में विवाह-नीति की भंग करने से ही वे हुए हैं अथवा उस नीति का भंग करने वालों के स्पर्श से ही हुए हैं। वैद्यक शास्त्र से यह बात सिद्ध होती है। बाल-विवाह और बाल-हत्या का निर्दय रिवाज इस विवाह-नीति के कारण नहीं, परन्तु विवाह-नीति के भंग से ही उस रिवाज की उत्पत्ति हुई है। विवाह-नीति तो यह कहती है कि जब पुरुष अथवा स्त्री योग्य वय के हों, उन्हें प्रजोत्पत्ति की इच्छा हो, उनका स्वास्थ्य अच्छा हो, तभी वे अमुक मर्यादा का पालन करते हुए अपने लिए योग्य पत्नी या पति ढूंढ़ लें अथवा उनके माता-पिता उसका प्रबन्ध कर दें। जो साथी ढूंढ़ा जाय, उसमें भी आरोग्य इत्यादि के गुणों का होना आवश्यक है। इस विवाह-नीति का पालन करने वाले मनुष्य,

संसार में चाहे कहीं भी जाओ और देखो, सुखी ही दिखायी देंगे। जो बात बाल-विवाह के सम्बन्ध में है, वही वैधव्य के सम्बन्ध में भी है। विवाह-नीति के भंग से ही दु:खरूप वैधव्य उत्पन्न होता है जहां विवाह शुद्ध होता है वहां वैधव्य अथवा विधुरता सहज सुख-रूप और शोभा-रूप होती है। जहां ज्ञानपूर्वक विवाह-सम्बन्ध जोड़ा गया है, वहां वह सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं होता है, वह आत्मिक हो जाता है और देह छूट जाने पर भी आत्मा का सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता है। जहां इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वहां पुनर्विवाह असम्भव है, अयोग्य है और अधर्म है। जिस विवाह में उपर्युक्त नियमों का पालन नहीं होता है, उस विवाह के सम्बन्ध को विवाह का नाम नहीं दिया जाना चाहिए। और जहां विवाह नहीं होता है, वहां वैधव्य अथवा विधुरता-जैसी कोई चीज ही नहीं होती है। यदि हम ऐसे आदर्श विवाह बहुत होते हुए नहीं देखते हैं तो उससे विवाह की प्रथा का नाश करने का कोई कारण नहीं दिखायी देता है। हां, उसे उत्तम आदर्श के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करने के लिए वह एक सबल कारण अवश्य हो सकता है।

सत्य के नाम से असत्य का प्रचार करने वालों की संख्या को देखकर यदि कोई सत्य का ही दोष निकाले और उसकी अपूर्णता सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अज्ञानी कहेंगे। उसी प्रकार विवाह के भंग के दृष्टान्तों से विवाह-नीति की निन्दा करने का प्रयत्न भी अज्ञान और अविचार का ही चिन्ह है।

लेखक कहते हैं कि विवाह में धर्म या नीति कुछ भी नहीं है, वह तो एक रूढ़ि अथवा रिवाज है, और वह भी धर्म और नीति के विरुद्ध है और इसलिए उठा देने के योग्य है। मेरी अल्प मति के अनुसार तो विवाह धर्म की मर्यादा है और उसे यदि उठा दिया जायगा तो संसार में धर्म-जैसी कोई चीज़ ही न रहेगी। धर्म की जड़ ही संयम अथवा मर्यादा है। जो मनुष्य संयम का पालन नहीं करता है, वह धर्म को क्या समझेगा ? पशु के बनिस्बत मनुष्य में बहुत ही अधिक विकार होता है। दोनों में जो विकार है उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती है। जो मनुष्य विकारों को अपने वश में नहीं रख सकता है, वह मनुष्य ईश्वर को पहचान ही नहीं सकता है। इस सिद्धान्त का समर्थन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि जो लोग ईश्वर का अस्तित्व अथवा आत्मा और देह की भिन्नता को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए विवाह-बन्धन की आवश्यकता को सिद्ध करना बड़ा ही मुश्किल काम है। परन्तु जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसका विकास करना चाहता

है, उसे यह समझाने की कोई आवश्यकता न होगी कि देह का दमन किये बिना आत्मा की पहचान और उसका विकास असम्भव है। देह या तो स्वच्छन्दता का भाजन होगा अथवा आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र होगा। यदि वह आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र है तो स्वेच्छाचार के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं है। देह को प्रतिक्षण आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ज़मीन, जोरू और ज़र ये तीनों वहीं झगड़े का कारण होते हैं, जहां संयम-धर्म का पालन नहीं होता है। विवाह की प्रथा को जितने अंशों में मनुष्य आदर की दृष्टि से देखते हैं, उतने अंशों में स्त्री झगड़े का कारण होने से बच जाती है। यदि पशु की तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष भी जहां जैसा चाहे, वैसा व्यवहार रख सकते होते तो मनुष्यों में बड़ा झगड़ा होता और वे एक-दूसरे का नाश करते। इसलिए मेरा तो यह दृढ़ अभिप्राय है कि जिस दुराचार और जिन दोषों का लेखक ने उल्लेख किया है उसकी औषधि विवाह-धर्म का छेदन नहीं है, परन्तु विवाह-धर्म का सूक्ष्म निरीक्षण और पालन है।

किसी जगह रिश्तेदारों में विवाह-सम्बन्ध जोड़ने की स्वतंत्रता होती है और किसी जगह ऐसी स्वतंत्रता नहीं होती। यह सच है, यह नीति की भिन्नता है। किसी जगह एक पत्नी-व्रत का पालन करना धर्म माना जाता है और किसी जगह एक समय में अनेक पत्नी करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। यह बात चाहने योग्य है कि ऐसी नीति की भिन्नता न हो, परन्तु यह भिन्नता हमारी अपूर्णता की सूचक है, नीति की अनावश्यकता की सूचक कभी नहीं। ज्यों-ज्यों हम अधिक अनुभव करते जायंगे, त्यों-त्यों सब कौमों की और सभी धर्मों के लोगों की नीति में ऐक्य होता जायगा। नीति के अधिकार का स्वीकार करने वाला जगत् तो आज भी एक-पत्नी-व्रत को आदर की दृष्टि से देखता है। किसी भी धर्म में अनेक पत्नी करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ अनेक पत्नी करने की इजाजत ही है। देश और समय को देखकर अमुक इजाजत दी जाय तो उससे आदर्श कुछ कुछ बिगड़ता नहीं है और न उसकी कोई भिन्नता ही सिद्ध होती है।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मैं अपने विचारों को अनेक बार प्रकाशित कर चुका हूं। बाल-विधवा के-पुनर्विवाह को मैं इष्ट मानता हूं यही नहीं, मैं यह भी मानता हूं कि उनकी शादी कर देना उनके माता-पिता का कर्तव्य है।

हिन्दी नवजीवन, २९ अप्रैल १९२६

७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि

वह शिक्षक, जिन्होंने अपने शिष्यों को चरखा चलाना इसलिए सिखाया था कि मेरी आज्ञा है, लिखते हैं :

"२४ जून १९२६ के 'यंग इंडिया' में 'महात्माजी का हुक्म' शीर्षक आपका लेख पढ़कर निम्नलिखित शंकाएं मेरे मन में उत्पन्न हुई :

"आप विवेक को बहुत प्रधानता देते हैं। क्या आपने 'यंग इंडिया' अथवा 'नवजीवन' में यह भी नहीं लिखा था कि विवेक इंग्लैण्ड के राजा की तरह इन्द्रिय-रूपी अपने मन्त्रियों के हाथ में सोलहों आने है ? क्या आदमी प्राय: उसी दिशा में तर्क नहीं करता, जिस दिशा में उसकी इन्द्रियां उसे ले जाती हैं ? तब फिर आप बुद्धि को पथ-प्रर्दशक कैसे करार दे सकते हैं ? क्या आपने यह नहीं कहा है कि तर्क विश्वास के बाद आता है ? "इसलिए यदि किसी व्यक्ति में कातने की रुचि नहीं है तो उसे न कातने के पक्ष में दलीलें भी मिल जायंगी। छोटे बच्चे की विचार-शक्ति पर अधिक जोर डालना कहां तक वांछनीय है ? महान् सुधारक रूसी ने कहा था कि बचपन बुद्धि की सुषुप्तावस्था है। इसलिए यह बाल्यकाल में अच्छी आदतों को महज सिखाने के पक्ष में थे। और निस्सन्देह, लड़कों को किसी महात्मा के हुक्म के अनुसार काम करना सिखाना-और फिर खास तौर पर तब, जबकि उस महात्मा के उपदेश में शारीरिक श्रम के लिए स्थान हो-तो एक सुटेव का ही डलवाना है। जब बच्चे बड़े होंगें, तब वे कातने के पक्ष में बहुत-सी बातें ढूंढ निकालेंगे। लेकिन तबतक के लिए क्या अन्ध वीरोपसना का भाव (जैसा कि आप उसे कहना चाहते हैं) उनमें जाग्रत करना ठीक न होगा ? क्या हम लोगों ने आजकल बुद्धि को एक खिलवाड़-सा नहीं बना रक्खा है ? सड़ी-गली-सी बातों के लिए हम लम्बी-चौड़ी दलीलें ढूंढ़ने में माथा-पच्ची करते हैं और तब भी सन्तुष्ट नहीं होते। बुद्धि का बेशक एक स्थान है, परन्तु जो स्थान आजकल हम लोगों ने उसे दे रक्खा है, उससे कहीं नीचा है।

"जबतक कि किसी व्यक्ति को पक्के तौर पर यह न याद हो कि वह पहले अमुक सम्बन्ध में क्या कह चुका है और किस परिस्थिति में, तबतक अपने ही विरुद्ध वाक्य ____ करना ठीक नहीं है।"

जो-जो बातें उक्त सज्जन मेरे द्वारा लिखित बतलाते हैं, वे बेशक मैंने किसी-न-किसी समय लिखी हैं, परन्तु बिल्कुल दूसरी ही परिस्थिति में। जबकि कोई बात कारण-सहित बिल्कुल अच्छी तरह से बतलाना सम्भव है, यहां तक कि बच्चे भी खूब अच्छी तरह से उसे समझ सकते हों, तो किसी विद्वान के नाम पर उसे बतलाने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देने का कोई कारण नहीं है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। हरेक व्यक्ति अपनी रुचि और अरुचि रखता है और जबकि कोई व्यक्ति 'वीर' में श्रद्धा रखने लगे, तब वह अपने विवेक को विदा कर देता है और उसका यह खिलवाड़ बना लेता है। इसी को मैं अन्ध वीरोपासना कहता हूं। वीरोपासना एक उत्तम गुण है। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति बिना आदर्श के उन्नति नहीं कर सकता है। उसके लिए 'वीर' प्रकाशदायक और उत्साहवर्धक हुआ करता है। वह भाव को कार्य में परिणत करना सम्भव करता है और शायद बिना उसके, लोग अपनी कमजोरी के कारण कार्य करने पर उद्यत न होते। वह हमको निराशा की दलदल से उबारता है, उसके कृत्यों का स्मरण हममें असीम त्याग करने का बल भरता है। परन्तु यह कदापि न होना चाहिए कि वह विवेक को नष्ट कर दे और हमारी बुद्धि को पंगु बना दे। हममें से उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट आत्माओं के कथनों तथा कार्यों तक को हमें अच्छी तरह कसौटी पर कस लेना चाहिए, क्योंकि वे 'वीर' आखिर मनुष्य और नाशवान् हैं। वह भी ठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं, जैसी कि हममें से अधम-से अधम। उनकी उत्तमता तो उनकें निर्णय तथा काम करने की उनकी शक्ति में है। इसलिए जब वे गलती करते हैं, तब परिणाम बड़ा भयंकर होता है। वे उस व्यक्ति या राष्ट्र का नाश मार देते हैं जो कि अन्ध वीरोपासना करने की आदत में हैं और बिना सोचे-समझे तथा बिना शंका तक किये उसकी सब बातों को मान लेते हैं। इसलिए वीरोपासना के प्रति अन्धभक्ति विवेक की अन्धभक्ति से ज्यादा खराब है। सच बात यह है कि विवेक की अन्धभक्ति कोई चीज है ही नहीं। परन्तु उक्त शिक्षक की, विवेक-सम्बन्धी चेतावनी से एक लाभ हुआ है – यह देखते हुए कि अधिकांश रूप से विवेक व्यवहार का एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, यह आवश्यक है कि उसके मंत्री आज्ञाकारी एवं शुद्ध हों। इसलिए इन्द्रियों को कठोर संयम द्वारा वश में कर लेना चाहिए, ताकि विवेक का आज्ञा-पालन वे खुशी से किया करें, न कि यह कि उल्टे विवेक को उनका निस्सहाय गुलाम होना पड़े।

माना कि बच्चों की विवेक-शक्ति सुषुष्तावस्था में होती है, परन्तु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेम से जाग्रत कर सकता तथा उसे शिक्षित बना सकता है। वह बच्चों में संयम की टेव डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि उनकी इन्द्रियों के वशीभूत न होकर बचपन से ही उनकी पथ-प्रदर्शक बन जाय | बच्चों से किसी वीर के उपदेश के अनुसार चलने को कहना कोई संयम नहीं है। उससे किसी आदत का बीजारोपण नहीं होता। वे बच्चे, जिन्हें किसी काम को बिना सोचे-समझे ही करना सिखाया जाता है, काहिल हो जाते हैं। और यदि दैवात् कहीं दूसरा शिक्षक उन बच्चों के चित्त-रूपी सिंहासन से वीर-रूपी उस राजा को च्युत करा दे, जिसको पहला शिक्षक वहां आसीन कर गया था, तब तो जानो, वे अपने भावी जीवन में किसी काम के नहीं रहे । और यदि शुरू से हो, जो कुछ उनको बतलाया जाय, अच्छी तरह समझाया जाय और उसके बाद उनके सामने उन पुरुषों के उदाहरण पेश किये जायं, जिन्होंने महान् काम किये हैं, ताकि उनके संकल्प में प्राबल्य आवे या विवेक की पुष्टि हो, तो सम्भव है कि शक्तिशाली और चारित्र्यवान् नागरिक बनें और कठिन अवसरों पर दृढ़ रह कर अपना मुख उज्जवल करें।

हिन्दी नवजीवन
२९ जुलाई १९२६

८. प्रतिज्ञा का रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं :

"हम जिस काम को कर सकते हैं और करने की इच्छा भी करते हैं, परन्तु फिर भी कर नहीं पाते और जब उस कार्य के करने का समय आता है तो मन की कमजोरी से या स्मरण रहने पर भी हम उसकी अवहेलना कर देते हैं। ऐसा उपाय बताइये कि हम उस कार्य को करने के लिए बाधित हो जायं और अवश्य करें।"

ऐसा प्रश्न किसके मन में उत्पन्न न होता होगा ? परन्तु प्रश्न में गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्य की उन्नति करती है, इसका केवल एकमात्र कारण यह है कि प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भंग होने की गुंजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद अगर उसके भंग होने की गुंजाइश न हो तो पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान न रहे। संकल्प तो संकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप-रूपी है। दीप की ओर लक्ष्य रक्खे तो अनेक तूफानों में से गुजरते हुए भी मनुष्य उबर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफान को शान्त नहीं कर सकता है, तो भी वह उस तूफान के बीच से उसके सुरक्षित रूप से निकल जाने की शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्य का संकल्प हृदय-रूपी समुद्र में उछाल मारती हुई तरंगों से बचाने वाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालत में संकल्प-कर्त्ता का पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न ढूंढे मिला है और न वह मिलने वाला ही है। यही बात उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो सत्य और यमनियमादि की जो महत्ता है, वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में अथवा लाख दस लाख रुपया एकत्र करने में मनुष्य भारी प्रयत्न करता है, उत्तरी ध्रुव-जैसी साधारण वस्तु का दर्शन करने के लिए अनेक मनुष्य अपनी जान-माल को जोखिम में डालने में भय नहीं खाते हैं, तो राग-द्वेष आदि रूपी महाशत्रुओं को जीतने के लिए उपर्युक्त प्रयत्नों की अपेक्षा सहस्त्र गुना प्रयत्न करना पड़े तो उसमें आश्चर्य और क्षोभ क्यों हो ? इस प्रकार की अमर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न करने में ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तरी ध्रुव का दर्शन न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है, किन्तु जबतक शरीर में प्राण रहे तबतक राग-द्वेष इत्यादि को जीतने में जितना प्रयत्न किया जाय, उतना हमारी प्रगति का ही सूचक है। ऐसी वस्तु के लिए स्वल्प प्रयत्न भी निष्फल नहीं होता है, ऐसा भगवान का वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थी को तो इतना ही आश्वासन दे सकता हूं कि उनको प्रयत्न करते हुए हरगिज निराश न होना चाहिए, और न संकल्प को छोड़ना चाहिए, बल्कि 'अशक्य' शब्द को अपने शब्दकोश से पृथक कर देना चाहिए। संकल्प का स्मरण यदि भूल जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका पूरा ख़याल रखना चाहिए कि जहां भूले, वहीं से फिर चले या मन में दृढ़ विश्वास रक्खे कि अन्त में जीत तो उसी की होगी। आजतक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नहीं बतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है, वरन् सबने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकार कर बतलाया है कि अन्त में सत्य की जय होती है। उस अनुभव का स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए जरा भी संकोच न करना चाहिए और शुभ संकल्प करते हुए किसी को डरना भी न चाहिए। पं. रामभजदत्त चौधरी एक कविता लिखकर छोड़ गये हैं। उसका एक पद यह है:

"कधि नहिं हारना भावे साडी जान जावे।"

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

९. भिखारी साधु

लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भिखारी साधु' शब्द में विरोध का आभास होना सम्भव है। लेकिन आजकल तो साधु वही कहलाते हैं, जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं – चाहे उनका हृदय भी गेरुआ हो या न हो, स्वच्छ हो या मैला हो। 'साधु' शब्द का सच्चा अर्थ तो यह है कि जिसका हृदय साधु या पवित्र हो। परन्तु ऐसे सच्चे साधु तो हमको शायद ही मिलते हैं। भगवा वस्त्रवाला असाधु साधु भीख मांगता तक नजर आता है। इसलिए इस प्रकार की भीख मांगने वालों के लिए 'भिखारी साधु' शब्द का प्रयोग किया गया है। उन्हीं के विषय में एक भाई लिखते हैं :

"आप चरखे की प्रवृत्ति से अनेक बातें सिद्ध करने की इच्छा करते हैं। सभी धर्म के लोगों में से क्या छोटे क्या बड़े भेद मिटाने का साधन आप चरखे को समझते हैं और यह सब ठीक है, लेकिन आज शक्ति होते हुए भी बहुत-से भिखमंगे केवल प्रमादवश हिन्दुस्तान में बढ़ रहे हैं और उनको आप चरखा क्यों नही बताते हैं ? कोई ऐसी संस्था क्यों नहीं खोलते हैं कि जिसमें जो भिखारी आवे, वह कुछ उद्योग सीख करके अन्न पा सके ? ऐसी कोई संस्था होगी तो दान देने की शक्ति वाले लोग भिखारियों को चिट्ठी देकर उसी संस्था में भेज देंगे और उन्हें वहां उद्यम और अन्न मिलेगा।"

यह बात तो सुन्दर है, पर उसपर अमल कौन करेगा ? गरीब लोगों में चरखे का प्रवेश करने में जितनी कठिनाई है, उनसे अधिक कठिनाई भिखारी साधुओं में चरखा फैलाने में है, क्योंकि उसमें धर्मभावना बदलने की बात आ जाती है। ये धनवान लोग यह समझते हैं कि झोली वालों की झोली में थोड़े बहुत जो कुछ पैसे डाल दिये, बस उतना परोपकार हो गया, पुण्य हुआ। उनको कौन समझाये कि ऐसा करने में उपकार के बदले अपकार और धर्म के स्थान पर अधर्म होता है। पाखण्ड बढ़ता है। छप्पन लाख नामधारी साधुओं में सेवा-भाव जाग्रत हो जाय, वे उद्यम करके ही रोटी खायें तो हिन्दुस्तान के स्वयं सेवकों का एक जबर्दस्त लश्कर बना तैयार मानो। गेरुआ वस्त्रधारी लोगों को यह बात समझाना लगभग दु:साध्य है। उनमें भी तीन प्रकार के लोग हैं। उनका एक बहुत बड़ा भाग पाखण्डी और केवल आलसी बन कर मालपुआ खाने की इच्छा रखता है। दूसरा भाग कुछ जड़ है और यह मानने वाला है कि भगवा वस्त्र और परिश्रम, ये दोनों बातें आपस में मेल नहीं खातीं। तीसरा भाग, जो कि बहुत छोटा है, वह सच्चे त्यागियों का है, परन्तु ये लोग बहुत समय से यही समझते चले-आये हैं कि सन्यासी से

परोपकार के लिए भी उद्योग नहीं हो सकता। यदि यह तीसरा, छोटा भाग उद्योग का मूल्य समझ जाय तो भूतकाल में चाहे जो भी हुआ हो – "इस युग में तो सन्यासी को उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उद्योग करना आवश्यक है", यदि यह बात यह छोटा वर्ग समझ जाय तो मान लो कि दूसरे दोनों वर्ग भी सुधर जायंगे। परन्तु इस वर्ग को ऐसा समझाना बहुत कठिन है। कार्य धैर्य से तथा उस वर्ग की अनुभव-प्राप्ति के साथ होगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब हिन्दुस्तान में चरखे का करीब-करीब साम्राज्य हो जायगा, तब यह वर्ग इसकी शरण जायगा।

चरखे के साम्राज्य के अर्थ हैं हृदय-साम्राज्य और हृदय-साम्राज्य के अर्थ हैं धर्म-वृद्धि। धर्म-वृद्धि होने पर यह छोटा सन्यासी-वर्ग उसे बिना पहचाने रहेगा ही नहीं ।

जितनी कठिनाई सन्यासी वर्ग को समझाने में रही है, लगभग उतनी ही धनिक लोगों को समझाने में रही है। धनिक लोग यदि अपना धर्म समझ जायं, आलस्य को उत्तेजना न दें और उन भिखारियों को अन्न न देकर उद्यम ही दें तो चरखे का साम्राज्य आज ही स्थापित हो जाय। परन्तु धनिक लोगों से ऐसी आशा क्योंकर रक्खी जा सकती है ? धनिक लोग औरों के मुकाबले में साधारणतया आलसी रहा करते हैं और आलस्य को उत्तेजना तो देते ही हैं। उनसे जाने या अनजाने आलसी भिक्षुओं को उत्तेजना मिल जाती है। इसलिए लेखक ने सूचना तो अच्छी ही की है, परन्तु इस पर अमल करना बहुत कठिन है – इस बात पर उसने विचार नहीं किया। ऐसा कहने का यह आशय नहीं है कि हम प्रयत्न न करें, बल्कि प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यदि एक भी धनवान व्यक्ति, समझ-बूझकर आलसी लोगों को दान देना बन्द कर दे, यदि एक ही साधु जो अपंग नहीं है, उद्यम के बिना भोजन न करने का संकल्प कर ले, तो इतना हिन्दुस्तान का लाभ ही है । इसलिए जहां-जहां इस प्रकार का प्रयत्न हो सकता है, वहां-वहां करना ही उचित है। हां, कठिनाई को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें तात्कालिक फल न मिलने से निराशा न होने पावे और अपने साधन को हम निरर्थक न समझ लें।

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

१०. त्योहार कैसे मनावें ?

एक पत्र-प्रेषक चाहते हैं कि मैं उन लोगों को, जो ध्यान दें, इस बात से सचेत कर दूं कि वे इस आगामी दिवाली पर अपना पैसा पटाखे, फुलझड़ी, खराब मिठाईयों और आरोग्य के लिए हानिप्रद आतिशबाजी में बरबाद न करें। मैं इस सूचना का हृदय से स्वागत करता हूं। अगर मेरे बस की बात हो तो मैं लोगों को अपने घर और हृदय को साफ करने में लगा दूं, और उन दिनों में बच्चों के लिए निर्दोष तथा शिक्षाप्रद खेल-खिलौनों की व्यवस्था करने के लिए उनसे कहूं। मैं जानता हूं कि पटाखे और फुलझड़ी बच्चों को बड़े प्यारे होते हैं। पर वे प्यारे इसलिए हैं कि हमबड़े-बूढ़ों ने उनको इन चीजों की आदत लगा दी है। अफ्रीका के सरल-स्वभाव बालकों को मैंने कभी इन पटाखे-फुलझड़ियों को मांगते या उनकी तारीफ करते नहीं देखा। इसके बदले उनमें नाच होते हैं। बच्चों के लिए खेल-कूद और गोठ की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद और अच्छा क्या हो सकता है ? हां, इन गोठ या प्रीति-भोज में बाजार की ऐसी मिठाइयां न खायी जायं, जिनकी शुद्धता के बारे में सदा शंका ही होती है। इनके बजाय ताजे और सूखे फल खाये जायं। अमीर और गरीब बालकों को मकान साफ करने तथा उनमें सफेदी करने का काम भी जरूर सिखाया जाय। अगर उन्हें परिश्रम का गौरव बताया जाय तो यह एक अच्छी बात होगी और उसका आरंभ वे त्योहारों से ही करें। पर मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं वह यह है कि इन पटाखे-फुलझड़ियों से बचने वाला यदि सारा पैसा नहीं तो कम-से-कम उसका कुछ हिस्सा तो जरूर खादी के खरीदने में लगाना चाहिए। पर यदि इसे कोई पाप समझे तो वह पैसा और किसी ऐसे काम में लगाया जाय, जिससे गरीबों की सेवा होती हो। स्त्री-पुरुषों और बालक-बूढ़ों के लिए इससे अधिक आनन्ददायक और दूसरी बात क्या हो सकती है कि वे अपने त्योहारों के दिनों में अपने देश के गरीब-से-गरीब लोगों का ख्याल करें।

हिन्दी नवजीवन
२५ अक्तूबर १९२८

११. विचार की कीमिया

[अध्यापक जैक्स की एक किताब के आधार पर, जिसका शब्दार्थ 'विचार की कीमिया' है, 'यंग इंडिया' में श्री 'पी०' ने एक लेख लिखा है।]

विचार की कीमिया के मानी यह है कि विचार कीमिया का काम करता है। यह तो कभी नहीं कह सकता कि कोई कीमियागर कभी लोहे से सोना बना सका होगा या नहीं, किन्तु विचार तो निरन्तर कीमिया का काम करता ही जाता है। एक विचार करने से आदमी भय से फीका पड़ जाता है तो उससे उलटा दूसरा विचार करने से उसके चेहरे पर लाली आ जाती है। 'मुझे तो पेट में शूल उठा है', 'अब मेरा समय हो आया' आदि विचार मैं करूं तो तुरंत ही मेरा चेहरा उतर जायगा। मगर यह विचार करके कि 'शूल में तो कुछ नहीं है, यह तुरन्त ही मिट जायगा' मैं उसकी परवा न करूं तो इससे खुशी में ही रहूंगा। कोई परदेशी मेरे घर पर चढ़ आता है, उसके विषय में मेरे मन में शंका होती है। मैं उसे खूनी मान लेतां हूं और डर जाता हूं। मेरा लड़का आकर कहता है – 'यह तो हमारे कुटुम्ब के पुराने स्नेही हैं। बचपन से परदेश में रहने के कारण आप इन्हें पहचानते नहीं। ये आज हमारे यहां मेहमान हैं और अच्छी खबर लेकर आये हैं।" यह सुनकर मेरा मन स्वस्थ हो जाता है। पहले जिससे मैं डरता था, अब उसका आदर से स्वागत करता हूं। यह सब विचार की कीमिया है। विचार हमें घड़ी-भर में राजा बनाता है, और घड़ी-भर में ही रंक बनाता है। विचार का ऐसा साम्राज्य है। वचन की अपेक्षा शारीरिक क्रिया के बनिस्बत विचार अनन्त गुनी प्रबल शक्ति है। शारीरिक क्रिया विचार का स्थूलतम रूप है। वाचा उसका स्थूल रूप है। दोनों क्रियाएं विचार को मर्यादित करती हैं। यह जो होता है सो यथार्थ ही है। अगर ऐसा न हो तो दुनिया का नाश ही हो जाय। मगर यह तो हुआ विचार की शक्ति को बतलाने वाला सबूत। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विचार के बिना वाचा या कार्य जड़वत् वस्तु है, उनकी कोई कीमत नहीं है।

इस विचार-सरणी का अनुकरण करके अध्यापक जैक्स कहते हैं, "धर्म के समान महान् और व्यापक शक्ति पोथी में बनाये हुए नियमों का खेल नहीं है। वह 'हां' या 'ना' की तिजोरी नहीं है, विधि निषेध का भण्डार नहीं है। जो धर्म का, अहिंसा का, नीति का पालन करना चाहता है उसे तलवार की धार पर चलना है। उसके लिए अहिंसा की व्याख्या या हिज्जे का कोई शब्द-कोश नहीं है कि जिसे लेकर वह अहिंसा की परीक्षा में सोलहों-आने पूरा उतर जाय। धर्म-पालन ऐसी कुछ सही-सलामत वस्तु नहीं

है। यह तो अनुभवों की खान में दबा हुआ रत्न है। उसे करोड़ों भर जीवों में से कोई-ही-कोई खोज लाते हैं। जो सही सलामती का रुक्का मांगता है, धर्म उसके लिए नहीं है। धर्म का क्षेत्र तो शंका और निश्चय के बीच में पड़ा हुआ है। यह धर्म ही है, या यही धर्म है, यह मानने या कहने वाला धर्म को नहीं जानता है। धर्म का जिज्ञासु यह कबूल करता हुआ कि यह धर्म हो सकता है और नहीं भी हो सकता है, अपने अन्तर्नाद के वश होकर निश्चयपूर्वक और निश्चिन्त होकर अपना काम करता है। स्वयं सर्वज्ञ न होने से एक तरफ उसके मन में निश्चय है, और दूसरी तरफ वह उस शंका के लिए भी अवकाश रखता है कि शायद भूल ही होती होगी।"

यह विद्वान् फिर आगे चलकर कहता है, "जिस तरह हम छाती ठोककर गणितशास्त्र में कह सकते हैं कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं, उसी तरह छाती ठोककर, निश्चयपूर्वक नीतिशास्त्र में नहीं कह सकते कि यही कर्तव्य हो सकता है, दूसरा कभी नहीं। धर्म या अहिंसा का रहस्य ऐसे परिणाम की खोज में नहीं है, जो कि सिद्ध किया जा सके। इस प्रकार के प्रमाणों के परे जाने में और जहां ऐसे प्रमाण अशक्य हैं, वहां अमुक खतरे उठाने में ही धर्म का या अहिंसा का रहस्य प्रकट होता है।" हमारी भाषा में इसका नाम श्रद्धा है। धर्म तो श्रद्धा के ऊपर गठित वस्तु है। पंचेन्द्रिय से जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, उसका प्रमाण श्रद्धा है। इसलिए अन्तर्नाद को श्रद्धापूर्वक मान लेने से ही हम किसी काल में धर्म का साक्षात्कार कर सकने की आशा रख सकते हैं। इसलिए श्री जैक्स कहते हैं, "जो आदमी अन्तर्नाद की परीक्षा कर चुकने के बाद ही, पहले नहीं, उसे सुनने को तैयार होता है, उसने अन्तर्नाद को सुना नहीं, वह हृदय में रहने वाली शक्तियों को पहचानते ही नहीं। वह अन्त में ऐसी नीति-रहित स्थिति को पहुंचता है कि तब उसके विषय्य में यह कहा जा सकता है कि उसमें अन्तर्नाद नामक कोई वस्तु ही नहीं है।"

तब आदमी जब-जब दु:खों या जुल्मों को देखे तो क्या करे ? जैक्स साहब का कहना है, "इन दो में से कि या तो प्रयोग करूं या हाथ रखकर बैठा रहूं, मेरे लिए एक ही रास्ता है। उससे वस्तुस्थिति का जितना ज्ञान पाया जा सके, उसे प्राप्त करके अपने प्रयोग करना ही मेरा धर्म हो जाता है परन्तु उसमें इतना भय रहता है कि शायद मैंने अपनी गिनती में कहीं भूल की हो। कयामत के दिन भी अगर मुझसे कहा जाय कि तुम्हारे प्रयोग मिथ्या हैं तो भी मैं इन प्रयोगों को पूर्ण करने में ही अपना जीवन बिताऊंगा।

जो वस्तु मुझे सत्य जान पड़ती है, उसे करने के लिए मैं अमुक प्रयोगों में भूल करने का खतरा भी उठा लूंगा।" ये लेखक मानते हैं और हम देखते हैं कि यों भूल करने के खतरे उठाकर किये गए प्रयोगों से कितने ही सत्यों की खोज हो सकी है, क्योंकि ऐसी भूल के मूल में शुद्ध हेतु होता है, सत्य की उपासना होती है। और अनजानपने में हुई भूल कालान्तर में विस्मरण हो जाती है।"

मनुष्य को भूल के पुतले की उपमा दी गयी है। स्वराज्य की एक व्याख्या है 'भूलें करने का अधिकार' और यह सच्ची है। मैं जबतक भूल का दर्शन न करूं, तबतक तो मैं जिसे सत्य मानता हूं, मुझे उस धर्म का आचरण करना ही चाहिए, अगर बाहरी दबाव के वश होकर मैंने जिसे सत्य माना है, उसका आचरण मैं न करूं तो मेरी भीरुता और अपने बारे में मैं जिस असत्य की कल्पना करूंगा, वह, ये दोनों मुझे कुतर खावेंगे।

इसके अलावा श्री जैक्स यह सूचना भी करते हैं कि जिस समाज में बाहर से घड़े हुए नीति-नियम ही प्रमाण गिने जाते हैं, वहां भले ही एक तरफ की सुव्यवस्था देखने में आती हो, लोग बाह्य सुखों का भोग करते हों, किन्तु समाज में से वीरता, प्रयत्न, निर्भयता, शोधकता का लय होता है, और इससे उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है। महान् सिद्धांतों का महत्व उनके अर्थ की अपरिमितता में छिपा रहता है। इस अपरिमित खान को खोदते ही रहें, तभी ऐसे सिद्धांतों से संसार शोभायमान हो सकता है और आगे बढ़ सकता है। किन्तु अभी का हमारा समाज बेड़ी से जकड़ा हुआ-सा लगता है। प्राचीनों का गुणकीर्त्तन करने में और थोड़े सूखे बाह्याचारों के पालन में धर्म-मर्यादा आ गयी-सी जान पड़ती है।

किन्तु धर्म कुछ ऐसा जड़ वस्तु-सा नहीं है। अहिंसा चेतनायुक्त प्रचण्ड शक्ति है। उसके अन्त या विस्तार को कोई माप नहीं सका है, सकेगा भी नहीं। अहिंसा है विश्वप्रेम, जीवमात्र के विषय में करुणा और उसमें से प्रकट होने वाली, अपनी देह को ही होम कर देने की शक्ति। यह प्रेम प्रकट होने में बहुत-सी भूलें भी हों तो उससे इस धर्म के विस्तार की शोध छोड़ी नहीं जा सकती है। शुद्ध मार्ग की खोज में होने वाली भूलें भी हमें उस मार्ग की खोज में एक पग आगे ले जाती हैं।

हिन्दी नवजीवन
८ नवम्बर १९२८

१२. कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे लिखे प्रश्न पूछते हैं :-

"१. धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य – आज धर्म के नाम पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं? जरा-जरा सी बातों में धर्म की दुहाई दी जाती है; किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हों। इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है, आप इस पर और नीचे लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन' द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करेंगे।

२. मनुष्य की आत्मा को किन साधनों द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है ?

३. क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त कर ले तो उनका फल नष्ट हो सकता है ?

४. मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिये ?"

मैं अपने लिए धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नहीं कर सकता। हां, धर्म-पालन के प्रयत्न का दावा मैं अवश्य करता हूं। अपने इस प्रयत्न में मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकों को कुछ लाभ हो सकता है, तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करूंगा।

१. निस्सन्देह यह सच है कि आजकल देश में धार्मिक शिक्षा का अभाव है। धर्म की शिक्षा धर्मपालन द्वारा ही दी जा सकती है, कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। इसी कारण किसी ने कहा है :

'सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ?'

अर्थात्-सत्संग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता ? तुलसी दास ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन किया है, उसे कौन न जानता होगा ? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहले धर्म-पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो

शान्तिप्रद होने के बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य, समझदार मनुष्य दुनिया भर की फिक्र करने के बदले पहले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें, तो किसी को किसी की चिन्ता करने की जरूरत ही न रह जाया

२. साधु-जीवन से आत्म-शान्ति की प्राप्ति संभव है। यही इहलोक और परलोक, दोनों का साधन है। साधु-जीवन का अर्थ है सत्य और अहिंसामय जीवन, संयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बनता। धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।

३. पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त शक्य है। और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नतें हैं, न रोना-पीटना ही है। हां उसमें उपवासादि की गुंजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दों में, दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जब तक प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तबतक फल चक्रवृद्धि ब्याज की भांति बढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि बन्द हो जाती है।

४. मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एक मात्र उपाय परमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है। उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

हिन्दी नवजीवन,
१५ अगस्त १९२९

१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा

'मूर्ति-पूजा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था कि जहां बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहां श्रद्धा का आरंभ होता है। अर्थात् श्रद्धा बुद्धि से परे है। इसपर से कई पाठकों को यह शक हुआ है कि यदि श्रद्धा बुद्धि से परे है तो वह अन्धी ही होनी चाहिए। मेरा मत इससे उल्टा है। जो श्रद्धा अन्धी है, वह श्रद्धा ही नहीं है। अगर कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक यह कहे कि आकाश में पुष्प होते हैं, तो उसकी बात उचित नहीं मानी जा सकती। करोड़ों मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव इससे उल्टा है। आकाश-कुसुम को मानना श्रद्धा नहीं, बल्कि घोर अज्ञान है, क्योंकि आकाश में पुष्प हैं या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका 'नास्तित्व' सिद्ध हो सकता है। इसके विपरित जब हम यों कहते है कि ईश्वर है, तब हमारे कथन के 'अस्तित्व' को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। बुद्धिवाद से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का कोई भले ही कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, हर एक मनुष्य के दिल में इस विषय की शंका तो फिर भी बनी ही रहेगी। उधर करोड़ों का अनुभव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभव पर अवलम्बित है – और जिसे श्रद्धा है, उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही। परन्तु श्रद्धावान् कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है – परे है – वह श्रद्धा है। जहां बुद्धि नहीं पहुचती, वहां श्रद्धा पहुंच जाती है। बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय। और यह जगत् का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धि बल से हृदय-बल सहस्त्रश: अधिक है। श्रद्धा से जहाज चलते हैं, श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धा से वह पहाड़ों-अंचलों-को चला सकता है। श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रहलाद में बुद्धि की न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरु के समान अचल थी। श्रद्धा में विवाद की स्थान ही नहीं। इसलिए एक की श्रद्धा दूसरे के काम नहीं आ सकती। एक मनुष्य श्रद्धा से दरिया पार हो जायगा, मगर दूसरा, जो अन्धानुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इसी कारण भगवान कृष्ण ने गीता के १७वें अध्याय में कहा है – **यों यच्छ्रद्ध: स एव स:** – जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है।

तुलसीदासजी की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू संसार को रामायण के समान ग्रन्थ-रत्न भेंट किया है। रामायण विद्वता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान-आत्म-ज्ञान की वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य-भ्रष्ट भी पाये जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चारित्रय-शून्यता का होना असम्भव है। इस पर से पाठक समझ सकते हैं कि एक बालक श्रद्धा की पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे ? इसका उत्तर गीता में है, रामचरित-मानस में है। भक्ति से, सत्संग से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन-जिनको सत्संग का प्रसाद प्राप्त हुआ है, उन्होंने – सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ? इस वचनामृत का अनुभव अवश्य किया होगा।

हिन्दी नवजीवन,
१९ सितम्बर १९२९

१४. 'दरजे' का अर्थ

हरिजन-सेवक-संघ का हाल में जो नया विधान बना है, उसके बारे में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित हरिजन-सेवक लिखते हैं –

"अ और ब प्रतिज्ञा में 'दरजा' शब्द आता है। अगर उसका अर्थ यह है कि जैसे कानून में कोई ऊँचा-नीचा नहीं है वैसे ही ईश्वर की दृष्टि में भी कोई ऊँचा-नीचा नहीं है तो हमारे यहां के सदस्य उसको मानने के लिए तैयार हैं। अर्थात् धर्म या दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त के बतौर, आध्यात्मिक रूप में, वे इस बात को मानते हैं। लेकिन अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि दुनियावी व्यवहार में मालिक-नौकर, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, न्यायाधीश और कैदी आदि के बीच दरजे का कोई अन्तर ही न होना चाहिए, तो हमारे लिए इस प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करना मुश्किल है। इसलिए आप हर बतलाने की कृपा करें कि यहां पर 'दरजे' का जो उल्लैख हुआ है वह सांसारिक के बजाय आध्यात्मिक रूप में ही है या नहीं ?"

प्रतिज्ञा के जिस अंश का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह निम्न प्रकार है:

"मैं किसी मनुष्य को अपने से दरजे में नीचा नहीं समझता, और अपने इस विश्वास पर चलने का मैं भरसक प्रयत्न करूंगा।"

मैं समझता हूं कि ऊपर की बात का जवाब तो प्रतिज्ञा में ही दिया हुआ है। लेकिन पत्र-लेखक समानता का अर्थ भिन्नताओं का नाश करके भ्रम में पड़ गये मालूम पड़ते हैं। अगर यह भिन्नता या विविधता बिल्कुल ही न होती, तो यह दृश्य जगत् ही कहां होता ? और समानता या ऊंच-नीच के भाव का प्रश्न ही न उठता। लेकिन जब ईश्वर अनेक रूप धारण करता है तब उन विविध रूपों में भिन्नता करनी ही पड़ती है। ईश्वर के कोई अंग दूसरे अंगों की अपेक्षा ऊंचे या श्रेष्ठ होने का दावा करें तो उसे सृष्टिकर्त्ता के विरुद्ध विद्रोह ही कहा जायगा, क्योंकि उन सबके बीच कद, रंग, रूप, गुण आदि की भिन्नता चाहे जितनी हो, फिर भी दरजे में तो वे बराबर ही माने जायंगे। पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक, न्यायाधीश और अपराधी, जेलर और कैदी के बीच अन्तर तो है ही। लेकिन जो पति अपनी पत्नी से, मालिक नौकर से, या न्यायाधीश सजा पाने वाले अपराधी से अपने को ऊंचा माने, तो वह अधर्माचरण होगा। दुनिया का सारा दुःख इस असमानता की भावना से पैदा हुआ है। हिन्दू जिस

अस्पृश्यता का पालन करते हैं, वह इसका आखिरी रूप है। इसलिए इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हरिजन-सेवक इस पुराने पाप को धो डालते समय अन्तर्दृष्टि करके विचार करे और समानता के विष को अपने हृदय से बिल्कुल निकाल डाले ? लेकिन यह किस प्रकार मालूम होगा कि अमुक मालिक तो अपने नौकर को अपने से नीचा मानता है और अमुक उसे अपने समान समझता है ? इसका पता इसी से चल सकता है कि पहले मालिक का अपने नौकर के सुख-दुःख का कोई खयाल नहीं होगा, क्योंकि उसे तो सिवा इसके और कोई मतलब नहीं कि नौकर को तनख्वाह देकर उसके बदले काम लिया जाय, जबकि दूसरा अपने कुटुम्बी की तरह उसका ख्याल रक्खेगा। ईश्वर-परायण कुटुम्बों में मालिक के बाल-बच्चे पुराने नौकरों को मां-बाप की तरह मानते हैं। नौकरों के सुख-दुःख में मालिक भी शरीक होते हैं। नौकरों मालिक उल्टे रास्ते जाय तो वे उसे टोकते भी हैं। घमण्डी और विनम्र मालिक के बीच वैसा ही अन्तर है, जैसा खड़िया और मलाई के बीच। उनमें कम-ज्यादा का कोई भेद नहीं है, उनकी तो किस्म ही अलग-अलग है। समानता की यह स्थिति प्रकृतिजन्य है और बुद्धि एवं हृदय रखनेवाले मनुष्य की हैसियत से यही हमें शोभा देती है मगर फिर भी हम सब अभी इस स्थिति से बहुत दूर हैं। लेकिन बजाय इसके कि मरने के बाद इसके अनुसार व्यवहार करने की आशा करें, हमें अपने रोजमर्रा के ही जीवन में इसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर सच्चे दिल से हम ऐसा करने का प्रयत्न न करें, तो फिर कानून की दृष्टि में समानता का अर्थ ही क्या हो सकता है ?

हरिजन सेवक,
२२ फरवरी १९३५

१५. चरित्र-बल की आवश्यकता

अच्छी तरह हरिजन-सेवा करने के लिए ही नहीं, बल्कि गरीब, अनाथ, असहायों की सब तरह की सेवा के लिए, यह जरूरी है कि लोक-सेवक का अपना चरित्र शुद्ध और पवित्र हो। चरित्र-बल अगर न हो , तो ऊंची-से-ऊंची बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता की भी कोई कीमत नहीं। वह तो उल्टे अड़चन भी बन सकती है। जबकि शुद्ध चरित्र के साथ-साथ ऐसी सेवा का प्रेम भी हो तो उससे आवश्यक बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता भी निश्चय ही बढ़ जायगी या पैदा हो जायगी। हरिजन-सेवा में लगे हुए दो अच्छे प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं की शोचनीय चरित्रहीनता के दो अत्यन्त दुःखद उदाहरण मेरे सामने आये हैं, जिनपर से मैं यह बात कह रहा हूं। इन दोनों को जो लोग जानते थे, वे सब इन्हें शुद्ध चरित्र का और सन्देह से परे मानते थे। लेकिन इन दोनों ने ऐसा आचरण किया है, जो जिस पद पर ये आसीन थे, उसके बिल्कुल अनुपयुक्त हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे अपने हृदय के अंधेरे कोने में जहरीले सांप की तरह छिपी हुई विषय-वासना के शिकार हुए हैं। लेकिन हम तो मर्त्यलोक के साधारण जीव ठहरे, दूसरों के मन में क्या है, यह नहीं जान सकते। हम तो मनुष्यों को सिर्फ उनके उन कामों से ही जान सकते हैं, और हमें उन्हीं पर से उनके बारे में कुछ निर्णय करना चाहिए, जिन्हें कि हम देख और पूरा कर सकते हैं।

आजकल के सार्वजनिक जीवन में एक ऐसी प्रवृत्ति है कि जबतक कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने जिम्मे के किसी व्यवस्था-कार्य को अच्छी तरह पूरा करता है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में कोई ध्यान नहीं दिया जाता । कहा यह जाता है कि चरित्र पर ध्यान देना हरेक का अपना निजी काम है, हमें उसमें दखल देने की कोई जरूरत नहीं। हालांकि मैं जानता हूं कि यह बात अक्सर कही जा सकती है, लेकिन इस विचार को ग्रहण करना तो दूर, मैं इसे ठीक भी नहीं समझ सका हूं। जिन संस्थाओं ने व्यक्तियों के निज चरित्र को विशेष महत्त्व नहीं दिया, उनमें उससे कैसे-कैसे भयंकर परिणाम सामने आये, इसका मुझे पता है। बावजूद इसके पाठकों को यह जान लेना जरूरी है कि इस समय मैं जो बात कह रहा हूं , वह सिर्फ हरिजन सेवक-संघ जैसी उन संस्थाओं के बारे-में ही कह रहा हूं , जो करोड़ों मूक लोगों के हित की संरक्षक बनना चाहती है। मगर मुझे इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी किसी भी सेवा के लिए शुद्ध और निष्कलंक चरित्र का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है । हरिजन-सेवा अथवा खादी

या ग्रामोद्योग के काम में लगे हुए कार्य-कर्त्ताओं के लिए तो उन बिल्कुल सीधे-सादे, निर्दोष और अज्ञानी स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आना बहुत जरूरी है, जो बौद्धिक दृष्टि से संभवत: बच्चों के समान होंगे। अगर उनमें चरित्र बल न होगा तो अन्त में जाकर जरूर उनका पतन होगा और उसके फलस्वरूप जिस उद्देश्य के लिए वे काम कर रह हैं, उसे उस कार्यक्षेत्र में और भी धक्का लगेगा, जिसमें सर्व-साधारण उनसे परिचित हैं। प्रसन्नता की बात है कि ऐसी सेवा में जितने लोग लगे हुए हैं, उनकी संख्या के लिहाज से ऐसे लोग इक्के-दुक्के ही हैं। लेकिन बीच-बीच में ऐसे मामले प्राय: होते रहते हैं, इसलिए जो संस्थाएं और कार्यकर्त्ता ऐसे सेवा-कार्यों में लगे हुए हैं, उन्हें सार्वजनिक रुप में सावधान करने और चेतावनी देने की जरूरत है। कार्यकर्त्ता तो इसके लिए जितने भी अधिक सतर्क और सावधान रहें, उतना ही कम है।

हरिजन सेवक,
७ नवम्बर १९२६

१६. कर्तव्य-च्युत क्या करें ?

"आप अनैतिक आचरण के किस्से प्रकाश में लाते हैं और उनसे संबंध रखने वाले को अपना पद छोड़ देने की सिफारिश करत हैं। उनके काम में बाह्य दृष्टि से आप दोष नहीं बता सके, आपने उनके काम की स्तुति भी की है। पर अब उनकी योग्यता भी खत्म हो गयी ? उनका उपयोग अब जनता को नहीं मिल सकता ? उनकी स्थान-पूर्ति कौन करे ?"

यह प्रश्न विचारणीय है। मैं मानता हूं , और मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि चाहे जैसा होश्यार आदमी हो, उसकी भी गुप्त अनीति का असर उसके काम के ऊपर पड़े बिना नहीं रहता।

इस नियम में मर्यादा तो है ही, और वह यह कि कार्यकर्त्ता को नैतिकता की जरूरत है। कुशलता न होते हुए भी जिसका चारित्र्य पूर्णतया शुद्ध है, उसका काम दिप उठा है। नैतिकता के पाये के ऊपर रचे हुए कामों की तरफ नजर डालने वाले को मेरी बात कायल किये बिना नहीं रहेगी। अस्पृश्यता-निवारण चरित्रहीन मनुष्यों के द्वारा अशक्य है, ऐसा मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। सनातनी हिंदुओं की मान्यता को अच्छे-से-अच्छे शास्त्रों का प्रवीण किस तरह पलट सकता है ? उनकी बुद्धि पर होने वाला प्रहार व्यर्थ जाता है। चैतन्य, रामकृष्ण, राममोहन राय, दयानंद आदि का प्रभाव आज भी काम कर रहा है, इसका आधार और कौन-सा बल होगा ? उनकी अपेक्षा तीव्र बुद्धि के मनुष्य शायद काफी देखने में आयेंगे। पर वे मानव-हृदय में परिवर्तन नहीं करा सके।

पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि चरित्रवान व्यक्तियों में भी उद्यम, आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, विवेक आदि तो होना ही चाहिए।

जो सार्वजनिक संस्था में से निकल गये हैं, वे अगर सेवा करने की उमंग रखते हों, तो उससे वे मुक्त हो नहीं सकते। धर्म तो उसका है, जो उसे पालता है। जिसका पतन हुआ है, वह मूर्च्छा से जाग गया हो तो चाहे वहां रहकर सेवा कर सकता है। उसे किसी गांव में जाकर बसने से कौन रोक सकता है? मूक रीति से गांव में भंगी का काम करतें हुए उसे कौन रोकेगा ? कातते हूए और दूसरों को कातना सिखाते हुए या हरिजनों की सेवा करते हुए क्या रुकावट आ सकती है ? ऐसा करते-करते इस तरह से स्वच्छ बन जाय कि समाज के सामने खड़े होने में उसे कोई बाधा न आवे अथवा अपने स्थान पर अदृप्त

रह कर भी उसका प्रभाव ऐसा पड़े कि उसका असर व्यापक हो जाय। पाप का निवारण ही नहीं, ऐसा न मैंने कभी कहा है न माना है। पतितों में भी अग्र स्थान पाने वाले महापुण्यात्मा हो सकते हैं। तुलसीदास के विषय में ऐसा ही किसी इतिहासकार ने कहा है। गीता पुकार-पुकार कर कहती है कि महापापी के लिए भी भक्ति मार्ग मुक्तिप्रद हो जाता है। इसी से भगवान् का एक विशेषण 'पतित-पावन' है।

हरिजन सेवक,
१९ सितम्बर १९३६

१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

"लव बिबंदो चश्म बंदो गोश बंद,

गर नबीनी सिररे हक, बर मा बिखंद ।।"

– "तूं अपने होठ बंद रख, आंख बंद रख, कान बंद रख। इतने पर भी तुझे सत्य का गूढ़ तत्त्व न मिले तो मेरी हँसी उड़ाना।"

यह मौलाना रूम का शेर है। ऐसे-ऐसे रत्न कभी-कभी कच्छ के चमन कवि मेरे पास भेज दिया करते हैं। जब मैं राजकोट में था, तब ऊपर का शेर अर्थ-सहित, उन्होंने भेजा था।

आज जबकि हम चाहे जो बकवाद करते रहते हैं, जब कान चाहे जो सच्ची, झूठी, गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब यह वचन बाण की तरह सीधा हमारे हृदय में बिंध जाना चाहिए। सत्य की शोध में ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही होठ, कान और आंख को बिल्कुल बंद न करें और अगर कर लें तो इससे कुछ गंवायेंगें नहीं, पर इतना तो हम अवश्य कर सकते हैं – होठ से असत्य या कटु वचन न बोलें, कान से किसी की निंदा या गंदी बातें न सुनें, आंख से अपनी इंद्रियों को विचलित करने वाली कोई चीज न देखें, किन्तु सत्य ही बोलें, वही सुनें, जो हमें आगे ले जाय और आंख से ईश्वर की दया-माया देखें, संतजनों का दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्य का दर्शन कर सकेगा।

हरिजन सेवक,
१९ जुलाई १९३९

* * * * *

प्रकाशकीय

गांधीजी धर्म और नीति को अलग नहीं मानते थे। उनका कहना था कि धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर इस पुस्तक का नाम 'धर्म-नीति' रक्खा गया है। इसमें चार पुस्तकों का संग्रह है: १. नीति-धर्म २. सर्वोदय ३. मंगल प्रभात और ४. आश्रमवासियों से ।

इनमें से पहली और दूसरी पुस्तक-'नीति-धर्म और 'सर्वोदय', गांधीजी के भारत आने से पहले दक्षिण अफ्रीका में लिखी गई थीं। तीसरी और चौथी पुस्तकें 'मंगल प्रभात' तथा 'आश्रमवासियों' से उन्होंने यरवदा जेल से सन् १९३० और '३२ के बीच पत्रों के रूप में लिखी थीं।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का सारांश है। इस पुस्तक ने गांधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला था। इन चारों पुस्तकों के अतिरिक्त अंत में वर्तमान समस्याओं से सम्बन्धित गांधीजी के कुछ चुने हुए लेख दे दिए गए हैं।

पुस्तक बड़ी ही उपयोगी तथा प्रेरणादायक है, क्योंकि वह बताती है कि नीति का मार्ग क्या है और उस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन कृतार्थ करना चाहिए।

-मंत्री

अनुक्रम

नीति-धर्म

प्रस्तावना

१. प्रारंभ

२. उत्तम नीति

३. नीतियुक्त काम कौन-सा ?

४. अच्छा नियम कौन-सा है ?

५. नीति में धर्म का समावेश है ?

६. नीति के विषय में डार्विन के विचार

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

८. समाप्ति

सर्वोदय

प्रस्तावना

१. सच्चाई की जड़

२. दौलत की नसें

३. अदल इंसाफ

४. सत्य क्या है ?

५. सारांश

मंगल-प्रभात

१. सत्य

२. अहिंसा

३. ब्रह्मचर्य

४. अस्वाद

५. अस्तेय

६. अपरिग्रह

७. अभय

८. अस्पृश्यता-निवारण

९. कायिक श्रम
१०. सर्वधर्म-समभाव-१
११. सर्वधर्म-समभाव-२
१२. नम्रता
१३. स्वदेशी
१४. स्वदेशी व्रत
१५. व्रत की आवश्यकता

आश्रमवासियों से

निवेदन
१. मृत्युमित्र
२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार
३. आकाश-दर्शन-१
४. आकाश-दर्शन-२
५. गोशवारे की आवश्यकता
६. सप्ताह का सार
७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता
८. अद्भुत त्याग
९. बिल्ली-शिक्षिका
१०. मृत्यु का बोध
११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में
१२. प्रार्थना
१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?
१४. सत्य का प्रालन कैसे हो ?
१५. विद्याभ्यास
१६. व्यक्तिगत प्रार्थना
१७. देख-रेख की अनावश्यकता
१८. गीता कंठ करो

१९. वाचन और विचार (१)
२०. वाचन और विचार (२)
२१. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (१)
२२. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (२)

विविध

१. आशावाद
२. आचार बनाम विचार
३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व
४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?
५. प्रिय और अप्रिय सत्य
६. यह सुधार है ?
७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि
८. प्रतिज्ञा का रहस्य
९. भिखारी साधु
१०. त्योहार कैसे मनावें ?
११. विचार की कीमिया
१२. कुछ प्रश्न
१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा
१४. 'दरजे' का अर्थ
१५. चरित्र-बल की आवश्यकता
१६. कर्त्तव्य-च्युत क्या करे ?
१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

नीति-धर्म

नीति, नियम और उनके पालन-संबंधी विचार

प्रस्तावना

इन दिनों दुनिया में पाखंड बढ़ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्म का मानने वाला हो, उस धर्म के ऊपरी रूपमात्र का विचार करता है और अपने सच्चे फर्ज को भूल जाता है। अत्यंत धन-संग्रह के कारण दूसरे आदमियों को क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा, इसका ख्याल हम शायद ही करते हैं। अतिशय सुकुमार नन्हें-नन्हें प्राणियों को मारकर अगर उनकी खाल के मुलायम मोज़े बनाये जा सकें तो यूरोप की महिलाओं को उनकी खाल के मोजे पहनने में ज़रा भी हिचक न होगी। मि० राकफेलर की गिनती दुनिया के बड़े-से-बड़े धन-कुबेरों में है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्ठा करने में उन्होंने नीति के कितने ही नियमों को तोड़ा है। यों चारों ओर देखकर यूरोप और अमरीका के बहुतेरे मनुष्य धर्म के विरोधी हो बैठे हैं। वे यह दलील देते हैं कि दुनिया में अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना बढ़ गया है, वह बढ़ना न चाहिए। यह विचार भूल से भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदा अभ्यास के अनुसार अपना दोष न देखकर अपने साधन को दोष देता है, वैसे ही लोग अपनी खोट का विचार न कर धर्म को ही बुरा कहते हैं और स्वच्छंद होकर जो जी में आये वह करते और कहते हैं। यह देखकर अमरीका और यूरोप में ऐसे लोग निकल आये हैं जो यह सोचकर कि यों सब धर्मों का नाश हो जाय तो दुनिया की भारी हानि होगी और लोग नीति का रास्ता छोड़ देंगे, जुदा-जुदा रास्ते से लोगों को नीति-पथपर लाने का प्रयास कर रहे हैं। एक ऐसा मंडल स्थापित हुआ है जो सब धर्मों के तत्वों की खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म-नीति तो सिखाते ही हैं, उनका आधार भी अधिकांश में नीतिक नियम ही होते हैं। और कोई आदमी धर्म-विशेष को माने या न माने, पर वह नीति के नियमों का पालन न कर सके तो ऐसे आदमी के किये इस लोक या परलोक में अपना या दूसरों का भला नहीं होने का। जो लोग कुछ पंथ-सम्प्रदायों में पाखंड का बोलबाला देखकर धर्म-मात्र को नफरत की निगाह से देखते हैं ऐसे लोगों की शंकाओं का समाधान करना इस मंडल का उद्देश्य है। इस मंडल को चलाने वाले सब धर्मों का सार निकाल कर उसमें से केवल नीति के विषय की चर्चा करते हैं। इस मत को वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते हैं। इस मंडल का काम किसी भी धर्म का खंडन करना नहीं है। चाहे जिस धर्म के मानने वाले उसमें दाखिल हो सकते हैं। इस मंडल का लाभ यह होता है कि इस तरह के लोग अपने धर्म का अधिक दृढ़ता से पालन करने लगते हैं और उसमें नीति के विषय में जो उपदेश दिये गए हों, उन

पर अधिक ध्यान देते हैं। इस मंडल के सदस्य पक्के मन से मानते हैं कि मनुष्य को नीति का पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनिया का विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अन्त में भारी हानि होगी।

मि० सालटर नाम के अमरीका के एक विद्वान हैं। उन्होंने एक सुदंर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें धर्म की चर्चा नाम को भी नहीं, पर उसके उपदेश सभी आदमियों पर घटित हो सकते हैं। इस पुस्तक के लेखक के विषय में इतना ही कहना आवश्यक है कि जितना करने की सलाह वह हमें देता है इतना ही कहना आवश्यक है। पाठकों से मेरा अनुरोध है जो कोई भी नीतिवचन उनको सच्चे जान पड़ें, उनके अनुसार वे चलने का यत्न करें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा।

-मो. क. गांधी

नीति-धर्म

१. प्रारंभ

जिस वस्तु से हमारे मन में अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं-एक से वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों, वहां कैसी, खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार तो वास्तु-विशारद के नक्शे के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नक्शा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नकशे की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीति के विचारों को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमें सम्पूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट कयों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुन कर हमें चौंकना नहीं चाहिए; बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझ कर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, “आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुँचने के पहले लड़ाई न लड़नी थी।” इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी को जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है; उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति भंग करते हैं वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बनाते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रह नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवाले का एहसान-मंद होता है। वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज सरहद पर पहुँच पाये। इस मार्म के अंदर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्य को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है-यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमें कोई लाभ होगा।

२. उत्तम नीति

नीति-विषयक प्रचलित विचार वज़नदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की बहुत परवा नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगों को नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी बेंथम को, जिसने इंग्लैंड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूंढ निकाले, जिसने अंग्रेज जनता में शिक्षा प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है-फिर उस रास्ते से हम वाकिफ हों या न हों-उसपर हमें चलना चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उसपर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं।

अपनी इच्छाओं की जांच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उसपर हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आंकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं के पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय, उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें; जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गये। जो करना हमें उचित है उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुंब में अनीति के बीज-जैसे फूट, असत्य इत्यादि-देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगार की मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ीभर शांति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों मे नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजी से नीतिरूपी संदूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

[१]इन अध्यायों के नीचे हम गुजराती या उर्दू कवियों की नीति नियमों से संबंध रखनेवाली कविताएँ चुनकर देते जायंगे, इस आशा से कि उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेंगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हें कंठस्थ भी करेंगे। इसका श्री गणेश हम श्रीमलबारी की पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' 'आदम और उनकी दुनिया' से कर रहे हैं।

क्युं (क्यों) मुश्ताक होके तुं (तू) फिरता बिरादर?
अये (ऐ) दाना[२], तवाना[३] होनार तमे हाजर

(होना है तुझे हाजिर)

चले गये बड़े फ़िलसुफां[४] पहलवानां।
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना (दीवाना)।
न दाना की दनाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेकां बी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी।
किसे यारी हरदम ने (को) देता जमाना;
अरे दोस्त दाना, तुं (होगा) दिवाना।

कुवत[५] ;(कूवत) पीलतन की तुं (तू) लेके फिरेगा।

ज़माना अचानक श्किस्त[६] आके देगा।

अक़ल की नक़ल बेअकल बस बनाना;

अरे दोस्त दानां तुं (तू) होगा दिवाना।

गुजारे (की) अवल बचगी की बादशाही;

होनारत[७] दरद (दर्द) देवे जमकी गवाही।

बेताका (क) त की (कि) स राह उठाना सोलाना (सुलाना);

अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना ।

न दुनिया में तेरा हुवा को (कोई) न होगा,

न तुं (तु) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),

सिवा पाक दादार[८] सबकोइ (कोई) बेगाना;

अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना।

---

१. उर्दू-हिंदी पद्यौं के शब्द अशुद्ध या गुजराती रूप में हैं। उनके वही रूप रहने दिये गये हैं और शुद्ध रूप कोष्ठ में दे दिये गये हैं।

२. बुद्धिमान, ३. बलवान, ४. फिलासफर, तत्ववेत्ता; ५. बल, ६. हार; पराजय; ७. होने वाली पीड़ा; ८. परमेश्वर ।

३. नीतियुक्त काम कौनसा ?

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुकत है? यह सवाल करने में नीतिवाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों में खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करें तो अन्धाधुंधी चलने लगे और दुनिया का कार-बार बंद हो जाय, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने की नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए, जो हमारा अपना है यानि जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जबतक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों तबतक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरजे की तरह काम करना हमपर फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुकत है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों में जो भेद है, वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफी की चिट्ठी ले जानेवाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य में यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है वह नीति को कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर परमार्थ करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, “जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तबतक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिंता नहीं है।” यह स्थिति हमें तबतक प्राप्त नहीं होने की, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अंतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत: अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना न होना, करनेवाले के इरादे पर अवलंबित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुकत माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अंतर है, वह यहां पाठकों को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नहीं, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकंदर को इतिहासकारों ने महान् माना है। वह जहां-जहां गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पान था, अत: कौन कह सकेगा कि उसके काम में नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दवाब के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिंदगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आसपास दरिद्रता और दु:ख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायंगे इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मैं उनका भला चाहूं, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंगलैंड़ के राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आंखें लाल किये

हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहारनीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं ।[१]

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि वह मनुष्य का कर्तव्य है। महान भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मशाल और बाएं हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मशाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोजख की आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोजख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बांधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मन से दगाबाजी करना यह नामर्दी का काम है। डर-डरकर भले काम करनेवाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरण के

आरंभ में नीतियुक्त काम कौन है यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाब भी हमें मिल चुका। कैसे आदमी नीति का पालन कर सकते हैं यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपर के विषय से मेल रखनेवाली कविता :

हरिनो मारग छे शूरानो कायरनुं नहि काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वलती लेबुं नाम जोने।
सुत वित दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने;
सिधु मध्ये मोती लेवा, मांहि पडया मरजीवा जोने।
मरण आग में ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे उभा ते जुए तमाशो, ते कौडी नव पामे जोने;
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने;
मांहि पंडया ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा सरि मोंधी वस्तु, सांपडवी नहिं सहेल जोने;
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने।

भावार्थ-हरि का मार्ग शूर-वीर के लिए है, उसमें कायर का काम नहीं। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके बाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अंत में अपना शीश भी सर्मपण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीवा मोती पाने के लिए समुद्र के भीतर पैठता है। जो मौत के मुंह में पैठे वही मोतियों से अपनी मुट्ठी भर और हृदय की पीड़ा मेट सकता है। किनारे खड़ा रहनेवाला तमाशा भर देखता है, उसके हाथ एक कौड़ी भी नहीं लगती। प्रेम का पंथ पावक की ज्वाला है। जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खड़ा रहनेवाला उसकी आंच से जलता है। सिर देकर उसके बदले दुर्लभ वस्तु का पाना सरल नहीं है। ऐसे लोग अपने मन का मैल त्याग करके महापद को प्राप्त कर अमर होते हैं।

---

१. एक उर्दू कवि ने भी यही बात कही हे--“दोस्ती और किसी गरज़ के लिए, यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"-अनु.

४. अच्छा नियम कौनसा है ?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारे में हम सदा मत प्रकट किया करते हैं। कुछ कामों से हमें संतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते हैं। कार्यविशेष के भले या बुरे होने का आधार इस बात पर नहीं होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है यो हानिकारक; पर उसकी तुलना करने में हम जुदे ही पैमाने से काम लिया करते हैं। हमारे मन में कुछ विचार रम रहे होते हैं, उन्हींके आधार पर हम दूसरे आदमियों के कामों की परीक्षा किया करते हैं। एक आदमी ने दूसरे आदमी का कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो उस काम को हम खराब मानते हैं। कितनी ही बार नुकसान करनेवाले की ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमें तनिक भी हिचक नहीं होती । यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्यों का हेतु हम सदा देख नहीं सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते हैं। फिर भी हेतु के प्रमाण में काम की परीक्षा करने में बाधा नहीं होती। कुछ बुरे कामों से हमें लाभ होता है, फिर भी हम मन में तो समझते ही हैं कि वे बुरे हैं।

अत: यह सिद्ध हुआ कि किसी काम के भले या बुरे होने का आधार मनुष्य का स्वार्थ नहीं होता। उसकी इच्छाएं भी इसका आधार नही होतीं। नीति और मन की वृत्ति के बीच सदा संबंध देखने में नहीं आता। बच्चे पर ममता होने के कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते हैं; पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते हैं कि उसे देने में अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी बात है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। हमारी आंखें खुली हों तो हमें सूरज दिखाई देता है, बंद हों तो नहीं दिखाई देता। इसमें हमारी निगाह में हेर-फेर हुआ, न कि सूरज के होने में । नीति के नियमों के बारे में भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान दशा में हम नीति को न समझ सकें। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमें समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। मनुष्य सदा भले की ओर ही निगाह रखे, ऐसा कदाचित ही होता है। इससे अकसर स्वार्थ की दृष्टि से देखकर अनीति को नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आने को है। जब

मनुष्य स्वार्थ का विचार त्यागकर नीति-अनीति की ओर ही ध्यान देगा। नीति की शिक्षा अभी बिलकुल बचपन की अवस्था में है। बेकन और डार्विन के पहले शास्त्र की जो स्थिति थी वही आज नीति की है। लोग सच्च क्या है उसे देखने को उत्सुक थे। नीति के विषय को समझने के बदले वे पृथ्वी आदि के नियमों की खोज में लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान आपको दिखाई दिये हैं, जिन्होंने लगन के साथ कष्ट सहकर पिछले वहमों को एक ओर रखकर नीति की खोज में जिंदगी बिताई हो ? जब प्राकृतिक रहस्यों की खोज करनेवाले आदमियों की तरह वे नीति की खोज करने में तल्लीन रहें तब हम यह मानें कि अब नीतिविषय के विचार इकट्ठे किये जा सकते हैं। शास्त्र या विज्ञान के विचारों के विषय में आज भी विद्वानों में जितना मतभेद रहता है उतना नीति के नियमों के विषय में होना मुमकिन नहीं। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसे तक हम नीति के नियमों के विषय में एक राय न रख सकें; पर उसका अर्थ यह नहीं है कि हम खरे-खोटे का भेद नहीं समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्यों की इच्छा से अलग नीति का कोई नियम है, जिसे हम नीति का नियम कह सकते हैं। जब राजनैतिक विषयों में हमें नियम-कानून दरकार हैं तब क्या हमें नीति के नियमों का प्रयोजन नहीं है, भले ही वे नियम मनुष्य-लिखत न हों ? वह मनुष्य-लिखित होना भी न चाहिए। और अगर हम नीति-नियमों का अस्तित्व स्वीकार करें तो जैसे हमें राजनैतिक नियमों के अधीन रहना पड़ता है वैसे ही नीति के नियमों के अधीन रहना भी हमारा कर्तव्य है। नीति के नियम रातनैतिक और व्यावसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। मुझसे या दूसरे किसी से यह नहीं बन सकता कि व्यावसायिक नियमों के अनुसार न चलकर मैं गरीब बना रहुँ तो क्या हुआ ?

यों नीति के नियम और दुनियादारी नियम के बीच भारी भेद है, क्योंकि नीति का वास हमारे हृदय में है। अनीति का आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा—झूठा सच्चा कभी नहीं हो सकता। और जहां जन-समाज कभी दुष्ट हो वहां भी लोग नीति के नियमों का पालन न करते हों तो भी पालन का ढोंग करेंग, अर्थात् नीति का पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियों को भी कबूल करनी पड़ती है। ऐसी नीति की महिमा है। इस प्रकार की नीति रीति-रिवाज या लोकमत की परवा नहीं करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहांतक नीति के नियम का अनुसरण करता दिखाई दे वहीं तक नीतिमान पुरुष को वह बंधनकारक है।

ऐसा नीति का नियम कहाँ से आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढ़ता नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यों में जुदा-जुदा कानून-कायदे देखने में आते हैं। सुकरात के जमाने में, जिस नीति का अनुसरण वह करता था, बहुत-से लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनिया मे द्वेष और झूठ की दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपर से यह कह सकते हैं कि नीति के नियम सर्वोपरि हैं और ईश्वरीय हैं।

ऐसे नियम का भंग कोई प्रजा या मनुष्य अंततक नहीं कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अंत में उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान पुरुष का भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोम ने जब अनीति का रास्ता पकड़ा तब उसके महान पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीस की जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीति को टिका न सकी। फ्रांस में जब विप्लव हुआ, वह भी अनीति के ही विराध में । वैसे ही अमरीका में भला वेंडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दी पर बैठी हो तो भी टिकने की नहीं। नीति के इस अद्भुत नियम का जो मनुष्य पालन करता है वह ऊपर उठता है; जो कुटुंब पालन करता है वह बना रह सकता है, और जिस समाज में उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है; जो प्रजा इस उत्तम नियम का पालन करती है वह सुख, स्वतंत्रता और शांति को भोगती है।

ऊपर के विषय से मेल खानेवाली कविता :

मन तुहिं तुहिं बोले रे, आसुपना जेवु तल तारूं ;
अचानक उड़ी जाशे रे, जेम देवतामां दारू।
झाकल जलपलमां वलीजाशे, जेम कागलने पाणी ;
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूलधाणी,
पाछलथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारूं मारूं।
काचनो कुंपो काया तारी, वण्सतां न लागे वार।
जीव कायाने सगाई केटली, मूकी चाले बनमोझार,
फोकट पुल्यां फरवुरे, ओचिन्तु थाशे अंधारूं।
जायुं ते तो सर्वे जवानुं, उगरवानो उद्यारो;

देव, गांधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणानो वारो।
आशानो महेल उंचोरे, नीचुं आ काचुं कारभारूं।
चंचल चित्तमां चेतीने चालो, भालो हरिनुं नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारूं...मन.

- काव्यदोहन

भावार्थ-मन, यह जो तु अपना-अपना कहता है तेरा सपने के-जैसा है अचानक इस तरह उड़ जायगा जैसे आग में डाली हुई शराब। ओस का पानी पल में उड़ जायेगा कागज पर पानी के समान | उसी प्रकार तेरी कायारूप बाड़ी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तु व्यर्थ 'मेरा' 'मेरा' करता है। तेरी काया शीशे की कुप्पी जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देह का नाता ही कितना? एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवन पर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जाने वाला है, इसमें से बचना कठिन है। देवता, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य सबके मरण का दिन नियत है। आशा का महल ऊंचा और इस दुनिया का कच्चा कारोबार नीचा है। तू चंचल चित्त में चेतकर चल और भगवान का नाम ले। जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पाने का उपाय कर, जहां तेरी आत्मा को विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वी के ऊपर कोई नहीं रहने वाला है।

५. नीति में धर्म का समावेश है?

इस प्रकार का विषय कुछ विचित्र माना जायगा। आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीजें हैं। फिर भी इस प्रकरण का उद्देश्य नीति को धर्म मानकर विचार करना है। इसमें कितने ही पाठक ग्रंथकार को उलझन में पड़ा हुआ मानेंगे। जो मानते हैं कि नीति में धर्म का समावेश नहीं होता और जो यह मानते हैं कि नीति हो तो धर्म की आवश्यकता नहीं है, दोनों पक्ष यह आरोप करेंगे। फिर भी नीति और धर्म में निकट संबंध हैं, यह दिखाना ग्रंथकार का निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीति का प्रसार करने वाले मंडल भी धर्म को नीति द्वारा मानते हैं।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचार में नीति के बिना धर्म की स्थिति संभव है। ऐसे बहुतेरे दुराचारणी पुरुष देखने में आते हैं जो अधोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का गर्व रखते हैं। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला जैसे नीतिमान पुरुष पड़े हैं, जो अपने-आपको नास्तिक कहने में गर्व अनुभव करते हैं। और धर्म का नाम सुनकर भागते हैं। ये दोनों मतवाले मनुष्य भूल करते हैं और पहले मतवाले तो भूले ही नहीं हैं, धर्म के बहाने अनीति का आचरण कर खतरनाक भी हो गये हैं। इसलिए इस प्रकरण में मैं यह दिखाऊंगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनों के द्वारा देखने से नीति और धर्म एकही दिखाई देते हैं और उन्हें एक जगह रहना भी चाहिए।

पुरानी नीति केवल संसारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते हैं। यों करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी रीति नष्ट हो गई। बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालों ही का नाश हो जाता। ऐसा होना हम आज भी देख रहे हैं। जो अच्छे रिवाज आदमी जाने अनजाने चलाया करता है वह न नीति है और न धर्म । फिर भी दुनिया में जो काम नीति के अन्दर आते हैं वे ऊपर बतलाये हुए भले रिवाज ही हैं।

फिर धर्म की कल्पना भी अकसर मनुष्य के मनेमें महज ऊपर-ऊपर से ही रहती है। कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए खतरों को दूर करने के लिए कोई धर्म मानते हैं। यों भय से या प्रीति से किये गये कार्य को धर्म मानना भूल है।

पर अंत में ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य संकल्पपूर्वक सोच-विचारकर नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिये, दृढ़ निश्चय के साथ अपना सर्वस्व होमने को तैयार रहकर नीति के रास्ते पर चलता और बिना मुँह पीछे किये कदम बढ़ाता जाता है। तब माना जायगा कि उस पर नीति का रंग चढ़ा।

ऐसी नीति धर्म के सहारे के बिना कैसे टिकेगी ? दूसरे आदमी का थोड़ा-सा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकूं तो मैं वह नुकसान क्यों न करूं ? दूसरे की हानि करके होनेवाला लाभ, लाभ नहीं हानि है, यह घूंट मेरे गले से कैसे उतरे ? बिस्मार्क ने ऊपर से देखने में जर्मनी का हित करने के लिए अति भयानक कर्म किये। उसकी शिक्षा कहां चली गई ? सामान्य समय में बच्चों के साथ वह नीति के वचनों की जो बकवास करता था वे वचन कहां गुम हो गये ? उनको याद करके उसने नीति का पालन क्यों नहीं किया ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रीति से दिया जा सकता है। ये सारी अड़चनें आईं और नीति नहीं पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीति में धर्म नहीं समाया हुआ था। नीतिरूपी बीज को जबतक धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तबतक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना यह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसे तक पानी न पाये तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्मरूप में करना चाहिए।

फिर हम यह भी देखते हैं कि दुनिया के बड़े धर्मों में जो नीति के नियम बताये गये हैं वे अधिकांश में एक ही हैं और उन धर्मों के प्रचारकों ने यह भी कहा है कि धर्म की बुनियाद नीति है। नींव को खोद डालिये तो घर अपने-आप ढह जायगा। वैसे ही नीति रूपी नींव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो-चार दिन में ही भूमिसात हो जायगी।

ग्रंथकार यह भी बताता है कि धर्म और नीति को एक कहने में कोई अड़चन नहीं है। डाक्टर क्वाइट इबादत में यह कहता है-"या खुदा, नीति के सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम जरा सोचें तो देखेंगे कि हम मुंह से तो खुदा या ईश्वर को पुकारें और बगल में खंजर छिपाये रखें- 'मुख में राम बगल में छुरी' को चरितार्थ करें तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी फरियाद सुनेगा ? एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओं को तोड़ता है, दूसरा नाम से ईश्वर को नहीं पहचानता, पर

अपने काम से उसको भजता है और ईश्वरीय नियमों में उनके कर्त्ता को देखता है और उसके कानूनों का पालन करता है – इन दोनों में हम किसे धर्मवान और नितिमान मानें ? इस सवाल का जवाब देने में हम क्षणभर भी सोचे-विचारे बिना पक्के तौर पर कह सकते हैं कि दूसरा आदमी धर्मवान् और नीतिमान माना जायगा।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान);
खोजत सारा जग फीरो (फिर्यो) मिले न श्री भगवान ।
सहस्त्र (स) नाम से सोचकी एक न मिलो जवाब,
जप तप कि (की) ना जन्म तक (भर) हरी हरी (हरि हरि)-
गी (गि) ने हिसाब।
साधु-संतो (संत) को संग किनो बेद-पुरान अभ्यास;
फिर बी (भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास ।
कहोजी प्रभु अब क्युं (क्यों) मिले सोचुं (चूं) जीकु (को)आज;
जन्म जुदाई यह भई कछु नहिं सुझत इलाज।
अंतर्यामी तब कहे "क्युं तुं (क्यों तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु बकवत[१] फोकट[२] फिरे निसि-दिन ढुंढ़त (ढूंढत)
स्वार्थ ।"

मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतर में अहंकार;
दंभी ऐसे दंभ से, दि (दी) नानाथ मिलानार[३] ?
ठगविद्या मं (में) निंपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप;
सकल जगत कुं (को) ठगत तुं (तू), अंत ठग रहो आप।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध बुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप;
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप।[४]
-बहरामजी मलवारी

---

१. प्रभु के नाम का बकवास रटता हुआ; २. व्यर्थ ३. मिलनेवाले; ४. थप्पड़; गुजराती में इस शब्द का अर्थ धोखा भी होता है।

६. नीति के विषय में डार्विन[१] के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छा से ही करना, इसी में हमारी भलमनसी है । आदमी की शराफत की सच्ची पहचान यह है कि वह पवन के प्रवाह से इधर-उधर भटकते हुए बादलों की तरह धक्का खाने के बजाय अपनी जगह पर अचल रहे और जो उसे उचित जान पड़े, वह करे और कर सके।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है, यह हमें जान लेना चाहिए। हम जानते हैं कि हम हर तरह से अपने मालिक खुद नहीं हैं। हमसे बाहर की कितनी ही स्थितियां हैं, जिनका अनुसरण करते हुए हमें चलना होता है। जैसे जिस देश में हिमप्रदेश की-सी ठंड पड़ती है, वहां हमारी इच्छा हो या न हो, फिर भी शरीर को गर्म रखने के लिए हमें कायदे से कपड़े पहनने ही पड़ते हैं, यानी हमें समझदारी के साथ व्यवहार करना पड़ता है।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहर की और आस-पास की परिस्थिति को देखते हुए हमें नीति के अनुसार आचरण करना पड़ता है या नहीं, अथवा हम इस बात की कोई परवा नहीं कर पा रहे हैं कि हमारे बरताव में नीति है या अनीति।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए डार्विन के मत की जांच-पड़ताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीति के विषय पर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहर की वस्तुओं के साथ नीति का लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह सोचते हैं कि मनुष्य नीति का पालन करते हैं या नहीं इसकी परवा हमें नहीं करनी है और दुनिया में केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हें डार्विन के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। डार्विन के कथनानुसार मनुष्यों और दूसरे प्राणियों में भी जीते रहने का लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्ष में जीवित रह सकता है, वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नहीं है, वह जड़मूल से नष्ट हो जाता है; पर इस संघर्ष के मुकाबले में हम केवल शरीर-बल से टिक नहीं सकते।

हम आदमी, भैंस और रीछ की तुलना करें तो मालूम होगा कि शरीर-बल में रीछ या भैंस आदमी से बढ़े हुए हैं और आदमी उनमें से किसी के साथ कुश्ती लड़े तो हार जाएगा; पर यह बात होते हुए भी अपनी बुद्धि की बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जाति की जुदा-जुदा

कौमों के बीच कर सकते हैं । युद्धकाल में जिसके पास अधिक बल या अधिक संख्यावाले आदमी हों वही जीते, ऐसा नहीं होता; बल्कि जिसके पास कला-कौशल का बल और अच्छे नेता होते हैं, वह जाति अल्पसंख्यक या शरीर-बल में कम हो तो भी विजयी होती है, यह दृष्टांत हमने बुद्धिबल का देखा।

डार्विन हमें यह बताता है कि नीति-बल, शरीर-बल और बुद्धि-बल दोनों से बढ़कर है और योग्य मनुष्य अयोग्य से अधिक टिक सकता है। इस बात की सचाई हम अनेक रूपों में देख सकते हैं। कितने ही लोग यह मानते हैं कि डार्विन ने तो हमें यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीर-बल में भरपूर है, वही अंत में पार लगता है। यों ऊपर-ऊपर से ही विचार करने वाले लेभग्गू आदमी मान लेते हैं कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विन का यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दंतकथाओं से यह देखा गया है कि जो जातियां अनीतिमान थीं, वे आज नामशेष हो गई हैं। सोडम और गमोरा के लोग बड़े दुराचारी थे। इससे ये देश मिट गये। आज भी हम देख सकते हैं कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है, उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसालें लेकर देखें कि साधारण नीति भी मानव-जाति की सलामती के लिए कितनी जरूरी है। शांत स्वभाव नीति का एक अंग है। ऊपर से देखने से ऐसा जान पड़ेगा कि घमंडी मनुष्य आगे बढ़ सकता है; पर थोड़ा विचार करके भी हम देख सकते हैं कि मनुष्य की गर्वरूपी तलवार अंत में अपने ही गले के ऊपर गिरती है। मनुष्य नशे का सेवन न करे, यह नीति का दूसरा विषय है। आंकड़े देखने से विलायत में यह देखने में आया है कि तीस वर्ष की उम्र वाले शराबी तेरह या चौदह बरस से अधिक नहीं जीते; पर निर्व्यसन मनुष्य ७० बरस की आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीति का तीसरा विषय है। डार्विन ने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य जल्दी नाश को प्राप्त होता है। उसके संतान पहले तो होती ही नहीं और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्य का मन हीन हो जाता है और ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं उसकी शक्ल पागल की-सी होती जाती है।

जातियों की नीति का विचार करने पर भी हमें यही स्थिति दिखाई देगी। अंडमन टापू के पुरुष अपनी स्त्रियों को, ज्योंही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते हैं । अर्थात परमार्थ बुद्धि दिखाने के बदले अत्यंत स्वार्थ-बुद्धि का परिचय देते हैं। नतीजा यह हुआ है कि उस जाति का धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओं में भी एक हदतक परमार्थ बुद्धि देखने में आती है। भीरु स्वभाव

वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणिमात्र में परमार्थ बुद्धि थोड़ी-बहुत भी न होती तो आज दुनिया में घासपात और जहरीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियों में सबसे बड़ा अंतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरों के लिए अर्थात अपनी नीति के प्रमाण में अपने बच्चों के लिए, अपने देश के लिए, अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीति से बताता है कि नीति-बल सर्वोपरि है। ग्रीस की जनता यूरोप की आज की जनता से अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनता ने नीति का त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज वह जाति देखने में भी नहीं आती। जातियां, प्रजाएं न पैसे से टिकती हैं, न सेना से। वे एकमात्र नीति की नींव पर ही टिक सकती हैं। अत: मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है कि इस विचार को सदा मन में रखकर परमार्थरूपी परम नीति का आचरण करे।

---

१. डार्विन पिछली सदी में एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसने शास्त्र की महती खोजें की हैं। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकन शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं, जो अति पठनीय और माननीय हैं। उसने बहुत-सी मिसालों और दलीलों से यह दिखाया है कि आदमी की आकृति की उत्पत्ति एक तरह के बंदरों से हुई है, यानी बहुत तरह के प्रयोग और बहुत-सी जांच-पड़ताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमी की शक्ल और बंदर की शक्ल में बहुत फर्क नहीं है। यह खयाल सही है या नहीं, इससे नीति के विषय का कुछ बहुत नजदीक का संबंध नहीं है। पर डार्विन ने ऊपर लिखा विचार प्रकट करने के साथ-साथ यह भी जताया है कि नीति के विचार मानव-जाति पर क्या असर डालते हैं। और डार्विन ने जो कुछ लिखा है, उसपरे बहुतेरे विद्वानों की श्रद्धा है, इसलिए डार्विन के विचारों पर यह प्रकरण लिखा है।

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

अक्सर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीति में सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीश में अगर न्याय-बुद्धि हो तो जिन लोगों को उसकी न्यायी अदालत में जाना पड़े वे सुखी होते हैं। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता आदि गुण दूसरों के साथ होने पर ही प्रकट किये जा सकते हैं। वफादारी का बल भी हम एक-दूसरे से संबंध होने पर ही दिखा सकते हैं। स्वदेशाभिमान के विषय में तो कहना ही क्या ! वास्तविक स्थिति को देखने से यह दिखाई देगा कि नीति का एक भी विषय ऐसा नहीं है, जिसका फल अकेले नीति का पालन करनेवाले को ही मिलता है। अक्सर यह कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणों का सामनेवाले मनुष्य, विपक्षी के साथ कोई लगाव नहीं होता। पर हम झूठ बोलकर किसी को ठगें तो उससे विपक्षी की हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलने से उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाज को नापसंद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्य का असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोक में रहता है और विचारों की दुनिया अभी पैदा होने को है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमी के लिए प्रचलित व्यवहार नीतिविशेष का अनादर करने के लिए यह खयाल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नहीं है। ऐसा आदमी सदा दूसरों को अपने विचार के अनुसार आचरण कराने के यत्न में लगा रहेगा। ऐसे ही पैगंबरों ने दुनिया के चक्रों की गति फेरी है।

मनुष्य जबतक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरों के सुख की परवा नहीं करता तबतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गयाबीता है। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है, यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब हम उसे अपने कुटुंब का बचाव करते देखते हैं। वह उस वक्त मानव-जाति में और ऊँचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जाति को अपना कुटुंब मानता है। जब सारी मानव-जाति को वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपान पर चढ़ता है, अर्थात् मनुष्य मानव-जाति की सेवा में जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्री के लिए, अपने बेटे के लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहर के आदमी के लिए मेरे दिल में दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव-जाति के दु:ख की अनुभूति

नहीं है, पर स्त्री, बच्चे-या कौम, जिसको मैंने अपना मान रखा है, उनके लिए भेद-बुद्धि या स्वार्थ-बुद्धि से कुछ दर्द होता है।

अत: जबतक हमारे मन में हरएक मानव-संतान के लिए दया न हो तबतक हमने नीति-धर्म का पालन नहीं किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे हैं कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानि हम सदा उसकी सेवा करते रहें, यह हमारा फर्ज है। हमें यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी के ऊपर नहीं है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करने वाला आदमी इस दुनिया के रेले में पड़कर पिस जायगा, पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठा से सेवा करनेवाले आदमी को खुदा ने हमेशा बचा लिया है।

इस नीति के पैमाने से मनुष्य-मात्र समान हैं। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरह का काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पदाअधिकार भोगता हूं तो उस पद की जिम्मेदारी उठाने की मुझमें शक्ति है। इससे मुझे गर्व से इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग, जो छोटी जिम्मेदारी उठाते हैं, मुझसे हेठे हैं। पूर्ण साम्य तो हमारे मन की स्थिति पर अवलंबित होता है। जबतक हमारे मन की यह स्थिति नहीं होती तबतक हम पिछड़े हुए हैं। |

इस नियम के अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरी जाति या राष्ट्र पर राज्य नहीं कर सकता । अमरीका की गोरी जनता का वहां के मूल निवासियों को दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति-विरुद्ध है। ऊंची शिक्षा-संस्कार वाली जाति का नीची जाति से साबका पड़े, तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठा कर अपने बराबर कर ले। इस नियम के अनुसार राजा प्रजा पर हुकूमत करने वाला नहीं, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगने के लिए नहीं, बल्कि प्रजा को सुखी करने के लिए होता है। प्रजातंत्र राज्य में लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियम के अनुसार एक राज्य में बसने वाले या एक कौम के आदमियों में जो बलवान हों उनका काम है दुर्बलों की रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-

व्यवस्था में भूखों मरने वाले नहीं हो सकते, और न यही हो सकता है कि कुछ लोगों के पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय, इसलिए कि हम अपने पड़ोसी का दुःख देखते रहें और सुखी रहें, हो नहीं सकता। परम नीति का अनुसरण करने वाले आदमी से धन बटोरने का काम होने वाला नहीं। ऐसी नीति दुनिया में थोड़ी दिखाई देती है, यह सोच कर नीतिमान को घबराना न चाहिए, क्योंकि वह अपनी नीति का मालिक है, उसके नतीजे का नहीं। नीति का आचरण न करने से वह दोषी माना जायगा; पर उसका असर जन-समाज़ पर न हो तो कोई उसको दोष नहीं हो सकता।

८. समाप्ति

"मैं जिम्मेदार हूँ," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्य को हिला देता है और अचंभे में डाल देता है। गैबी आवाज की प्रतिध्वनि सदा हमारे कान में पड़ा करंती है-"मानव, यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ जैसा तु ही है, क्योंकि प्रकृति ने दो समान वस्तुएं कहीं बनाई ही नहीं। जो फर्ज़ तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनिया के सलाना चिट्ठे में घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज, जो मुझे अदा करना है, क्या है? कोई कहेगा कि-आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।

लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्य के अनुसार मुझे यह मानकर कि मैं खुदा का नूर हूं, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आसपास के लोगों के साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मां-बाप की सेवा, बीवी-बच्चों का भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणों में मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीति से व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्य का अंग है। जबतक मैं अपने आपको न पहचानूं तबतक दूसरे को कैसे पहचान सकूंगा ? और जबतक पहचानूंगा नहीं तब तक उनका सम्मान कैसे कर सकूंगा ? बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि जिन बातों का दूसरों से संबंध होता हो उनमें तो हमें कायदे से व्यवहार करना चाहिए; पर जबतक हमारे कामों का दूसरों से संबंध न हो तबतक हम अपनी मर्जी के मुताबिक जैसे चाहें वैसे व्यवहार कर सकते हैं। जो आदमी ऐसा मानता हो, वह बिना समझे बोलता है। दुनिया में रहकर कोई भी आदमी बिना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वछंद होकर व्यवहार नहीं कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है अव्वल तो हमारे एकांत के आचरण की खबर खुद हमारे सिवा दूसरों को होती नहीं, ऐसे आचरण का असर दूसरों पर होता है, इसलिए हम जिम्मेदार होते हैं, इतना ही सोचना काफी नहीं है। उसका असर दूसरों पर होता है, इसलिए भी हम उसके जवाबदेह हैं। हर आदमी को चाहिए कि अपने उत्साह को काबू में रखे। एक महान् पुरुष का कहना है कि किसी भी आदमी का खानगी चाल-चलन मुझको बता दो, मैं तुरन्त बता सकता हूं कि

वह आदमी कैसा होगा और है। ऐसे ही कारणों से हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओं को लगाम देकर रखें। यानी हमें शराब नहीं पीना चाहिए, पेटू की तरह ठूंस-ठूंस कर नहीं खाना चाहिए, नहीं तो अन्त में शक्तिहीन होकर हमें अपनी आबरू गंवानी होगी। जो आदमी विषयमार्ग से दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राण की रखवाली नहीं करता वह बाहर के कार्यों में सफलता नहीं पा सकता।

यों विचार करते हुए मनुष्य अपनी अंतर्वृत्तियों को स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियों का क्या उपयोग करूं। जीवन में कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। हम जीवन के कर्त्तव्यों को खोज करके उनके पालन की ओर मन का झुकाव न रखें तो हम बिना पतवार की नाव कि तरह भरे दरिया में डूबते-उतरते रहेंगे। हमारा ऊंचे-से-ऊंचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानव-जाति की सेवा करें और उसकी स्थिति सुधारने के यत्न में योग दें। इसमें सच्ची ईश्वर-स्तुति, सच्ची बंदगी आ जाती है। जो आदमी भगवान का काम करता है, वह भगवान का जन है, खुदा का बंदा है। खुदा का नाम लेने वाले ढोंगी, धूर्त बहुतेरे दुनिया में विचरा करते हैं। तोता 'राम-राम' कहना भी सीख लेता है, इससे उसे कोई राम का भक्त, सेवक नहीं कहता। मनुष्य-जाति को यथायोग्य स्थिति प्राप्त कराने का उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्य से वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रत का पालन करता है, वह कभी नीति-धर्म से डिगता नहीं। उससे विचलित होकर मानव जाति को ऊपर उठाने का उद्देश्य पूरा किया ही नहीं जा सका।

अब हम ब्योरेवार विचार करें। हमें सदा यह देखते रहना पड़ता है कि हमारा आचरण सुधार की ओर जा रहा है या बिगाड़ की ओर। बनिज-व्यापार करने वाला हरएक सौदा करते हुए इस बात का विचार करेगा कि मैं अपने आपको या दूसरे को ठग तो नहीं रहा हूं। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीति का अनुसरण करते हुए मुवक्किल और रोगी के हिताहित को अधिक सोचेगा। मां बच्चे का पालन करते हुए सदा यह डर मन में रखकर चलेगी कि कहीं झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थ से वह बिगड़ न जाय। ऐसा विचार रखकर मजदूरी करने वाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्य का खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचन का निचोड़ यह निकला कि मजदूर अगर नीतिनियम का पालन करते हुए अपने कत्तर्व्य का पालन करें तो वह अपने आचार-व्यवहार में अपने आपको खुद-मुख्तार मानने वाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकील से श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील आदि अधिक बुद्धि

या अधिक पैसे वाले होते हुए भी खोटे सिक्के जैसे हैं। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे हैं कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभाने में समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो। मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलन पर आश्रित होता है, उसके पद-दरजे पर नहीं। उसके चरित्र की परख उसके बाहर के कामों से नहीं होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जान कर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीब को अपनी नजर से दूर करने के लिए एक डालर देता है, दूसरा उस पर तरस खाकर, स्नेह के आधा डालर देता है। इनमें आधा डालर देने वाला नीतिमान है और पूरा डालर देने वाला पापी है।

इस सारे विवेचन का सार यह निकला कि जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से नाजायज फायदा नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रख कर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसे वाला है। मानव-जाति की सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दियासिलाई में आग न हो तो दूसरी लकड़ी को कैसे सुलगायेगी ? जो आदमी खुद नीति का पालन नहीं करता वह दूसरे को क्या सिखायगा ? जो खुद डूब रहा हो वह दूसरों को कैसे पार उतारेगा ? नीति का आचरण करने वाला दुनिया की सेवा किस तरह करनी होगी, यह सवाल कभी उठाता ही नहीं, क्योंकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नहीं होता. मैथ्यू आरनोल्ड कहता है, “एक वक्त था जब मैं अपने मित्र के लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मैं वैसी कामना नहीं करता। इसलिए कि मेरे मित्र का सुखदुख उनके होने न होने पर अवलंबित नहीं। इससे अब मैं सदा यही मनाता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे ।” इमसन कहता है कि भले आदमी का दुःख भी उसका सुख है और बुरे का तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनिया के लिए दुःखरूप है।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

गर पादशाह[१] होकर अमल[२] मुल्कों हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिन का नरसिंगा बजा, भों भों हुआ तो क्या हुआ ?
गुलशोर मुल्क व माल[३] का कोसों हुआ तो क्या हुआ ?
या हो फ़क़ीर आजाद के रंगों हुआ तो क्या हुआ ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ || १ ||
दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,

बैठा अगर होदे उपर[४] या पालकी में जा चढ़ा,
आगे नक्कारा और निशां, पीछे को खोजों का परा[५];
देखा तो फिर इक आन में, हाथी न घोड़ा न गधा।
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || २ ||
अब देख किसको शाद[६] हो और किस पै आँखें नम करे?
यह दिल बिचारा एक है, किस-किसका अब मातम करे ?
या दिल को रोवे बैठकर, या दर्द दुःख में कम करे ?
यां का यही तूफान है अब किसकी जूती ग़म करे ?
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ३ ||
गर तू 'नज़ीर' अब मर्द है तो जाल में भी शाद हो,
दस्तार[७] में भी हो खुशी, रूमाल में भी शाद हो,
आजादगी भी देख ले, जंजाल में भी शाद हो,
इस हाल में भी शाद हो और उस हाल में भी शाद हो,
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ४ ||

- नज़ीर

१. बादशाह; २. हुकुमत; ३. देश और धन ४. ऊपर ५. बेगमों की पालकियों की रक्षा के लिए हिजड़े सिपाहियों की कतार; ६. .....; ७. .....

सर्वोदय

रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक का सारांश

प्रस्तावना

पश्चिम के देशों में साधारणत: यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख-उनका अभ्युदय-बढ़ाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवा नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दु:ख पहुंचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं।

किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और अर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है और केवल इतने ही के लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगों में अंग्रेज विद्वान् स्वर्गीय जान रस्किन मुख्य थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयों पर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं नीति के विषयों पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। उसमें से एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहां-जहां अंग्रेजी बोली जाती है, वहां-वहां इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताये विचारों का जोरों से खंडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य-जाति का कल्याण है।

आजकल भारत में हम पश्चिम वालों की बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातों में हम इसकी जरूरत भी समझते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम की बहुत-सी रीतियां खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब है, उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की अवस्था बहुत ही कहणाजनक है। हम धन के लिए विदेश जाते हैं। उसकी धुन में नीति को, ईश्वर को भूल जाते हैं। स्वार्थ में सन जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमें विदेशों में रहने से लाभ के बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्रा का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धि से देखा जाय तो भी नीति का पालन आवश्यक है। जॉन रस्किन ने सिद्ध किया है कि सुख इसी में है। उन्होंने पश्चिमवालों की आंखें खोल दी हैं और आज यूरोप और अमरीका के भी कितने ही लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलते हैं।

भारतीय जनता भी उनके विचारों से लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तक का इस ढंग से सारांश देने का विचार किया है कि जिससे अंग्रेजी न जानने वाले भी उसे समझ लें।

सुकरात ने; मनुष्य को क्या करना उचित है, इसे संक्षेप में समझाया है। कह नहीं सकते कि उसने कुछ कहा है, रस्किन ने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किन के विचार सुकरात के ही विचारों का विस्तृत रूप हैं। सुकरात के विचारों के अनुसार चलने की इच्छा रखने वालों को भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, रस्किन ने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तक का सार दे रहे हैं, उलथा नहीं कर रहे हैं। उल्था कर देने से संभव है कि बाइबिल आदि ग्रंथों के कितने ही दृष्टांत पाठक न समझ पायें। हमने पुस्तक के नाम का भी उल्था नहीं किया है; क्योंकि उसका मतलब भी वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबिल पढ़ी है; परन्तु उसके लिखे जाने का उद्देश्य सबका कल्याण, सबका (केवल अधिकांश का नहीं) उदय, उत्कर्ष होने के कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

- मो. क. गांधी

सर्वोदय

१. सचाई की जड़

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना-स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किये बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गतिमें बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए; परंतु लोभ और आगे बढ़नेकी इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाय।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेन-देन के नियम-जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओर से स्थायी शक्ति, लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्ति का अंदाजा लगायेंगे, बाद को आकस्मिक का। दोनोंका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गति का निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियां एक प्रकार की हैं; परंतु मानव-व्यवहार में लेन-देन स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तु विशेष की गति पर पड़नेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़ बाकी के नियमसे

लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जांच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या मांग और उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, यह कहने का कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षा यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थिपंजर नहीं है और फिर नियम बनायें तो उसके नियम ठीक भले ही हों; पर वे अस्थि-पंजरवाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होनेपर भी भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्य का मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींचकर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस मांस में पुनः अस्थिपंजर घुसा देने में क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे; क्योंकि अस्थिपंजर से मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायं तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढ़ंग पर चलाते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर केवल कल है और इसी धारण के अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव हैं, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकार के नियम मनुष्य पर जिसमें जीव-आत्मा-रूह की प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-तक हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार हैं। उस वक्त मालिक कुछ सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है परंतु इस समय में वे कुछ नहीं समझते । सच तो यह है कि एक-दूसरे का सांसारिक स्वार्थ – पैसे का – एक न होने पर भी एक दूसरे का विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं। घर में माता और उसके बच्चे हैं। दोनों को भूख लगी है। खाने में दोनों के – माता और बच्चे के – स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भखों मरते हैं और बच्चे खाते है तो मां भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। ठीक यही बात मनुष्य के परस्पर के संबंध के विषय में भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं है। हमें पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहए। तब भी यह बात नियम रूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है; परंतु नफे के बंटवारें की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहां एक का लाभ हो वहां दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनखाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साह रह, मालिक का स्वार्थ नहीं सधता। इसी तरह कारखाना भली भांति न चल सकता हो तो भी ऊंची तनखाह मांगना नौकर के स्वार्थ का साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत करने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊंची तनखाह मांगना स्पष्टत: अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्राय: सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल कया होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का संबंध अवलंबित होता हैं। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह है कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीर में रख सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकरने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतंत्रता है। इसी को लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना

है कि इस तरह कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अंत में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन था कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परंतु यहां तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों पर हड़ताल फेर देता है – उन्हें गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक-से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकता है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाय। नौकर और मालिक के बीच धनका नहीं, प्रीति का बंधन होना चाहिए।

प्राय: देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबाव के कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिये जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूतिरहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं; क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है; पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिक के साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने के परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उस पर विचार कर रह हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए-यह बिलकुल जुदी बात है और यहां हम उसपर विचार नहीं कर रह हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेही सहानुभूति रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार

की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्याय नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटे के तौल का हिसाब रक्खे और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मांगे अपने आप ही मिल जाता है। कहते हैं जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्टता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है – सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहां सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहां युद्ध में कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरों के दलों में भी पाई जाती है। डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की घनिष्टता नहीं दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरोंकी तनखाह का आधार लेन-देन के, मांग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबंध में विरोध, प्रतिद्वंद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नोंपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांग का और प्राप्ति का विचार किए बिना नौकरों की तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरोंका या सेनापति और सिपाहियों का स्थायी संबंध होता है, उसी तरह कारखानों में बराबर कैसा ही समय आने पर भी नौकरी की नियत संख्या कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करें। आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखानेके मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाय। फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैंड के प्रधानमंत्री का पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप) के पदपर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणत: इस तरह का संबंध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरण में हम बंधी उजरत ही देते हैं । इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर की उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील-डाक्टरों के ही पास जाते हैं, उसी तरह सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर हम लोग अच्छे राज और बढ़ई से ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसंद किया जाय। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकता है वहां अंत में बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें। वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने आदमियों को आरंभ में रक्खा हो उतने को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम मिलता है तब उन्हें ऊंची तनखाह मांगनी ही पड़ती है; किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाय कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाह में भी काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अंत में लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानों में ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते । सिपाही सेनापति की खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं; बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरी के संबंध में भी मानते हैं, इसलिए उन्हें आदर की दृष्टिसे देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक संकट भी अपने रोगी

का उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते; पर अपने समुदायवालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता ? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्यका संबंध मान लेने का क्या कारण है ? विचार करने से दिखाई देता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है; पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहांतक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना-धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्यों में–

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है;
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है;
और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्-

पैर पीछे हठाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाय तो भी चिकित्सक को वहां मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशक को झूठके बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालों के लिए मरने का उपर्युक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनखाह लेना नहीं; बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोजी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाते हैं, पर दोनों में से एक का भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाय, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमें से कितनों को अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिक को ही उनके मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बाप के हो जाते हैं। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने-आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि “मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूं या नहीं ?”

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहां अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना होगा। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज

से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्त्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार संभव हैं कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती । अंग्रेज जाति आज तक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़े से लोगों ने उन नियमों का भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसी से यह नीति अब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमों को भंग करनेसे कैसी हानियां होती हैं और किस तरह समाज को पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाई के मूल के संबंध में पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है--"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है ? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलीलें उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं; पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे वहां गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएं के रहट-जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है।

आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपसे पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहां गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है, ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। यह लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ानेवाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाला यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे, अपने को उतना ही पैसेवाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमीके पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परंतु यदि इसके पड़ोसियों से किसी को सोना-चांदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अत: उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सीने का मूल्य उसके खेतके पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जायेगा क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसन्द न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आरामके लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेनेकी इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी वहां जायगा। निचोड़ यह निकला कि

धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो नहीं सकता; परंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दु:खी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

२. दौलत की नसें

इसी प्रकार किसी विशेष राष्ट्र में रुपये-पैसे का चक्कर शरीर में रक्त-संचार के समान हैं। तेजी के साथ रक्त का संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वर का। शरीर पर एक प्रकार की लालिमा स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकार की रक्तपित्त रोग का चिन्ह है। फिर एक स्थान में खून का जमा हो जाना जिस तरह शरीर को हानि पहुंचता है उसी तरह एक स्थान में धन का संचित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाज के टुटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से दो खलासी एक निर्जन किनारे आ पड़े हैं। वहां उन्हें खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहें तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयार कर खेती कर सकते हैं और भविष्य के लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते हैं और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनों का हिस्सा बराबर माना जायेगा। इस तरह इन पर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हें अपने परिश्रमका फल बांटने का अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद इनमें से एक आदमी को असंतोष हुआ, इसलिए उन्होंने खेत बांट लिये और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि कभी एन मौके पर एक आदमी बीमार पड़ गया। ऐसी दशा में वह स्वभावत: दूसरे को मदद के लिए बुलायगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मैं तुम्हारा इतना काम करने को तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पड़े तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह भी लिख देना होगा कि तुम्हारे खेत में मैं जितने घंटे काम करूंगा उतने ही घंटे जरूरत पड़ने पर, तुम मेरे खेत में काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमार की बीमारी लंबी चली और हर बार उसे उस आदमी को उसी तरह का इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनों की स्थिति क्या होगी ? हम देखेंगे कि दोनों ही पहले से गरीब हो गए हैं; क्योंकि बीमार आदमी जब तक खाटपर पड़ा रहा तब तक उसे अपने काम का लाभ नहीं मिला। यदि हम मान लें कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमार के खेत में लगाया उतना अपने खेत में लगाने से उसे वंचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनों की मिलकर होनी चाहिए थी उसमें कमी हो गई।

इतना ही नहीं, दोनों का सम्बन्ध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमी का कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देने के बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चंगे आदमी ने बीमार आदमी से लिखाए हुए इकरारनामे का उपयोग करने का निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूप से विश्राम ले सकता है –आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारी से उठे हुए आदमी से दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्य में दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्ट से निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरण से पाठक देख सकेंगे कि दूसरे से काम लेने का फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियों ने मिलकर एक राज्य की स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेक ने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबके काम आ सके। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी सबका समय बचाने के लिए एक्का माल दूसरेके पास पहुंचाने का जिम्मा ले लेता है और इसके बदले में अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौर से माल लाए व ले जाए तो सबको लाभ होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जाने में चोरी करता है और बाद को सख्त जरूरत के समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानों को भिखारी बना देता है और अंत में अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपर के दृष्टांत में स्पष्ट अन्याय है; पर आज के व्यापारियों का यही हाल है। हम यह भी देख मकेंगे कि इस चोरी की कार्रवाई के बाद तीनों आदमियों की संपत्ति इकट्ठी करने पर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमी के ईमानदार बने रहने पर होती। दोनों किसानों का काम कम हुआ। आवश्यक चीजें न मिलनेसे अपने परिश्रम का पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरी का जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नहीं हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणित का-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर राष्ट्र विशेष की संपत्ति की जांच कर सकते हैं। उस संपत्ति की प्राप्ति के साधनों पर उसे धनवान मानने या न मानने का आधार है। किसी

राष्ट्र के पास इतने पैसे हैं, इसलिए वह इतना धनवान है यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमी के पास धन का होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता का लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेब का-सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है दूसरा ऐसा होता है कि आदमी के हाथ में आते हुए दस गुने धन का नाशकर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगने पर लकड़ियाँ जल जाने से जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकंप के कारण धराशायी हो जानेवाले मकानों की ईंटें सस्ती हो सकती हैं; किन्तु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंप की दुर्घटनाएं जनता के लाभ के लिए हुई थीं। इसी तरह महंगा-से-महंगा बेचना भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे ? आज आपको रोटी के अच्छे दाम मिले । पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्य की अंतिम कौड़ियां लेकर खड़े किए हैं ? या आपने वे रोटियां किसी ऐसे महाजन को दी हैं जो कल आपका सर्वस्व हड़प लेगा ? या किसी ऐसे सिपाही को दीं जो आपके बैंक पर धावा बोलने वाला है ? संभव है कि इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर आप अभी न दे सकें, क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है; पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्य पर, नीतिपूर्वक बेची है या नहीं यह आप बतला सकते हैं। ठीक न्याय होने की ही चिंता रखना आवश्यक भी है। आपके काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसे की जरूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते हैं और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धन-बल से नीति-बल से अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां धन काम नहीं देता वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैण्ड में अनेक स्थानों में लोग धन से भुलावे में नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान लें कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगीं इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चांदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन और मान से स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैण्ड गोलकुंडे के हीरों से गुलामों को सजाकर अपने वैभव का प्रदर्शन करने के बदले यूनान के एक सुप्रसिद्ध मनुष्य के कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखाकर कहे कि – “यह मेरा धन है।“

३. अदल इंसाफ

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी हुआ था। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है। वेनिस के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की | उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परन्तु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौत से बचाता है।" इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम मृत्यु है। इस जमाने में इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत: हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालनेवाले लेबिल लगाना, इत्यादि ।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दु:ख देता है वह अंत में दर-दर भीख माँगेगा।" इसके बाद कहता है, "गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सताएगा खुदा उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार के यहां डाका डालते हैं, परन्तु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हें ज्ञान देता है।" अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एकसे दूसरे का काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसी को ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता। परन्तु अब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं। और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है। इसी तह धन को भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है। वैसे ही धन की

गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बांध बांधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है । इसी तरह धन का मनमपना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह है कि वह धन विषतुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बांधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है; परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिक को विष देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैया र किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में चीकरी', मक्खन में चरबी इत्यादि । यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस ज़माने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्यायबुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। केवल लेनदेन के व्यायसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेडिये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परंतु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर का उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी माँगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियों को मजदूरी की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंह मांगी उजरत मिल जाएगी और यह प्राय: जितनी होनी चाहिए उससे अधिक होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या इससे अधिक का काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आएं और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलास में रुपया खर्च न करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अंत में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे; क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है। और इसलिए प्राय: ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दागा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं, मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूं और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमा लूं ! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं; ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दु:ख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वह अंत में दु:ख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है –

इसलिए ज्ञानियों ने कह रखा है-

“जहां धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।”

अंग्रेज मुंह से तो कहते हैं कि धन ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियों की गिनती करके अपने को सुखी

मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं जिन्हें सीखवकर लोग धनवान हो जायं। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय-जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकि सब बातें वृथा प्रयास हैं, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि:' के समान हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

४. सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणों में हम देख चुके कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसे वाले के पास अधिक पैसा जमा होता है फिर भी दोनों में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुखका आधार केवल धन को बताते हैं। इसलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गए हैं। बहुत से आदमी शहरों में जमा होते हैं और खेती बाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर की सुंदर स्वच्छ वायु को छोड़कर करखानों की गंदी हवा में रात-दिन सांस लेने में सुख मानते हैं। लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण धनवान हैं। उनके भोग-विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-भर मजदूरी करते हैं, उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकों को देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं। धनी न हो पाने पर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्ते से धन न मिलता देख दगा-फरेब से पैसा कमाने का वृथा प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलाने में उनका उपयोग होता है।

वास्तव में सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानवजाति का भरण-पोषण हो । भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टि से विचार करने से बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जायंगे। संभव है कि कल कारखाने खोलकर धनवान होने का मार्ग ग्रहण

करना पापकर्म मालूम हो। पैसा पैदा करने वाले बहुतेरे मिलते हैं, पर उसका यथाविधि उपयोग करने वाले कम पाये जाते हैं। जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।

लोग कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असंभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वयं जब तक नैतिक नियमों का पालन न करें तब तक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है ? हम खुद तो मनमाना आचरण करें और पड़ोसी की अनीति के कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विचार करने से हम देख सकते हैं कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दु:ख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दु:ख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धनसंपन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरेक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरण में हम देख चुके हैं कि जहां एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरे को दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इंग्लैण्ड में जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जाने पर कोई उपयोगी काम नहीं करते, अत: उनके लिए दूसरे आदमियों को परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होने के कारण काम करने वाले का इसमें लाभ नहीं होता। ऐसा होने से राष्ट्र की पूंजी चट जाती है। इसलिए ऊपर से यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगों को काम मिल रहा है, परन्तु भीतर से जांच करने पर मालूम होता है कि अनेक आदमियों को बेकार बैठना पड़ रहा है।

पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असंतोष की जड़ जमती है और अंत में मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहे में सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर में दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु की अवस्था में पहुंच जाता है।

५. सारांश

महान् रस्किन के लेखों का खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकों को नीरस मालूम होंगे, तथापि जिन्होंने इन्हें एक बार पढ़ लिया हो उनसे हम फिर पढ़ने की सिफारिश करते हैं। 'इंडियन ओपीनियन'[१] के सब पाठकों से यह आशा रखना कि वे इनपर विचार कर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय। पर यदि थेड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सार को ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किन के अंतिम परिच्छेद के अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसी में फल का समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किन ने जो बातें अपने भाइयों-अंग्रेजों के लिए लिखी हैं वे अंग्रेजों के लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारतवासियों के लिए हजार हिस्से लागू होती हैं। हिन्दुस्तान में नए विचार फैल रहे हैं। आजकल के पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकों में जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोश का अच्छा उपयोग होने से अच्छा और बुरा होने पर बुरा परिणाम होता है। एक ओर से यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओर से यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजी के साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों, नेटालमें स्वराज है, पर हम कहते हैं कि नेटाल में जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हों तो ऐसा स्वराज नरक-राज है। नेटाल वाले काफिरों को कुचलते हैं, भारतीयों के प्राण हरण करते हैं। स्वार्थ में अंधे होकर स्वार्थराज भोग रहे हैं। यदि काफिर और भारतीय नेटाल से चले जायं तो वे आपस ही में कट मरें।

तब क्या हम ट्रांसवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेंगे ? जनरल स्मट्स उसके नायकों में से एक हैं। वह अपने लिखित या जबानी दिए हुए वचनों का पालन नहीं करते। कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। अंग्रेज उनसे ऊब उठे हैं। रुपया बचाने के बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकों की लगी रोजी छीनकर उनके स्थान में डच लोगों को रखा है। हम नहीं मानते के इससे अंत में डच भी सुखी होंगे। जो लोग स्वार्थ पर

दृष्टि रखते हैं वे पराई जनता को लूटने के बाद अपनी जनता को लूटने के लिए सहज ही तैयार हो जायंगे।

संसार के समस्त भागों पर दृष्टि डालनें से हम देख सकते हैं कि जो राज स्वराज के नाम से पुकारा जाता है, वह जनता की उन्नति और सुख के लिए पर्याप्त नहीं है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानी से इस बात को देख सकते हैं। लुटेरों के दल में स्वराज हो जाने से क्या फल होगा, यह सभी जान सकते हैं। उनपर किसी ऐसे मनुष्य का अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो, तभी वे अंत में सुखी हो सकते हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड सभी बड़े-बड़े राज्य हैं, पर यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि वे सचमुच सुखी हैं।

स्वराज का वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीतिका पालन करता है, दूसरों को धोखा नहीं देता, माता-पिता, स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर, पड़ौसी सबके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देश में हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक हो उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासन करना साधारणतः बुरा कहा जा सकता है। अंग्रेजों का हमपर राज करना एक उल्टी बात है, परन्तु यदि अंग्रेज भारत से कूच कर जायं तो मानना चाहिए कि भारतीयों ने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हमपर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हम ही हैं। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जायं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारत से चले जायंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराज को भोग सकते हैं।

बमबाजी से बहुत से लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझी की निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारने वाले ही भारत के मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजों का नाश करने वाले बम अंग्रेजों के चले जानेपर भारतीयों पर बरसेंगे। फ्रांस के प्रजातंत्र के अध्यक्ष--राष्ट्रपति--को मारने वाला फ्रेंच ही था। अमरीका के राष्ट्रपति क्लीवलैंड को मारने

वाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रों का अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पापकर्म से-अंग्रेजों को मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमें कारखाने खोलने से भी स्वराज नहीं मिलने का। रस्किन ने इस बात को पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णसंकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारत की कदापि न हो। यूरोप के राष्ट्र एक-दूसरे पर घात लगाए बैठे हैं। केवल अपनी तैयारी में लगे होनेके ही कारण सब शांत हैं। किसी समय जब जोरोंकी आग लगेगी तब यूरोप में नरक ही दिखाई देगा। यूरोप का प्रत्येक राज्य काले आदमियों को अपना भक्ष्य मान बैठा है जहां केवल धन का ही लोभ है वहां कुछ और हो ही कैसे सकता है ? उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पढ़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांसपर टूटते हैं। इस प्रकार सब उनके कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण है।

अंत में भारत को स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियों की पुकार है और यह उचित ही है; परन्तु स्वराज हमें नीति-मार्गसे प्राप्त करना है। वह नामका नहीं, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायों से नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्ते से होना चाहिए; भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारतवासी स्वर्णरूप-से थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गए हैं, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुन: सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्गुणों द्वारा स्वर्णरूप बनना है । हमें स्वर्ण बनाने वाला पारसमणि दो अक्षरों में अंतर्निहित है और वह है 'सत्य' । इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज मिल जायगा।

---

१. इस नामका गुजराती-अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजीने दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय डरबन से निकाला था। अब भी निकल रहा है।

मंगल प्रभात

(व्रत-विचार)

मंगल प्रभात

१. सत्य

प्रात: काल की प्रार्थना के बाद

२२-७-३०

हमारी संस्था का मूल ही 'सत्य' का आग्रह है, इसलिए पहले सत्य को ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्तिसत्य अर्थात् अस्तित्व । सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्य के साथ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान-अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है और शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छवास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणत: सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है इस सत्य को संपूर्णत: समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आए हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँ से सकता है ? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना

सीख जायँ तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं ? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान ने दिया है--अभ्यास और वैराग्य से। सत्य की ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायेंगें कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है| इसमें घबराने की बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जाने पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अत: जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट - सहन की बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अत: उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती। ऐसी नि:स्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंत पर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है। पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुंचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते-- सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो ? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हो।

२. अहिंसा

मंगल-प्रभात

२९-७-३०

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नज़र रखकर चल सकता है, सत्य और अंहिसा की डोर उससे भी पतली है। ज़रा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असंम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अत: अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसी से अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने वाले संकटों को सहे यह उनके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे दंड दिया उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई ; पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अत: हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं ; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है इससे तो कायरता पैदा होती है। अत: हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है इसमें उत्तरोत्तर दु:ख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय

तो अन्त में चोर साहुकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-आशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अन्दर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वो जगत के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें ? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी । यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन | फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अंहिसा के बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा ? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिंता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आयें बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए-- सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

३. ब्रह्मचर्य

मंगल-प्रभात

५.८.३०

हमारे व्रतों में तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है, वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुश्य ने सत्य को वरा है उसी की उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकार की आराधना की तो बात ही कहां उठ सकती है ? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह संतानोत्पति के काम में या घर-गृहस्थी चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है ? भोगविलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आज तक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसा के पालने को लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम । जहां पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरे के लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नी-व्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्त्र होने को तैयार होगा। अत: यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेय होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसार में देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाले से विवाह नहीं बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं रख सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है--विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना। इस दिशा में इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ों से वे मुक्त हो जाते हैं। संसार भर

की सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं-यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचे ले जानेवाला, बंधन में से मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं विकाररूपी मैल निकालने से प्रेम भी बढ़ता है। विकारों के जाने से एक-दूसरे की सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचार के समझ लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। उसका विषय-भोग में उपयोग करना, यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म तीनों से होना चाहिए। व्रतमात्र के विषय में यही बात समझनी चाहिए। हम गीता में पढ़ते हैं कि जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने में हानि ही है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरुरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अंत में जीत ही है । हमारा प्रतिफल का यह अनुभव है कि शरीर काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तो तुरंत ही वंश में करने का हम सत्त प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्यपालन कर लिया। हमारे, मन के अधीन होते ही, शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर जहाँ तक मनोविकार को दबाते ही रहते हैं वहाँ तक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य को संकुचित अर्थ में लिया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निरोधभर को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयाल में यह व्याख्या अधुरी और गलत है। विषयमात्र

का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारने वाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करने वाले के लिए इंद्रियमात्र का, उनके विकारों से रोकने का, निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डालें तो जननेंद्रिय को वंश में रखने का प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसलिए व्रतों में उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की--सत्य की--शोध में चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रियसंयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रियसंयमरूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

४. अस्वाद

मंगल-प्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्य के साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखनेवाला है। मेरे अनुभव के अनुसार इसे व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है । साधारणतया इसे व्रतों में पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला; पर यह केवल मेरा अनुमान मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूप से विचार कर लेना उचित है।

अस्वाद का अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने में हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाण में ही सेवन करते हैं, वही बात अन्न के विषय में समझनी चाहिए। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाण में खाने से हानि होती हैं, वही बात अन्न के बारे में है। इसलिए किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तु का अधिक परिमाण में लेना तो अनायास व्रत का भंग हो गया | इससे यह समझ में आ सकता है कि किसी चीज का स्वाद बढ़ाने या बदलने के लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटाने को नमक मिलाना यह व्रत-भंग है। पर अमुक परिमाण में नमक की जरूरत है, यह हम जानते हों और इस वजह से उसमें नमक मिलावें तो इससे व्रत-भंग नहीं है। शरीर पोषण के लिए आवश्यकता न होने पर भी मन को ठगने के लिए आवश्यकता का आरोप करके किसी चीज का बढ़ा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम पायेंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक न होने के कारण त्याज्य-श्रेणी में हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओं का अनायास त्याग हो जाने से उस मनुष्य के विकारमात्र शांत हो जायंगे। “एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है,” “पेट तरह-तरह के नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है,” इन सब वचनों में बड़ा अर्थ समाया हुआ है।

इस विषय पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से आहार का चुनाव प्राय: आशक्य हो गया है। बचपन से ही माँ-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकार के स्वाद करा-कराकर शरीर को बिगाड़ देते हैं और जीभ को कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी देखने में आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पद पर अनुभव करते हैं। फजूल-खर्चियों में पड़ते हैं, वैद्य-डाक्टरों की खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इंद्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बनकर अपंग की भाँति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि संसार में मैने एक भी निरोगी पुरुष नहीं देखा। जरा भी स्वाद के फेर में पड़ने से शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारा से किसी को घबराने की जरूरत नहीं है। अस्वाद-व्रत की भयंकरता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेने का अर्थ यह नहीं होता कि हम समय से उसका पूर्णछप से पालन करने लग गए। व्रत लेने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्म से, जीवन पर्यन्त करना। किसी व्रत के कठिन होने के कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मन को धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है--पुरुषार्थ है। पुरुष शब्द का अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुर में अर्थात शरीर में जो रहें वह पुरुष । यह अर्थ लेने से पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हो सकता है। जो तीनों काल में सम्पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है उसे इस जगत में कुछ भी करने को नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्य का आग्रह रखनेवाले, उसकी खोज करने वाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में, धीरे-धीरे, किन्तु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसाद के योग्य हो जायंगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायंगे।

अस्वाद व्रत का महत्व समझ लेने पर हमें उसके पालन के लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों धंटे खाने के बारे में ही सोचते रहने की जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानी की, जागृति की पूरी आवश्यकता रहती है ऐसा करने से थोड़े ही समय में हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वाद के फेर में

पड़ते हैं और कब शरीर-पोषण के लिए खाते हैं। वह मालूम हो जाने पर हमें दृढ़तापूर्वक स्वाद को घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर अस्वाद-वृत्ति से बनानेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहां हमें रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायंगे, क्या खायंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो? उसे ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हल्का कर देते हैं, हमारे व्रत के रक्षक बनते हैं। स्वाद करने की दृष्टि से उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाज के शरीर का पोषण करने के लिए रसोई बनायें | वास्तव में तो आदर्श स्थिति में अग्नि की आवश्यकता कम-से-कम या बिल्कुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाअग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्हींमें से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्यों को केवल फलाहारी होना चाहिए, परन्तु यहां इतनी गहराई में उतरने की जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन-सी कठिनाइयां हैं, या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य-पालन के साथ कितना अधिक निकट संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रत के पालन का शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

५. अस्तेय

मंगल-प्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेय व्रत पर आते हैं। गम्भीरता से विचारने पर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्य के गर्भ में स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं :

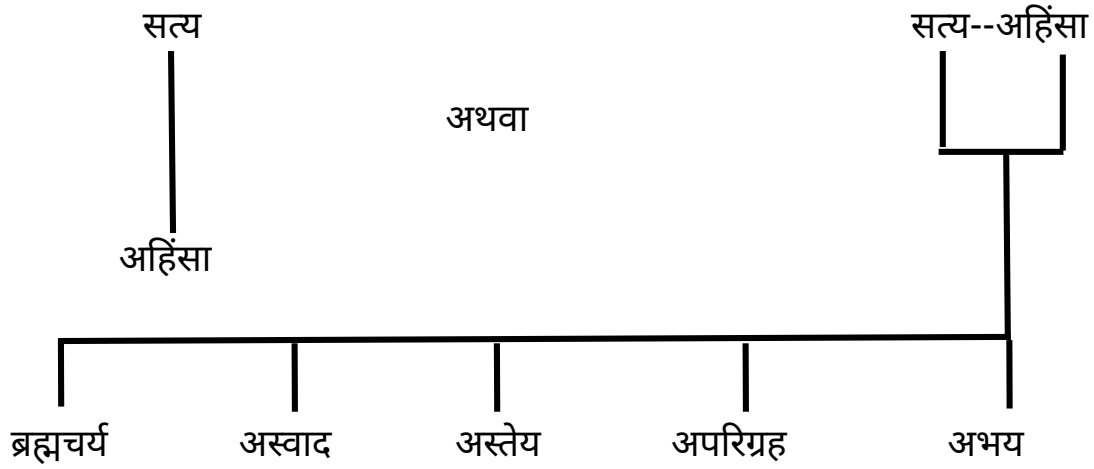

इत्यादि। चाहें तो हम इस क्रम को बढ़ा सकते हैं।

सत्य में से अहिंसा की उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसा का जोड़ा मान सकते हैं। दोनों वस्तुएं एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहले की ओर झुकता है। अंतिम स्थिति जोड़े से--द्वंद्व से-अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसा को हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है। सत्य का तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्णरूप से उसका जानना देही के लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देही के लिए अहिंसा का पूर्ण पालन।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोर का सत्य को जानना या प्रेम-धर्म का पालन संभव नहीं है तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरी का दोष जाने- अनजाने करते हैं। दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीज की भी चोरी करता है--जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाये बिना, उनसे छिपाने की नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रम का भंड़ार हम सभी का कहलायेगा; पर उसमें से चुपके से गुड़ की एक डली भी खानेवाला चोर है।

दूसरे लड़के की कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। पडुआ (राह में पड़ी चीज) के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेश का राज्य या वहां की सरकार है। आश्रम के नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम के मंत्री को सौंपनी चाहिए। आश्रम की न होने पर मंत्री उसे पुलिस के हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में ज्यादा-से-ज्यादा खाने की चीजों के संबंध में होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरत से ज़्यादा खाता हूं तो यह चोरी है। वस्तुत: अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्राय: हम सब, अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते हैं। अस्तेय-व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इसमें सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना या उसपर झूठी नज़र डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नहीं खाता पर दूसरों को खाते देख कर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मन से उपवास के बदले भोजन के मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवास का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालनकर्त्ता भविष्य में मिलनेवाली चीजों के चक्कर में नहीं पड़ता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है, कल उसे पाने को हम भले-बुरे तरीके काम में लाते हैं।

वस्तु की भांति ही विचारों की चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी करना है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की और आज भी कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्र में नए ढंग का एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रम में बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा आविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से दूसरे के अकविष्कारकी चोरी करता हूं और इसमें असत्य का आसरा तो लेता ही हूं। अत: अस्तेयव्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

६. अपरिग्रह

मंगल-प्रभात

२६-८-३०

अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए। वास्तव में चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अत: यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है। रोज के कामभर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अत: जगत में विषमता और उससे होनेवाले दु:ख भोगते हैं। धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभर को ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभर को ही पाकर सन्तोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगाल को पेटभर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अत: उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के कामभर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहांतक कि वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थिति को तो बिरले ही पहुंच सकते हैं। हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओं को तो चाहिए कि आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जांच करते रहें और जहांतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधार का; सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टि से विचारने और बरतने

पर हमें मालूम होगा कि आश्रम में हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते हैं कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पड़ोसी को चोरी करने के लालच में फंसाते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यंत क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकती है ? यह पिंजड़ा बनाये रखने को अनर्थ कैसे कर सकता है ? दूसरे को कैसे मार सकता है ? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर की स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहांतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊंधना सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अन्त में सत्य की झांकी करेगा। इस दृष्टि से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओं की भांति विचार का भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हों अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रह के अन्दर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवान की तेरहवें अध्याय में दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमें ख्याल में लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही--तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञान के नाम से संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंत में खाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्य की ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहां तो सारासार का विवेक सीखने की बात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

७. अभय

मंगल-प्रभात

२-९-३०

सोलहवें अध्याय में दैवी संपद् का वर्णन करते हुए भगवान ने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवाद में मैं नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोक की संगति के सुविधार्थ या अभय को प्रथम स्थान देने के औचित्य की दृष्टि से है। न यह निर्णय करने की मुझमें योग्यता है। मेरी समझ में अभय को अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभय के बिना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं | अभय के बिना सत्य की खोज कैसे हो सकती है ? अभय के बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है, वहां कायर का काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक । वीर के मानी हैं भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरता का चिन्ह नहीं; बल्कि भीरूता की निशानी है।

भय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति-मौत का भय, धन-दौलते लूट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग भय, शस्त्र-प्रहार का भय। प्रतिष्ठा का भय, किसी का बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई जा सकती है। साधारणत: कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भय को जीत लिया तो सब भयों को जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकार के दु:खों से भागते हैं। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे-सबंधियों का वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवा नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने को तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसार की निन्दा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने में हिचकिचायेगा। सत्य की खोज करनेवाला तो समस्त भयों को तिलांजलि दिये बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चन्द्र की भांति मिट जाने की तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चन्द्र की कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्र का यह अनुभव है। अत: उस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा से अनंत गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा माननीय है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थित की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से, सतत प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भ में ही कहा है कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण है। देहविषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां ? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'-यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं है; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसीका हूं: 'मेरी' कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ? इसलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने भर की ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहज में भयमात्र को जीत लें, सहज में शांति पा जायं, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर लें।

८. अस्पृश्यता-निवारण

मंगल-प्रभात

९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रत की भांति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है; पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआ-छूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं; पर अछूत नहीं है, वैसे मृतक (लाश)भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मुर्दे को छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवाने के बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है मुर्दे को छूकर या तेल लगाकर न नहानेवाले को गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चे का मैला उठाने पर माता जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कार-सूचक हो गये हैं और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मानों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत में स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता-छुआछूत हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अत: उसे पाप माननेवालों को चाहिए कि उसका प्रायश्चित करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित रूप से भी धर्म समझकर हिन्दू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहन को अपनावे, प्रेमपूर्वक सेवाभाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें । अछूत के दुख: दूर करें। कुचले जाने के कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषों को धैर्यपूर्वक दूर करने में उन्हे सहायता दें और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता को इस दृष्टि से देखते हुए उसे दूर करने में होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामों को व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों,

तथापि अस्पृश्यता-निवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालों को अपनायेगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक फल का विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारी के लिए कोई युक्ति नहीं है। वह तो उसके शरीर से लगी हुई वस्तु है; उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता की बुराई समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी चमार कहलानेवाले लोगों तक ही सीमित रही हो सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने के बराबर लगती है, फिर पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अंत में जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछत के सम्बंध में भी हैं। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य सम्प्रदायों के प्रति आई है, एक ही सम्प्रदायवालों के बीच भी घुस गई है, और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। वे अपने-आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपने को पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी, चमार को अपनाकर ही संतोष न मानेगा, वह जीवमात्र को अपने में न देखने तक और अपने को जीवमात्र में न होने तक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अंहियस का जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम | अस्पृश्यता-निवारण का यही अर्थ है । जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण हैं। अस्पृश्यता को यों देखने पर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशों में संसार-भर में फैला हुआ है; पर यहां हमने, उसका हिन्दूधर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है, क्योंकि हिन्दूधर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

९. कायिक श्रम

मंगल-प्रभात

१६-९-३०

कायिक श्रम के मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसीके खाना डाल देने पर खाय तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर । तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। और संसार के अरबो नब्बे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शांति और कितना अरोग्य फैले ! यदि खेतों के साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं । इसके सिवा यदि कायिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चता की गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गई हैं। मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक

हो गया है और गरीब अमीर से इर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत: केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तव में देखा जाय तो, खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवाले ने हमपर उपकार तो नहीं ही किया हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रुप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने । बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो जो बूढ़े, अपंग न होंगे और रोग के होने की बात ही कया है ?

१०. सर्वधर्म-समभाव-१

मंगल-प्रभात

२३-९-३०

हमारे व्रतों में सहिष्णुता के नाम से परिचित व्रत को यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसंद था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काका साहब को भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जंचा। दूसरे धर्मों को सहने की भावना में उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अंहिसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म का अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करतें है। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नही है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसी को ऊंच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ मनुष्य लगाता है। किस का अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे

हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविशयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हेसारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं | धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराल मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभी में सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में, और धर्मियों--मनुष्य के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें, कुछ अन्तर है। मनुष्यमात्र--दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है ? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

११. सर्वधर्म-समभाव-२

मंगल-प्रभात

३०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहां और विस्तार से लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहां की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्राय: उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजी नुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम-सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लास में बोल उठे, "'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गाने वालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानों वह बिलकुल स्वाभाविक हो । और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वह न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्व. दाऊद सेठ का पुत्र हुसैन तो आश्रम में बहुत बार रहता। वह प्रार्थना में उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चंद रोज' गाया करता और वह भजन हम-सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थना में गाया जाता था। हमारे यहां की आश्रम-भजनावली में उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेन की स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परता से सत्य का आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रम में अकसर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थान पर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफ के आनन्द का पारावार न रहा। आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मपुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू, इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष भर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में सामभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा; परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-

टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन् उनके ग्रन्थों को धर्म-ग्रन्थ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दु-धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभव से देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह मानने की जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं, वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने आप सुलझ जाती हैं। और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसाने में भा नम्रता और विवेक होने के कारण किसी को दु:ख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेख में मैंने कहा है कि धर्म-धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है । यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की श्रृंखला नहीं टूट जाती ? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे । परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखाएगा। या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अन्त में विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी। दूसरे को, भूल के लिए भी, हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियम का पालन करनेवाला सभी संकटों में से बच जाता है।

१२. नम्रता

मंगल-प्रभात

७-१०-३०

इसका व्रतों में पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसा का यह अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत है; परन्तु नम्रता अभ्यास से प्राप्त नही होती है, वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले-पहल बनी तब मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान देने की सूचना की थी और तब भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं है तथापि वह व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है। आवश्यक तो है ही; परन्तु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्य का अभ्यास किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बंध में, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दम्भ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक-दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके सम्बंध में तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि सरीखा बनकर समाज में बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं । स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विष रूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का आत्यंतिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात्

'कुछ नहीं' हो जायं, तो हम सब-कुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से--परमात्मा से--सत्य से--पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिश्योक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता-शून्यता-अभ्यास से कैसे आ सकती है ? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अंहकारी कैसे हो सकता है ? दूसरे के लिए प्राण न्यौछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्यौछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी ? हिन्दू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्य को, पाखंड को स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परंतु वह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया-हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्र में रहने वाले बिंदु के लिए अराम कहां ? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बंध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया; आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महाअशांति में शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवनमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखता है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभवगम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करने के उद्देश्य से ही हम लोग आश्रम में एकत्र हुए हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियां यह अनुभव करने के लिए ही हैं । यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीको खोजने जाने से वह प्राप्त नहीं है।

१३. स्वदेशी

प्रवचनों में 'स्वदेशी' पर लिखने का विचारत्याग ही दूंगा; क्योंकि इससे, मैंने राजनैतिक विषयों को न छेड़ने का जो संकल्प किया है उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशी पर केवल धार्मिक दृष्टि से लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयों से परोक्ष सम्बन्ध है।

१४. स्वदेशी व्रत

स्वदेशीव्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा, उसके पालने के लिए व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। जो स्वभावत: निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जाने और पालनेवाला देह का भी त्याग करता है

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकतें हैं कि अपने पास रहनेवालों की सेवा में ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है | यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्रामवासियों को मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड कर चला ही था। यों हर तरह से उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसी से, 'स्वधर्म निधन श्रेय: परधर्मो भयावह:' वाक्य की उत्पति हुई है । इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी' पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी को समझ न पाने से ही गड़बड़ी होती है। कुटुंब पर मोह रख कर मैं उसे पोसुं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालने से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए । पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभिमान है, अत: वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुंब का बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंब की सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंब को खोकर कुटुंब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गांव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊं और इस रोग में फंस कर मौत के मुंह में चले जायें तो मैंने कूटुंब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचारधारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालने की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालने से भी हिंदुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे तलवार को या अफीम के दुकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कात कर, खादी पहन-पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी

धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं । स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो । इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुंदर धर्म है

१५. व्रत की आवश्यकता

मंगल-प्रभात

१४-१०-३०

व्रत के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं जहां-तहां इस लेख में लिख गया होऊंगा; परन्तु व्रत जीवन के गठन के लिए कितने आवश्यक हैं, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतों के संबंध में लिख चुकने के बाद अब उन व्रतों की आवश्यकता पर विचार करेंगे।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उनके सम्बन्ध में व्रत लेने की आवश्यकता नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेने के बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्या है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरण के लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ ? दवा की भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत, यह तो गले में फंदा डालने के समान है। और जो बात शसब के बारे में है वही बात दूसरी चीजों के बारे में है। झूठ भी भलाई के लिए क्यों न बोला जाय ?' मुझे इन दलीलों में तत्त्व नहीं दिखाई देता। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिए ही तो व्रत की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता । वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तु के लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंध में व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टांत में तो पाप का आभासमात्र संभव है। सत्य कहने से किसी की हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्य से इस संसार में किसी की हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्य-पान के विषय में भी यही बात है। या तो इस व्रत में दवा के लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रत के पीछे शरीर के

लिए जोखिम उठाने का भी निश्चय रहना चाहिए। दवा के तौरपर भी शराब न पीने से शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीने से शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारण से न रहा तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी ? इसके विपरीत शरीर-रक्षा के लिए भी शराब न पीने के दृष्टांत का चमत्कारिक प्रभाव शराब की लत में फंसे हुए लोगों पर पड़े तो संसार का कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्म का पालन करना ही है-ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर की झांकी कर सकते हैं । व्रत लेना निर्बलता का सूचक नहीं, वरन् बल का सूचक है। अमुक बात का करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नाम से पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परन्तु 'जहां तक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमान का परिचय देता है भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे । इसमें नम्रता की गंध तक नहीं है। मैंने अपने और बहुतों के जीवन में देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा," वहां जक करने के मानी हैं पहले ही अड़चन के सामने गिर पड़ना। 'सत्य का पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा', इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यथासंभव अमुक तारीख को अमुक रकम चुका दी जायंगी इस तरह की चिट्ठी, चेक या हुंडी के रूप में स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहांतक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करनेवाले की हुंडी भगवान ही दुकान में नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वंय निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्त्ति है। उसके नियमों से एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सुर्य महाव्रतधारी है, उससे संसार का काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचांगों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। व्यापार मात्र एक-दुसरे के प्रति वायदे से बंधे न हों हो तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन करने का प्रश्न हो, वहां व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है ? इसलिए व्रत की आवश्यकता विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियों से

आश्रम-विषयक जीवन-संबंधी नीति-नियम

निवेदन

गांधीजी के और हमारे राष्ट्रीय जीवन के अपूर्व अवसर पर उनके पत्रों का यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ये पत्र आश्रमवासियों को ही संबोधित किये गए हैं, तथापि जो अपने को आश्रमवासी मानते हैं या आश्रमजीवन का सद्भाव से अभ्यास करते हैं उनको भी ये बोधप्रद होंगे, इस मान्यता से यह पत्र-संग्रह प्रकाशित किया गया है।

गत वर्ष के जेलवास के समान इस बार भी गांधीजी ने आश्रमवासियों के नाम साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजने का नियम जारी रखा। उसके अनुसार आजतक जितने प्रवचन आ गये हैं, उनका यह संग्रह है।

पिछले वर्ष उन्होंने एक विषय का ही लगातार सिलसिलेवार विवेचन किया था। इसके परिणामस्वरूप 'व्रतविचार' या 'मंगलप्रभात' और 'गीताबोध' के १० अध्याय तैयार हो गये थे। इस बार शुरू में उन्होंने 'गीता बोध' के बाकी के अध्यायों को पूरा किया। इसके बाद किसी एक विषय पर सिलसिलेवार पत्र लिखने के बजाय आश्रम-जीवन विषयक छुटपुट विचारों को एक दूसरी तरह लिख भेजते रहे। इस प्रकार से अलग-अलग दिखाई देने पर भी इन प्रवचनों में एक ही विषय पर अनेक पहलुओं से चर्चा की गई है। विलक्षण वाचक को इनमें यह मालूम हुए बिना नहीं रहेगा।

हरिजनोद्धार के लिए की गई अनशनव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा के आरम्भ के समय तक के प्रवचनों का इस संग्रह में समावेश हुआ है।

चरखा द्वादशी सं० १९८८

सत्याग्रहाश्रम — नाराणदास खु. गांधी

साबरमती — मंत्री, उद्योग मंदिर

अहिंसा प्रतिक्षण काम करने वाली प्रचंड शक्ति है । उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है । जो कौड़ी की फिक्र करेगा, उसकी कौड़ी सलामत ही है, पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की, उसने कौड़ी भी खोई, और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं ।

आश्रमवासियों से

१. मृत्युमित्र

यरवदा-मन्दिर

२९-२-३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेंस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नये, पर नीतिवर्धक विचार राजशक्तिधारियों को न रुचे। इससे उसे मौत की सजा मिली। उस जमाने में उस देश में विषपान करके मर जाने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिस को मीराबाई की तरह जहर का प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिस ने जो अन्तिम वचन कहे उसके सार पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिस को हम सुकरात कहते हैं, अरब भी इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं । भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता । फिर मैं तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसी की भी मौत अचानक नहीं आती । मृत्युदंड़ मेरे लिए सजा नहीं है । मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे जहर का प्याला दिया है । इसी में मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देने वालों के प्रति मेरे मन में क्रोध नहीं है । उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके ।

"महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है : मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जायं और धन के लोभी हो जायं तो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें । वे दंभी हो जायं, जैसे न हों । वैसे दिखाने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें । आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया ।"

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह मांग अद्भुत है । जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था । वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था । इससे सुकरात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की अपनी संतान को चेताया और उससे क्या आशा रखी थी यह बताया । महाजनों को मीठी

फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमनसी के लिए सजा दी थी । सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया, वह उसके लड़कों के लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो वे दंड के योग्य समझे जाय।

२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार

यरवदा-मंदिर

२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकार का लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहान्त १८८०[१] के आसपास हुआ। अधिकांश आश्रमवासियों को यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तक का मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवन में महत्त्व का परिवर्तन एक क्षण में कर डाला । सन् १८७१ में उसने केवल श्रमिक वर्ग को सामने रखकर मासिक रूप में पत्र या लेखमाला लिखना आरंभ किया था। इन पत्रों की प्रशंसा मैंने टाल्स्टाय के किसी निबन्ध में पढ़ी; पर अबतक मैं उसके अंकों को प्राप्त न कर सका था। रस्किन की प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य के विषय पर एक पुस्तक मेरे हाथ आई थी, वह मैंने यहां पढ़ी । इसमें भी इन पत्रों का उल्लेख हुआ है। उसे देखकर मैंने विलायत में रस्किन की एक शिष्या को लिखा। वही उक्त पुस्तक की लेखिका है। वह बेचारी गरीब ठहरी। अत: ये पुस्तकें कहां से भेजती ? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रम से पैसे मंगा लेना। उस भली महिला ने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्र के पास भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' पत्र के संपादक थे। उनसे मैं विलायत में मिल भी चुका था। रस्किन के उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खंडों में प्रकाशित हुए हैं। वह उन्होंने भेज दिये। उनमें का पहला भाग मैं पढ़ रहा हूं। उसके विचार उत्तम हैं और हमारे बहुत-से विचारों से मिलते हैं। यह मेल इतना है कि अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रम में जो कुछ हम आचरण करतें हैं वह सब रस्किन के इन निबन्धों से चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्द का अर्थ तो समझ में आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पास से लिया गया हो उसका नाम छिपाकर अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किन ने बहुत लिखा है। उसमें से थोड़ा ही इस वक्त देना चाहता हूं। रस्किन का कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिल्कुल अक्षरज्ञान न होने से कुछ भी होना अच्छा है, उसमें गंभीर भूल है । उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्मा की पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनन्तर उसने कहा है कि इसी जगत् में मनुष्यमात्र को तीन पदार्थों और तीन

गुणों की आवश्यकता है। जो इन्हें पनपाना नहीं जानता वह जीने का मंत्र ही नहीं जानता। अत: ये छ: चीजें ही शिक्षा की नींवरूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्र को बचपन से--वह लड़का हो या लड़की--यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी किसे कहना चाहिए, उन्हें किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणों में उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेम को गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणों की कदर नहीं है, जो सुन्दर वस्तु को पहचान नहीं सकता, वह अपने घमंड में भटकता है और आत्मानंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नहीं है, अर्थात जो ईश्वरीय न्याय के विषय में शंकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुलित नहीं रह सकता, और जिसमें प्रेम नहीं यानि अहिंसा नहीं, जो जीवमात्र को अपना कुटुम्बी नहीं मान सकता, वह जीने का मंत्र कभी साध नहीं सकता।

इस विषय पर रस्किन ने अपनी चमत्कारभरी भाषा में बहुत विस्तार से लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाज के समझने लायक रूप में लिख सकूं तो अच्छा ही है। आज तो इतने से ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही यह कह देना चाहता हूं कि जिन बातों को हम अपने गंवारू शब्दों में सोचते आये हैं और जिन्हें आचार में उतारने का यत्न कर रहे हैं लगभग उन्हीं सबको रस्किन ने अपनी प्रौढ़ और सुसंकृत भाषा में, अंग्रेजी-भाषी जनता समझ सके इस रीति से, प्रकट किया है। यहां मैंने तुलना दो भिन्न भाषाओं की नहीं की है, बल्कि दो भाषाशास्त्रियों की की है। रस्किन के भाषाशास्त्र के ज्ञान का मुकाबला मुझ-जैसा आदमी नहीं कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयेगा जबकि मातृभाषा का प्रेम बढ़ेगा, उस समय भाषा के पीछे मेहनत करनेवाले विद्वान रस्किन की प्रभावशाली अंग्रेजी जैसा जोरदार गुजराती लिख सकेंगे।

---

१. जान रस्किन का जन्म १८९९ ई० में और मृत्यु १९०० ई. में हुई!

३. आकाश-दर्शन-१

यरवदा-मन्दिर

११-४-३२

सत्य के पुजारी का रस अनन्त होता है। सत्यनारायण की झांकी के लिए वह अपने-आपको कभी बूढ़ा नहीं मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वर के ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्य को ही देखता है, उसके लिए बुढ़ापा विघ्नरूप नहीं होता। सत्यार्थी अपने ध्येय को ढूंढने के लिए अमर है, अजर है।

यह सुन्दर स्थिति मैं तो बरसों से भोग रहा हूँ। जिस ज्ञान से जान पड़े कि मैं सत्यदेव के अधिक पास पहुंच रहा हूं, उसके पीछे जाने में बुढ़ापा मुझे बाधक नहीं हुआ। इसकी ताजा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाश का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो अन्तर में अनेक बार उपजी, पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगने की इजाजत न देंगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन '२२ के कारावास में भाई शंकरलाल को प्रेरणा करनेवाला बहुत करके मैं ही था। उस विषय की पुस्तकें मगाई गईं। भाई शंकरलाल ने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितने से उन्हें संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन ३०-३१ में काकासाहब का सत्संग मिला। उन्हें इस विषय का अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१ में कारावास के आखिरी महीने में यकायक शौक जगा। बाह्य दृष्टि से जहां सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मैं क्यों न करूं? पशु की तरह आंखें महज देखा करें, पर जिसे देखें वह विशाल दृश्य ज्ञानतन्तु तक न पहुंचे, यह कैसा दयनीय है? ईश्वर की महान् लीला के निखरने का यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता? यों आकाश को पहचान लेने की जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हूं और यहांतक आया हूं कि आश्रमवासियों को मेरे मन में उठनेवाली तरंगों में साझी बनाये बिना अब नहीं रहा जाता।

हमें बचपन से यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नाम के पंचमहाभूत का बना हुआ है। इन सभी के विषय में हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी

इन तत्वों के विषय में हमें बहुत थोड़ी जानकारी है। इस समय तो हमें आकाश के विषय में ही विचार करना है।

आकाश के मानी हैं अवकाश-खाली जगह। हमारे शरीर में अवकाश न हो तो हम क्षणभर भी न जी सकें। जो बात शरीर के विषय में है वही जगत् के विषय में भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनन्त आकाश से घिरी हुई है, हम अपने चारों ओर जो आसमानी रंग की चीज देखते हैं वह आकाश है। पृथ्वी के छोर-सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लम्बी है, पर आकाश पीला है। उसकी धुरी माने तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनन्त आकाश में पृथ्वी एक रजकण के समान है और उस रजकण पर हम तो रजकण के भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। इस प्रकार शरीर-रूप से हम शून्य हैं, यह कहने में तनिक भी अतिश्योक्ति या अल्पोक्ति नहीं। हमारे शरीर के साथ तुलना करते हुए चींटी का शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वी के साथ तुलना करने में हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है, तब उसका मोह क्यों हो? वह छूट जाय तो शोक क्यों करें?

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीर की भारी कीमत है, क्योंकि वह आत्मा का और हम समझें तो परमात्मा का - सत्यनारायण का - निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिल में बसे तो हम शरीर को विकार का भाजन बनाना भूल जायं: पर अगर हम आकाश के साथ ओतप्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छता को समझ लें तो हमारा सारा घमंड चूर हो जाय। आकाश में जिन असंख्य दिव्य गणों के दर्शन होते हैं वे न हों तो हम भी न हों। खगोल वेत्ताओं ने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाश विषयक ज्ञान नहीं के बराबर है। जितना है वह हमें स्पष्ट रीति से बताता है कि आकाश में सूर्यनारायण एक दिन के लिए भी अतंद्रित तमश्यचर्या बंद कर दें तो हमारा नाश हो जाय । वैसे ही चंद्र अपनी शीत किरणें लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमान से हम कह सकते हैं कि रात्रि के आकाश में जो असंख्य तारागण हमें दिखाई देते हैं उन सबका इस जगत् को बनाये रखने में स्थान है। इस प्रकार इस विश्व में संपूर्ण प्राणियों के साथ, संपूर्ण दृश्यों के साथ हमारा बहुत घना संबंध है और हम एक-दूसरे के सहारे टिक रहे हैं। अत: हमें अपने आश्रयदाता आकाश में विचरनेवाले दिव्य गणों का थोड़ा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचय का एक विशेष कारण भी है। हमारे यहां कहावत है-"दूर के ढोल सुहावने। " इसमें बहुत सचाई है। जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्य के पास जाकर हम बैठें तो उसी क्षण भस्म हो जायं। यही बात आकाश में बसनेवाले दूसरे गणों की भी है। अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओं के गुण-दोष हम जानते हैं, इससे कभी-कभी हमें उनसे विरक्ति होती है, दोषों के स्पर्श से हम दूषित भी होते हैं, आकाश के देवगण के हम गुण ही जानते हैं, उनको निहारते हम थकते ही नहीं, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नहीं सकता और इन देवों का ध्यान करते हुए हम अपनी कल्पनाशक्ति को नीतिपोषक विचारों से जितनी दूर ले जाना हो उतनी दूर ले जा सकते हैं।

इसमें तो शंका ही नहीं कि आकाश के और अपने बीच हम जितना पर्दा खड़ा करते हैं उतने ही अंश में अपनी देह, मन और आत्मा की हानि पहुंचाते हैं, हम स्वाभाविक रीति से रहते हों तो चौबीसों घंटे आसमान के नीचे ही रहें | यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हों उतने समय रहें | आकाश-दर्शन अर्थात् अर्थात् तारादर्शन तो रात में ही हो सकता है और सबसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है। अत: जो इस दर्शन का पूरा लाभ उठाना चाहें उसे तो सीधे आकाश के नीचे ही सोना चाहिए। आसमान ऊंचे मकान या पेड़ हों तो वे इस दर्शन में विघ्न डालते हैं।

बच्चों को और बड़ों को भी नाटक और उनमें दिखाये जानेवाले दृश्य बहुत रुचते हैं; पर जिस नाटक की योजना प्रकृति ने हमारे लिए आकाश में की है उसको मनुष्यकृत एक भी नाटक नहीं पा सकता। फिर नाटकशाला में आंखें बिगड़ती हैं, फेफड़ों में गंदी हवा जाती है, और आचरण के बिगड़ने का भी बहुत डर रहता है। इस प्राकृतिक नाटक में तो लाभ-ही-लाभ है। आकाश को निहारने से आंखों को शांति मिलती है। आकाश के दर्शन के लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेंफड़ों को शुद्ध हवा मिलेगी। आकाश को निहारने से किसीका आचरण बिगड़ता आज तक नहीं सुना गया। ज्यों-ज्यों इस ईश्वरी चमत्कार का ध्यान किया जाता है त्यों-त्यों आत्मा का विकास होता है। जिसके मन में रोज रात को सपने में मलिन विचार आते हों, वह बाहर सोकर आकाश-दर्शन में लीन होने का यत्न कर देखे उसे तुरंत निर्दोष निद्रा का आनंद मिलेगा। आकाश में अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वर का मूक स्तवन कर रहे हों। हम जब इस महादर्शन में तन्मय हो जायेंगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पड़ेंगे। जिसके आंखें हों वह इस नित्य नवीन नृत्य को देखे। जिसके कान हों वह इन अगणित गंधर्वों का मूक गान सुने।

आइये, अब हम इनके बारे में कुछ जानें या मुझे जो बहुत थोड़ा मिला है, उसमें सब साथियों को साझी बनाऊं। सच पूछिये तो पृथ्वी आदि के विषय में थोड़ा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जाएगा। हो सकता है कि मैं जो लिखनेवाला हूं वह सब काकासाहब के संपर्क में आये हुए आश्रम के बालक जानते हों। ऐसा हो तो अच्छा ही है। मैं आश्रम के छोटे-बड़े, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हूं। उसमें जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिल्कुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थना के बाद तुरंत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इसमें एक बार बीस मिनट से अधिक समय देने की जरूरत नहीं। जो समझेगा वह इसे प्रार्थना का अंग मानेगा ही। बाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोड़ी ही देर में उसी ध्यान में वह सो जायगा। रात में नींद टूटे तो फिर थोड़ी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षण में उसके दर्शन बदला ही करते हैं।

आठ बजे आकाश की ओर देखिये तो पश्चिम में एक भव्य आकृति के दर्शन होंगे।

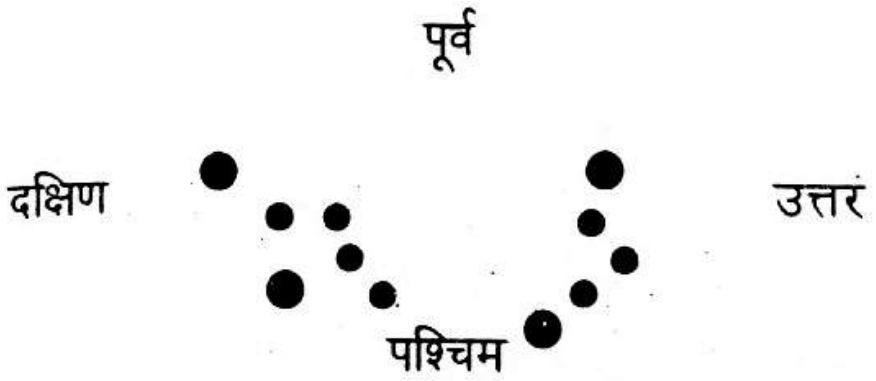

यह आकृति पश्चिम में होगी। मैं पूरब में सिर रखकर सामने देख रहा हूं। इस तरह देखनेवाला इस आकृति को भूल सकता ही नहीं। इन दिनों उजाला पाख है, इसलिए यह तारामंडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते हैं। फिर भी यह मंडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखिये को भी उसे ढूंढ़ लेने में कठिनाई नहीं होती । इसके विषय में हमारे यहां और पश्चिम में लोगों का क्या ख्याल है, यह पीछे बताऊंगा। इस वक्त तो इतना ही कहूंगा कि इस मंडल के स्थान का वर्णन वेद में देखकर लोकमान्य तिलक महाराज के काल की खोज कर सके थे। आश्रम के पुस्तक-संग्रह में स्वर्गवासी दीक्षितजी की

पुस्तक है। उसमें तो बहुत बातें बताई गई हैं। मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देना मात्र है, पीछे तो आश्रमवासियों से मैं अधिक सीख सकूंगा। मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वर के साथ संबंध जोड़ने के एक साधन हो गये हैं। आश्रमवासियों के लिए भी हों।

"जैसे (चरखे से) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरि को प्राप्त कर।"[१]

---

१. गुजराती सन्त कवि अक्खा भगत (१६१५-१९७४ ई०) की एक पंक्ति का भाग ।-अनु०

४. आकाश-दर्शन-२

यरवदा-मंदिर

१८-४-३२

पिछली बार तारा-मंडल का जो चित्र भेजा है उसके विषय में अनेक कल्पनाएं हैं। इस मंडल के चित्रों में से एक भी सम्पूर्ण नहीं होता। जितने तारे चित्र में दिखाई देते हैं उनसे कहीं अधिक उसमें होते हैं। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाये और जितने तारे खाली आंख से दिखाई दें उनके चिन्ह बना ले। इससे तारों को पहचानने की शक्ति तुरन्त बढ़ जायगी और नक्शों में जो तस्वीरें आती हैं उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खींचा हुआ चित्र बढ़िया होगा, क्योंकि अलग-अलग जगहों से देखने में थोड़ा-थोड़ा फर्क तो पड़ता ही है। हर आदमी नियत स्थान से नियत समय पर निरीक्षण करे तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नक्शे के बारे में और आरम्भ करने वाले के लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रों की पहचान कर लें तो फिर कहीं भी हों अपने इन दिव्य मित्रों या दिव्य गणों को तुरन्त पहचान लेंगे।

मद्रास के 'हिन्दू' दैनिक के साथ एक साप्ताहिक निकलता है, बम्बई के 'टाइम्स' के साथ भी निकलता है। दोनों में हर महीने दिखाई देनेवाले तारक-मंडलों के नक्शे छपा करते हैं। 'हिन्दू' में हर महीने के पहले हफ्ते में और 'टाइम्स' में दूसरे हफ्ते में निकलता है। इनमें से कोई नक्शा हाथ आ जाय तो उसमें हमें बहुत कुछ मिल जायगा। 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवां या शती अंक निकलनेवाला है, उसमें भाई हीरालाल शाह ने इस विषय पर लेख भेजा है। उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है। यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय। मैं तो इस लेख के आद इस विषय पर अधिक न लिखूंगा। मैं आकाश-दर्शन किस रीति से कर रहा हूं इसको यहां थोड़ा अधिक स्पष्ट करूंगा। इससे आगे आऊं तो इस हफ्ते में जो दूसरी चीजें लिखने को हैं वे रह जायंगी । प्रसंगवश कुछ भेज दूं तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्न पर भेजूं।

जिस नक्षत्र का चित्र मैंने दिया है, उसका नाम अपने यहां मृग या मृगशीर्ष है। उसीपर से हमारे अगहन महीने का नाम मार्गशीर्ष--मगसिर-पड़ा है। हमारे महीनों के नाम उन नक्षत्रों के नाम पर से पड़े हैं। मृग-नक्षत्र को पश्चिम में 'ओरायन' कहते हैं। यह शिकारी है। इसके पूरब में दो सीधी रेखाओं में बहुत

तेजस्वी तारे हैं। उनके शिकारी के कुत्ते होने की कल्पना की गई है। जो पश्चिम में है वह बड़ा और जो उत्तर में है वह छोटा कुत्ता है। पूरब की ओर और दक्षिण में शिकारी के चौथे कोने के तारे के नीचे जो नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया जाता है। कुत्ते उसकी ओर दौड़ते हैं। बीच में जो तीन तारे हैं वे शिकारी के कमरबन्द के तीन रत्न हैं।

ऐसी आकृतियां भी खींची गई हैं। बड़े कुत्ते को हमारे यहां लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारों को मृग का पेट कहते हैं। उसके दक्षिण में जो तारा है वह लुब्धक का छोड़ा हुआ बाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोण के बाहर के तीन तारे मृग के सिर हैं। यह सारी कल्पना खासी मनोरंजक है। उसकी उत्पत्ति के विषय में बहुत लिखा गया है । उसमें से बहुत ही थोड़ा मैं पढ़ पाया हूँ।

आकाश में ऐसी आकृति बिल्कुल नहीं है। वह हमें जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नहीं है। ये तारे तारे नहीं, बल्कि सूर्य से भी बड़े सूर्य हैं। करोड़ों मील दूर होने के कारण वे आकाश में बूंद की तरह झलकते हैं। इन सूर्यों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है, पर अपढ़-से-अपढ़ के लिए भी ये तारागण मित्र के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। क्षण भर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरन्त देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दुःख-दर्द भूल जाय और भगवान की महिमा गाने लगे। तारों को वह ईश्वर के दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते हैं और हमें आश्वासन देते हैं। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य हैं, बहुत दूर हैं, आदि बुद्धि के प्रयोग हैं। वे हमें ईश्वर की ओर ले जाने में जो सहायता देते हैं वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीति से हम जल को अनेक रीतियों से पहचानते हैं, पर उस ज्ञान का शायद कोई उपयोग नहीं करते। वह प्राण और शरीर को साफ-सुथरा रखने की चीज है, यह ज्ञान और उसका यह हमारे लिए बड़े ही काम के हैं और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर वस्तुत: वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागण के विषय में है। उनके उपयोग अनेक हैं। मैंने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पड़ा उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है । जान पड़ता है, पीछे कालक्रम से अनेक प्रकार के दूसरे वर्णन उसमें मिल गये और आख्यायिकाएं उत्पन्न हुईं। इन सबको हम इस विषय में रुचि बढ़ाने के लिए अवश्य पढ़ें पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूलें।

मृग के उत्तर में दो दूसरे मंडल हैं, उनकी पहचान हम कर लें –

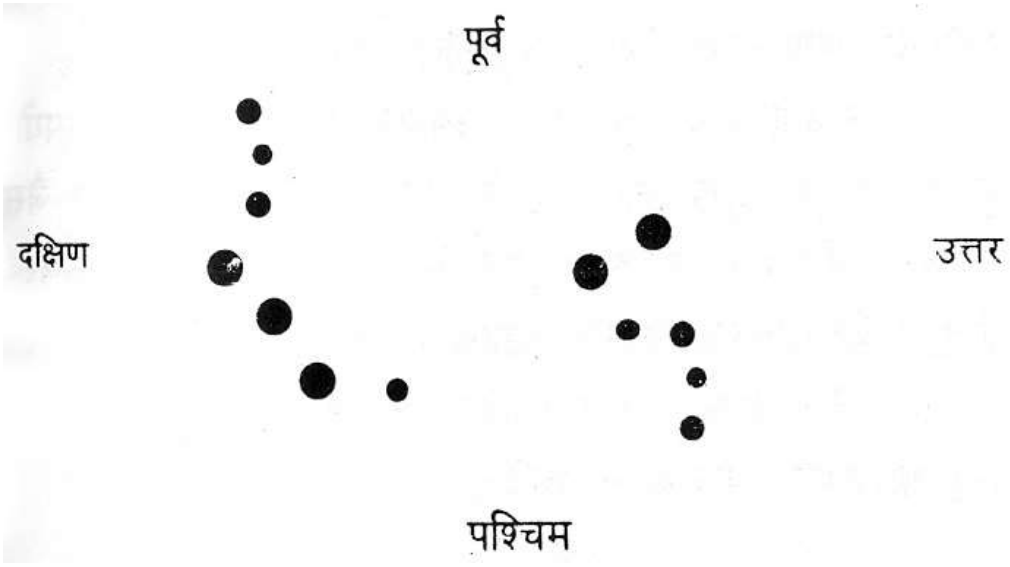

इनमें बड़ा मंडल सप्तर्षि है। छोटे को ध्रुव मत्स्य कहते हैं। दोनों में सात-सात तारे दिये हैं, पर सप्तर्षि में दूसरे बहुत-से हैं वे 'टाइम्स' और 'हिंदू' के चित्रों में मौजूद हैं | ध्रुव मत्स्य में दूसरे तारे नहीं दिखाई देते | इन दिनों उजाले पक्ष में तो शायद तीन ही दिखाई देगे-दो चतुष्कोण के और एक सिरे का, जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमाने में तो नाव-जहाज चलानेवालों को बड़ी मदद मिलती थी। ये दोनों मंडल ध्रुव की प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पढ़ते हैं। इन दिनों इनकी गति देखने का बड़ा आनन्द आता है। सारी रात इनका स्थान बदलता ही रहता है। इसको नोट करते जायं तो इनके मार्ग का नक्शा खासा कुंडलाकार होगा। पश्चिम में इन्हें बड़ा रीछ और छोटा रीछ कहते हैं। एक पुस्तक में तो इनके सुंदर चित्र भी मैंने देखे हैं। बड़े रीछ को हल की उपमा भी देते हैं। सप्तर्षि रात के घड़ियाल का काम देते हैं। थोड़ा अभ्यास हो जाने के बाद सप्तर्षि की गति का समय अवश्य जाना जा सकता है। ।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोग के सामने मुझे तुच्छ-से लगते हैं। हमें चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी हैं वैसे हम तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते जान पढ़ते हैं वैसे हम करें । वे जैसे अपना रास्ता एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते हम भी अपना कर्तव्य न छोड़ें।

५. गोशवारे की आवश्यकता

यरवदा-मंदिर

२५-४-३२

आश्रम का इतिहास लिखते समय मन में अनेक विचार आते हैं, अपनी अनेक त्रुटियों की ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमें समय-समय पर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापार का हर रोज गोशवारा-हिसाब का खुलासा--तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और बड़ा गोशवारा हर साल बनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा, इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा बनाना उचित है। हरेक को अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाज को सारी संस्था का। ऐसा न करें तो गोशवारा न बनानेवाले व्यापारी की तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा। अपने व्रतों और कामों, उद्योगों में हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे छूट रहे हैं, यह हम न जानें तो हम यंत्र की तरह जड़ बन जायंगे और अंत में यंत्र से कम काम करेंगे, यानि अपनी हानि करेंगे।

यह गोशवारा हम किस रीति से तैयार करें ? इसका जवाब मैं कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हूं :

१. हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते हैं ? हम यानि हरेक।

२. ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है ? कहां-कहां असत्य का आचरण हुआ ? इसके लिए उसने क्या किया ? आश्रम ने क्या किया ?

३. आश्रम के इतने बरस के जीवन में हम इस विषय में आगे बढ़े कि पीछे हटे ?

इस प्रकार सब व्रतों के विषय में विचार करके जहां-जहां खोट-खामी दिखाई दे वहां-वहां उपाय ढूंढें और करें।

कार्यों, उद्योगों के विषय में भी यही कर्तव्य है। उनके विषय में तो दूना विचार करना है। आर्थिक दृष्टि से जमा-खर्च बराबर आता है ? हम मानते हैं कि भौतिक उद्योग में अगर दोनों मद बराबर आये तो यह संभव है कि वह धार्मिक रीति से चलाया गया हो, अगर घाटा आये या नफा रहे तो अवश्य कहीं

नीति-भंग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि उस उद्योग के चलाने में धर्म का ही विचार प्रधानत: रखा गया है ? आश्रम में यह बात आवश्यक है, क्योंकि उसके सारे उद्योग धर्म के अर्थात् सत्य के अधीन हैं।

इन दोनों--व्रतों और उद्योगों--के विषय में यह विचार मन में आये बिना नहीं रहते :

१. आश्रम में ही एक-दूसरे के बीच सूक्ष्म चोरियां क्यों होती हैं।

२. ऐसा वक्त कब और कैसे आयगा जब हममें एक-दूसरे का अविश्वास रहे ही नहीं ?

३. आश्रम में अब भी बाहर से चोर क्यों आते हैं ?

४. हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यों बढ़ रहा है ?

५. हमने आसपास के गांवों के साथ क्यों सम्बन्ध नहीं जोड़ा ? वह किस तरह जोड़ा जा सकता है ?

६. आश्रम में अब भी बीमारी क्यों रहा करती है ?

७. आश्रम के मजदूर-वर्ग के लिए हमने क्या किया ? वे क्यों आश्रमवासी नहीं बनें ? या मजदूर ही आश्रम में क्यों हों ? आश्रम में मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हों ?

ऐसे सवाल अभी और बहुत-से सोच सकता हूं, पर मेरे विचार बता देने के लिए इतने काफी हैं। मैं चाहता हूं कि छोटे-बड़े सभी विचार करने लग जायं। रोजनामचा रखने के मेरे आग्रह में यह हेतु तो था ही।

६. सप्ताह का सार

यरवदा-मंदिर

२-५-३२

अप्रेल मास के शुद्धि-सप्ताह पर भाई भगवानजी का पत्र आया है। उसमें कपास की खराबी की ओर मेरा ध्यान खींचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगों ने जान-बूझकर तार[१] बढ़ाकर लिखे हैं। खराबी वह दो तरह की बताते हैं--एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावली में कातने से सूत के नम्बर बहुत कम हैं।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हों तो इसको मैं भारी दोष मानता हूं। आश्रम के नाम को इससे धब्बा लगता है। गलत लिखनेवाले का यज्ञ ईश्वर की बही में तो लिखा ही नहीं जाता। हमारी बही में जो तार या गज लिखे गये हों उनकी कीमत तो कुछ भी नहीं। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखने से उसमें घट-बढ़ नहीं होती और सूत की कीमत तो कुछ आने की होती है। असली कीमत तो कातने के पीछे रहने-वाले शुद्ध उद्देश्य की ही है। यह कीमत हम आंक सकते ही नहीं । यह तो दैवी बही में ही हो सकती है; क्योंकि मनुष्य के हेतु को कौन समझ सकता है ? फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अंत में ऐसे यज्ञ का सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममें कहीं-न-कहीं मलिनता है। इस दृष्टि से हरेक अपने-अपने काम का विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूल कर शुद्ध हो जाय। आश्रम में हमसे किसीकी छिपी निगरानी नहीं हो सकती। बहुत-सा काम विश्वास पर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीति से चल भी नहीं सकता। इसलिए सबको अपने धर्म का बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तार के साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार लें। कातने में आलस किया था ? बेगार टाली थी ? वक्त चुराया था ? टूटा हुआ सूत फेंक दिया था ? यज्ञ की शर्त यह है कि याज्ञिक उसमें तन्मय हो जाय, कार्य में अपनी सारी होशियारी खर्च कर दे।

कोई यह न सोचे कि पूरे बरस चाहे जैसा व्यवहार कर शुद्धि-सप्ताह में ऊपर के नियम का पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञरूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताह में इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातने में अधिक समय दिया करते हैं।

आगे के लिए मैं ये नियम सुझाता हूं :

१. बीस नंबर से नीचे का सूत काता जाय तो वह यज्ञ में न गिना जाय।

२. सूत की खराबी नियत माप से अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस-मजबूती नियत सीमा से नीचे आय तो भी यज्ञ न गिना जाय।

यज्ञ-कार्य हो कि दूसरा कोई, संख्या या वजन से सफाई, सचाई की कीमत ज्यादा होगी। पचास अपंग बैल हमारे सिर पर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास मोथरी छुरियां शाक नहीं काट सकतीं। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर काम की पूर्णता की ओर देने की आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताह में हम इस चीज पर ही ध्यान दें।

मैं देखता हूं कि कातने में कुछ लोगों का मन ऊबता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसंद करते हैं। इसमें एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमी को जो काम रोज करना पड़ता है उससे वह ऊबता है और और मन को फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मैं न ऊबता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोज का हो जाता है तो वह तीसरा मांगता है। फिर कातनेवाले का ध्यान जानेबेजाने कताई से मिलनेवाली थोड़ी मजदूरी की ओर जाता है। आश्रम की दृष्टि से यह दोष है। कातने की मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धंधा है, जिसे करोड़ों कर सकें और उससे कुछ कमा भी

लें। अत: इस काम को व्यापक करने के लिए हम सब यज्ञ-रूप में कातते हैं। यज्ञ में कल्पना यह है कि हम ईश्वरार्पण-बुद्धि से काम करते हैं और फल देना भगवान के हाथ है। इस रहस्य को समझकर कातने का यज्ञ सबको नित्य उसमें तन्मय होकर करना उचित है।

---

१. अटेरन पर लपेटे हुए ४८ इंच सूत की नाप

७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर

९-५-३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अत: मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाई की तीखी आंखों ने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकड़ी का एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरंत उसका मजाक किया। मणिबहन के अति सुघड़पन का मूल मुझे यहीं मिला। जिस लिफाफे में मैं आश्रम की डाक बंद किया करता हूं, वह सरदार की हुनरमन्दी का एक नमूना है। जिसने इस लिफाफे को न देखा हो वह देख ले। उसमें सुघड़पन के साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहां की डाक के लिए बहुत लंबे लिफाफे की जरूरत नहीं होती, इसलिए एक के दो हो जाते हैं। जो बादामी कागज पुड़ियों आदि में आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफों के लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाई की आलोचना पर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखे से काम लेने के लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा करते थे कि बाएं हाथ से चरखे का चक्र भी न घुमाओ। उसे पांव से चलाऊं तो चरखे का एक दिन भी शायद खराब न हो। अत: उसपर जल्दी काबू पा लेने की धुन में मैंने जाले की तह चढ़ी रहने दी। आज दाहिने हाथ से काम कर सकने की हिम्मत हुई तो चरखे की खराबी के ऊपर निगाह गई। एक के बजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतल के मोढ़िये पर तेल और धूल का मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढ़ई पर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्रनारायण का चक्र है, उनकी पूजा की यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढ़ाकर हम दरिद्रनारायण का अनादर करते हैं। सामान्य रीति से मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानों की सफाई रखी जाती है। हम तो मानते हैं कि हरेक स्थान मंदिर है। एक भी कोना नहीं है, जहां ईश्वर न हो | इसलिए हमारे मत से तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मंदिर हैं और मंदिर की तरह साफ-सुथरे रहने-चाहिए। तब फिर चरखे का तो कहना ही क्या ! चरखे की शक्ति को हम सचमुच ही मानते हों तो बच्चे से लगाकर बूढ़े तक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्ली की सफाई के बारे में तो मैं लिख ही चुका हूं। इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ़ महीने पहले उसने दो बच्चे जने। उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है। तीनों शायद ही कभी अलग देखने में आते हों | जब बच्चे चाहते हैं तब मां दूध पिलाती है। दोनों साथ-साथ सटकर दौड़ते हैं, यह दृश्य भव्य होता है। मां को इसमें कोई शर्म नहीं लगती। बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नहीं करती। बच्चे चलने-फिरने और खेलनेवाले हुए कि मां ने तुरंत उन्हें शौच का नियम सिखाया। खुद एकांत में जाकर नरम जमीन पंजों से खोदकर गढ़ा किया और बच्चों को उसके ऊपर बैठाया, फिर धूल से मैले को ठीक तौर से ढक कर जमीन जैसी थी वैसी कर दी। अब बच्चे रोज इसी रीति से निबटते हैं। वे भाई-बहन हैं। चार दिन पहले उनमें से एक जमीन खोदने लगा; पर वह कठिन थी। दूसरा मदद को पहुंचा और दोनों ने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढ़ा खोद लिया। शौच हो लेने के बाद जमीन ढाककर चलते बने। ऐसे प्राणी-छोटे-बड़े-जो कर सकते हैं वह हम सहज ही क्यों न करें?

शीर्षक में चार शब्द एक ही भाव को प्रकट करने के लिए व्यवहार किये गए हैं । हमें आत्मा का बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनों की होनी चाहिए। पर अंदर की सफाई तो सचाई है। सचाई ही सबसे बड़ी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है। हम बाहर से साफ-सुथरे हों और अंदर मैला हो तो या तो यह आडंबरमात्र है, या दंभ है, विषयभोग की निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषों की स्वच्छता अंतर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमें बाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारों से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हरएक काम में स्वच्छता प्रकट करेगा । यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

८. अद्भुत त्याग

यरवदा-मंदिर

१५-५-३२

अक्सर सामान्य पाठ्य-पुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूं। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अत: उसका सार यहां दिये देता हूं।

पैगम्बरसाहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आम तौर से लड़ाई भी बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तब अरब-सेना में एक अरब अपने चाचा के बेटे को ढूंढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे । शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर इस भाई ने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी । अत: उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी, उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा ।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। वह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अत: बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है, वहां जाकर पानी पिला आओ। नि:श्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेग से दौड़कर जहां से आर्त्तनाद आ रहा था, वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी नहीं मिला ! अत: यह भाई, उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था, वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है तो

उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दुःख-भरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बन्द पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलों में किसी ने भी पानी न पिया, पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं, पर ऊपर जो अदूभुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एक मात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी जैसी कोठरी के अंदर बहुत-से आदमी ठूंस दिये गए हों, एक ही सूराख से थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायं। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नंबर पर पानी की आवश्यकता-प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौके पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हममें आये, पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं ? न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आता।

९. बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मंदिर

२२-५-३२

यहां की बिल्ली की सफाई-पसंदी के बारे में तो मैं लिख चुका हूं। उसको और उसके बच्चों को देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्ली के बच्चों को जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता बिना किसी उपद्रव के और बिना मुंह से एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते कर दिखाती है। बच्चे तुरन्त उसे करने लग जाते हैं। इस रीति से वे दौड़ना, पेड़ पर चढ़ना, सम्हालकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीर को चाटकर साफ कर लेना सीख गये। मां जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गये।

मां बच्चों को अक्सर बेकार भटकने के लिए छोड़ती नहीं । उसका प्रेम मनुष्य के प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चों को बगल में लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते हैं तब खुद लेट जाती है और उन्हें दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चों के पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते हैं। छोटी-सी रकाबी में तीनों दूध पीते हैं। अक्सर मां देखा करती है, पर खुद उसमें हिस्सा नहीं बटाती। वह बच्चों के साथ बच्चों की तरह क्रीड़ा करती है, कुश्ती लड़ती है।

इससे मैंने यह सार निकाला कि हम बच्चों को शिक्षा देना चाहते हैं तो जो बात उनसे कराना चाहते हों वह खुद करनी चाहिए। बच्चों में अनुकरण की भारी शक्ति होती है। मुंह से कहा हुआ वह कम समझेंगे। हम उन्हें सत्य सिखाना चाहते हैं तो खुद हमें बहुत सावधानी से सत्य का पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमें परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीति के विषय में है वही शारीरिक कार्यों के विषय में भी है।

इस रीति से विचार करते हुए हम तुरंत देख सकते हैं कि आज जिस रीति से शिक्षा दी जाती है उसमें पैसे और समय के व्यय के परिमाण में फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि बड़ी उम्र को पहुंचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर हैं। इस स्थान के साथ न्याय नहीं होता। इसका उचित आदर नहीं किया जाता। इससे शिक्षा ने वक्र रूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओं को बुद्धि नहीं है या मनुष्य की जैसी बुद्धि नहीं है। वह जो करते हैं उससे तो हमें बहुत आगे जाना चाहिए; पर इसके शक्य होने के पहले भावी संतान की नीति के रक्षक होने के नाते, हमें खुद उसका पालन करना होगा। जिस बात को हम चाहते हों कि आनेवाली संतानें सीखें उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रम में जो लोग शिक्षक और शिक्षिका हैं वे इस दृष्टी से विचार करने लगें और जहां अमल करना उचित हो वहां करने लगें, इसी उद्देश्य से यह लेख लिखा है।

१०. मृत्यु का बोध

यरवदा-मंदिर

३०-५-३२

आश्रम में अबतक नीचे लिखी मौतें होने की बात मुझे याद है : फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसन्त, इमामसाहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल में सारी रात मैं ही बैठा रहा। सबेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयों को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयों को भी मैं खो बैठा।

ब्रजलाल बड़ी उम्र में, शुद्ध सेवाभाव से आश्रम में आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभारूप हुए। एक लड़के का घड़ा कुएं से निकालते हुए डोर में फंसकर फिसल गये और प्राण तजे।

गीता गीता का पाठ शांति से सुनती हुई चली गई। मेघज नटखट लड़का माना जाता था; पर बीमारी में उसने अद्भुत शांति रखी। बच्चे अक्सर बीमारी में बहुत हैरान होते हैं और पास रहनेवालों को हैरान करते हैं। मेघजी को लगभग आदर्श रोगी कह सकते हैं। वसंत ने बिल्कूल सेवा ली ही नहीं। प्राणघातक चेचक ने एक या दो दिन में ही जान ले ली। वसंत की मृत्यु पंडितजी और लक्ष्मीबहन की कठिन परीक्षा थी, उसमें वे पास हुए।

मगनलाल के विषय में क्या कहूं ? सच पूछिये तो यह गिनती आश्रम में हुई मौतों की है, इसलिए मगनलाल का नाम यहां न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फीसदी

खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है।

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान-कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम में बसा। उन्होंने मृत्यु से हमारे और मुसलामानों के बीच न टूटनेवाली गांठ बांध दी है। इमामसाहब अपने-आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप में आश्रम में आये। (यहां अमीना के दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारे में कोई कहने लायक बात नहीं। उनकी मृत्यु हमें संयम की आवश्यकता का पाठ अवश्य पढ़ातीं है।)

गंगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आंखों के सामने फिरा करता है, उनकी बोली की भनक मेरे कानों में पड़ती है। उनके स्मरणों को याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवन से हम सबको और बहनों को खास तौर से बहुत सबक सीखने हैं। वह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थीं। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी सम्हाल उन्होंने अपने बच्चे मानकर की। उन्होंने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था – उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

इन सभी मृत्युओं का स्मरण अपनी जागृति के लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडल में कण-समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप में तुच्छ कण हैं। हम एक बिल में रहनेवाली चींटियों को गिननें में असमर्थ हैं। चींटी से छोटे जंतुओं को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जंतु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरश: सत्य है। उसका मोह क्या ? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दु:ख दें ? कांच से भी कमजोर--जरा-सी चोट से टूट जानेवाली--देह को बनाये रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मचायें ? मौत के मानी हैं इस देह से जीव का उड़ जाना। इस मौत का डर किसलिए ? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महाप्रपंच क्यों ? इन बातों पर फिर-फिर विचारकर छोटे-बड़े सब दिल से मौत का डर निकाल दें और देह में रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवा के कार्य में उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममें आये, इसके लिए

नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम उन्नीस श्लोक हमें रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है।

पुनश्च – यह लेख लिखा जा चुकने के बाद महादेव ने फातिमा काकी और बालजी की माताजी के संस्मरण दिये हैं; पर मुझे जो सार खींचना था उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूं। बाकी की तीनों मौतों के बारे में जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में

यरवदा-मंदिर

९-६-३२

कोढ़ से पीड़ित एक भाई ने नीचे लिखे हुए उद्गार प्रकट किये हैं--

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियों के लिए आसन, प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करने के बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोग के लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादि के पाठ में, भजन गाने में, ध्यान में और कम-से-कम ५०० गज सूत कातने में मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षा का अर्थ तो यह है—"सब दुखों को मन में बिना विरोध किये, बिना चिन्ता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने-आप में उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञ-कार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमी से दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वर-कृपा से खुले हुए हैं और इनसे आनन्द प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मन में यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिल्कुल हो ही न सके तो! शास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगत् के लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधि से इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकार का यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरों की सेवा पर ही टिक रहा हो तो ऐसे समय क्या कर्तव्य है ! किसी-न-किसी शास्त्र में यह भी पढ़ा है कि जब आदमी को ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानी में डूबकर या ऐसे ही किसी और उपाय से प्राण-त्याग करे।"

यह एक सुंदर पत्र का मेरी भाषा में किया हुआ खुलासा है। इस पत्र से अपने लोगों के लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाई ने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपने में उत्पन्न करें और रोग से पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें।

सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रम में तो पद-पद पर हम इन्हें सुनते हैं; पर जब किसी अनुभवी की कलम से यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़ से पीड़ित जनों से ऐसी भाषा और ऐसे अनुभव की आशा हम नहीं रखते। आम तौर से ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीज का अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्र का सार मैंने आश्रमवासियों के लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञ का अर्थ हम परोपकार के लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं; पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीर से अशक्त है वह यज्ञहीन है जो शरीर सर्वथा आशक्त है वह अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके; वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञ कर्म करने की तीव्र इच्छा हो, देह के विषय में उदासीनता आ गई हो; दूसरों की सेवा लेने से दुख होता हो; बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने-आपको इतमीनान हो गया हो, मेरा खयाल है कि ऐसी हालत में जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राण-त्याग करने का पूर्ण अधिकार है; धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवाले को आघात पहुंचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवाले के मुंह में दूसरों के लिए प्राण-त्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नहीं है, जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीने की तृष्णा घट जाय और मृत्यु का भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोग के समय प्राण-त्याग को धर्म माने तो यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

१२. प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१९-६-३२

प्रार्थना आश्रम का एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीज को हमें ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिये। भोजन करते समय आमतौर से हम किसी को सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना भोजन से करोड़ गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोये तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे । खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचार को जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी उसकी गिनती दम्भ में होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोष किया; प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा ? ऐसी बात होती ही नहीं। अगर हम खाट से उठकर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघगे ही। प्रार्थना में जाने से पहले जाग्रत हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए। सोटे की तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज से, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम लें। इतने पर भी शरीर काबू में न रहे तो खड़ा हो जायं। छोटा हो या बड़ा, इसमें किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटाने के लिए बड़ों को चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब तब खड़े हों जाया करें।

प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाय उसे तुरंत सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

२५-६-३२

सर्प को मारें या नहीं ? स्त्री के ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारी को मारें या नहीं ? खेत में जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलायें या नहीं ? अहिंसा का उपासक इन प्रश्नों को हल करने में न लगे। इन गुत्थियों को जब सुलझाना होगा तब वह अपने-आप सुलझ जायंगी, इस भुलावे में पड़ना अहिंसा को बिसर जाने के बराबर है।

अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने अंतर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर ही नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली ? उसको कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली ? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला ? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया; प्यासे बटोहियों ने मुझसे पानी मांगा; मैंने न दिया। मेहमान आये उनका नमस्कार से भी सत्कार न किया; मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना बिचारे काम लादता रहा; बैल को पैना मारता रहा। रसीई में भात कच्चा था इससे खीझा--ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन न करें तो दुसरे विष्यों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी । अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है। जो कौड़ी की फिक्र करेगा उसकी कौड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

१४. सत्य का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

३-७-३२

जो बात अहिंसा की है वही सत्य की समझिये। गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्य की साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानी में बैठना सत्य को ढांकने का रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपन-आप हो जायगा।

इस दृष्टि से हममें से हरेक को केवल अपने-आप-को ही देखना है। अपने विचार से मैं किसीको ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमें नहीं हैं, उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं ? बोलने में अतिश्योक्ति करता हूं ? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूं ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरएक को रोज अपने-आपसे हिसाब लेकर अपने-आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलने की आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंह से निकल ही न सके, वह भले ही अपने-आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने-आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने-आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

१५. विद्याभ्यास

यरवदा-मंदिर

१०-७-३२

आश्रम का इतिहास लिखते हुए शिक्षा के विषय में जो विचार प्रधान रूप से मेरे मन में चल रहे हैं, उनका निचोड़ दिये देता हूं। आश्रम में कितने लोगों को वाचन शिक्षण-पढ़ाई की तालीम-की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमी को देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रम के साथ जुड़ी ही रहेगी। उसके कारण की चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमें इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यास का अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करने की रीति नहीं जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है, यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टि से प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति में बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है, जिसके-द्वारा हम आत्मा को, अपने-आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसी को साहित्यज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र की, किसीको कला की; पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्म-दर्शन होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है । जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे से छोटे काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है। खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का, जो हरेक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरेक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमें शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन--सत्य-दर्शन के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीज

में वह निपुण है उसके विषय में वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है उसके विषय में विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें और जिसमें पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जायं त्यों-त्यों हमारी विद्या-सत्य-दर्शन की शक्ति-बढ़ती ही जायगी।

तब अक्षर-ज्ञान का क्या हो ? यह प्रश्न अब रहता ही नहीं । जो बात अन्य कार्यों के विषय में है वही अक्षरज्ञान के विषय में है। ऊपर के विवेचन से एक वहम की अर्थात् शिक्षाशाला-रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षक के-भ्रम की जड़ कट जाती है। हमें अक्षरज्ञान की जिज्ञासा हो तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्न से प्राप्त करना है। आश्रम में उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौर से समझा सका होऊं तो अक्षरज्ञान की समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरों को यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

१६. व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१७-७-३२

व्यक्तिगत प्रार्थना के विषय में मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्त्व के विषय में फिर कुछ लिखने की आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना में से हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है ? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्म-दर्शन में--आत्मशुद्धि में--सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्योंही समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के हैं : सवेरे उठते ही अन्तर्यामी को याद करना और रात में आंख मूंदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जागृत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के संपादन में अन्तर्यामी को याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवाले से बुरा काम तो होगा ही नहीं और अंत में उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है, यों जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है, उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मंत्र या भजन की जरूरत नहीं होती । यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरंभ और अंत के लिए मन्त्र देखने में आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति में भगवान को याद करना है, ऐसा करने की आदत बहुत थोड़ों को ही होती है। बहुतों को हो तो दुनिया में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुंचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बांध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अन्त में हर सांस से रामनाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना में वक्त बिल्कुल नहीं जाता। उसमें वक्त की जरूरत नहीं, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आंख मूंदने में समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना में भी वह जाता नहीं मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदय में चलनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करने वाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

१७. देख-रेख की अनावश्यकता

यरवदा-मंदिर

२४-७-३२

यह शीर्षक चौंकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नहीं है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेख के अपना काम-काज चला सकते हैं। हां, यह आशय अवश्य है कि देख-रेख घटाते जाने और अंत में उसको बिल्कुल ही दूर कर देने का उपाय सुझाये।

धार्मिक संस्था में देख-रेख की जितनी जरूरत पड़े, उतनी धर्म की न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्म का--आत्मा का--घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमें किसकी देखरेख रखनी है ? जिसने रसोई या पाखाने की सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने-आप ठीक तौर से अपना काम क्यों न करे ? करेगा यह विश्वास हम क्यों न रखें ? जो निगरानी के बिना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए। हमारे रोज के काम का आत्म-परीक्षण हमारी देख-रेख है।

यहां देख-रेख का अर्थ समझ लेना चाहिए। बच्चे को तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नहीं, इसलिए सौंपे हुए काम को बताना जरूरी होता है। बड़ा भी, उसे कोई खास काम न आता हो तो, देख-रेख मांगता है, चाहता है। सच पूछिये तो इस तरह की देख-रेख नहीं, बल्कि शिक्षक की सहायता है। इस सहायता के सहारे नया सीखनेवाला आगे बढ़ता है।

पर जो देख-रेख रखवाली के रूप में है, वह दोषपूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौर से करता है या नहीं, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चों की भी ऐसी ही निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराई से निकल जाने का रास्ता हमें ढूंढ़ना चाहिए।

इस तलाश की पहली सीढ़ी यह है; जहां-जहां देखरेख रखी जाती हो उन कार्यों को नोट कर लो। उनमें कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेक पर छोड़ दो। संस्थापक और दूसरों को इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चों को भी ईश्वर की उपस्थिति का भान अभी से होना चाहिए। यह कोई वहम की चीज नहीं है, अनिश्चित

नहीं है। अपने अस्तित्व पर अपने निजी अस्तित्व का जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वास की यह बात है।

इस सुझाव पर सब लोग विचार करते रहें और उसपर जहांतक अमल करना शक्य है वहांतक करना अपना धर्म है।

१८. गीता कंठ करो

यरवदा-मंदिर

३१-७-३२

गीता को कंठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तों मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीता का मनन तो बरसों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए यद्यपि मुझे सहज ही इसका संयोग मिल जाय तो गीता कंठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीता के बदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती तो जो अब उसे सीख न सकते हों वे गुजराती या हिन्दी में कंठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्मग्रंथ पर हो वे उसे कंठ करें ।

और कंठ करने का अर्थ भी समझ लीजिये। जिस चीज को हम कंठ करें उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धांतों का घातक न हो। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आंख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं; पर समझ बनी हो-ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं – उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे-हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी-कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

१९. वाचन और विचार-१

यरवदा-मंदिर

१४-८-३२

पाठशालाओं में हम पढ़ते हैं – 'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[१] यह उक्ति शब्दश: सत्य है। हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जाएगा। आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जाएगा; पर जो खाली-खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकार का रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलत: पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे ? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सकता। यह देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करने की आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अत: उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैंने जानबूझकर किया है। सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं। वह तो पागलपन है। कितने ही विचारों के भंवर में पड़कर निराश हो जाते हैं, आत्मघात भी कर बैठते हैं। ऐसे विचार की बात यहां नहीं की जा रही है। इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुए पर विचार करने तक है। मान लीजिये कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना – यह विचारपद्धति कही जायगी। यह मैंने

सादे-से-सादा दृष्टान्त लिया है | इसमें से हरेक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टान्त घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंत में आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

---

१. 'भणतर मिथ्या वगर विचार'

२०. वाचन और विचार-२

यरवदा-मंदिर

२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है?" – अरे मुसाफिर, उठ सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आपसे पूछता है – मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा हुआ के मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति से अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात के मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल लापरवा – रहता है, उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवाले के लिए वह बोझस्वरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

२१. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-१

यरवदा-मंदिर

२८-८-३२

वाचन और विचार के विषय में तो मैं लिख चुका। आज कार्य और विचार के विषय में थोड़ा लिखता हूं। मेरी दृष्टि से विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीति से सज जायं।

जिस स्त्री ने नेवले के मुंह में लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोड़ा, उसने बहुत ही अविचार का काम किया और अंत में अपने बच्चे को बचानेवाले का वध करने के लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिन्दगी भर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाब में लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टान्त तो अंतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूल विषय पर ठीक बैठ सकता है। आश्रम में जितने काम हम करते हैं, विचारपूर्वक करें तो शांति बढ़े, करनेवाले की दक्षता बढ़े, बहुत-सा वक्त बचे और काम में नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवर के जरिए रहंट चलाते हैं। उसे बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है; पर उसके ज्ञान में वृद्धि नहीं होती, अपने काम में उसे रस नहीं आता। आदमी सिर पर खड़ा न हो तो वह रहंट की चर्खी घुमाये नहीं। पर हम तो मनुष्य हैं ! मनुष्य के मानी हैं विचार करनेवाला, ज्ञानवान । हमें पशु की भांति तो नहीं रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते हैं। विचार के बिना करें तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटें । विचारपूर्वक करें तो जानेंगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करने के मानी हैं पूरी सफाई करना, पाखाने को ठीक तौर से ढकना, साफ करने के औजारों को साफ रखना, पाखाने की जांच करना, उसमें खून हो, बदबू हो, कीड़े हों तो समझें कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा लें। हरेक पाखाने का कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमें होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूल से ठीक तौर से ढका नहीं गया है, मैला बाहर पड़ा है, पेशाब भी नीचे पड़ा है, तो यह दोष करनेवाले को ढूंढें और उसको विनयपूर्वक समझावें

। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवा भाव से यह काम करें। इसलिए ज्यों-ज्यों अपने कार्य में विचार से काम लेता जाएगा त्यों-त्यों वह सुधरेगा, सहज होगा और मन ऊबने के बजाय उसमें रस आवेगा। पाखाने के बारे में जितनी बातें सोची जा सकती हैं सब यहां नहीं दी हैं, उनका नमूना भर दे दिया है।

कताई के यज्ञ को लें तो उसके विषय में भी यदि विचारमय काम हो तो हमें उसमें से रस के घूंट मिलेंगे और कताई की कला की प्रगति की हद ही ने होगी। सब विचारपूर्वक कातें तो हम बहुतेरी खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकालें।

यही बात प्रार्थना की है। प्रार्थना क्या है ? किसलिए की जाती है ? मौन क्यों रखते हैं ? प्रार्थना संस्कृत में क्यों हो ? गुजराती, मराठी या हिन्दी में क्यों न कि जाय ? आदि अनेक बातों का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचंडशक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषय में कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते हैं।

योग:कर्मसु कौशलम्--यह गीता का विचार प्रौढ़ है। योग का अर्थ है जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ जने का नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशल से वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवाले को अपने कर्म तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकली पर कातनेवाले विचारक ने चरखे का महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले ने हजारों तकलीवाला चरजखा बनाया। मेरी दृष्टि से इसमें उसकी बुद्धि खुब चली; पर हृदय नहीं चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यता की तुलना में तो यंत्र का आविष्कार करनेवाले की विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

२२. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-२

यरवदा-मंदिर

११-९-३२

काम करने में भी विचार-शक्ति का पूरा उपयोग करने के विषय में लिख चुका हूं। उस पत्र के अन्त में एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमें मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमें ऐसे सुधार करने की बात सोचता है जिससे लाखों-करोड़ों कातनेवालों को आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मैं खुद ही एक चरखे के जरिए लाखों के बराबर सूत कात लूं तो कैसा अच्छा हो ! पहले का विचार समाज-पोषक, दैवी है। दूसरे का आसुरी है, समाजहित-विरोधी है। इसलिए हरेक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नहीं है। वह विचार सबके हित का भी हो, केवल अपने ही स्वार्थ का नहीं। सच पुछिए तो जो केवल अपने ही स्वार्थ के लिए प्रयास करता है वह दूसरों का नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंत में नहीं साध सकता।

इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर हरेक अपने हर काम, हर उद्योग के विषय में विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने काम को रसमय बनाता है, अपनी बुद्धि का विकास करता है, अपने हृदय को विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्य में कुशलता प्राप्त करता है और उसमें ऐसी खोजें और सुधार करता है, जिनसे समाज का कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काम में उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनन्द होता है, थकावट नहीं आती और कार्य कलामय हो जाता है, फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सड़क की सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशाला का हो, किताबें लिखने का हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आये उसीमें वह ईश्वर को देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नहीं होता। उसका रस उसके अन्तर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्तियोग को समझना, साधना चाहता हो उसको हरेक काम इसी तरह करना उचित है।

विविध

नीतिमय जीवन-संबंधी स्फुट रचनाएं

१. आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वर का डर मानता है, विनयपूर्वक अपना अन्तर्नाद सुनता है, उसके अनुसार बर्तता है और मानता है, "ईश्वर जो करता है, अच्छे के लिए करता है।"

निराशावादी कहता है, "मैं करता हूं।" अगर सफलता न मिली तो अपने को बचाकर दूसरे सब लोगों के मत्थे दोष मढ़ता है। भ्रमवश कहता है, "किसे पता, ईश्वर है या नहीं", और खुद अपनेको भला और दुनिया को बुरा मानकर कहता है कि मेरी किसीने कद्र नहीं की और अन्त में आत्मघात कर लेता है, और यदि न करे तो भी मुर्दे की तरह जीवन बिताता है।

आशावादी प्रेम में मगन रहता है। किसीको अपना दुश्मन नहीं मानता। इससे वह निडर होकर जंगलों में और गाँवों में सैर करता है। भयानक जानवरों तथा ऐसे जानवरों-जैसे मनुष्यों से भी वह नहीं डरता; क्योंकि उसकी आत्मा को न तो सांप काट सकता है और न पापी का खंजर ही छेद सकता है। शरीर की तो वह चिंता ही नहीं करता, क्योंकि वह काया को कांच की बोतल समझता है। वह जानता है कि एक-न-एक दिन तो फूटने ही वाली है। इसलिए वह उसकी रक्षा के निमित्त संसार को पीड़ित नहीं करता। वह न किसीको दिक करता है, न किसीकी जान पर ही हाथ उठाता है। वह तो अपने हृदय में वीणा के मधुर गान को निरंतर सुनता है और आनन्द-सागर में डूबा रहता है।

निराशावादी स्वयं राग-द्वेष से भरपूर होता है। इसलिए वह हरएक को अपना दुश्मन मानता है और हरएक से डरता है। अन्तर्नाद तो उसके होता ही नहीं। वह तो मधुमक्खियों की तरह इधर-उधर भिनभिनाता हुआ बाहरी भोगों को भोग-भोगकर रोज थकता है और रोज नया भोग खोजता है, और इस तरह प्रेमरहित तथा अ-मित्र होकर इस दुनिया से कूच कर देता है । उसके नाम की याद तक किसीको नहीं आती।

हिन्दी नवजीवन
२८ अक्तूबर, १९२२

२. आचार बनाम विचार

मौलाना मुहम्मद अली ने इस्लाम-विषयक भाषण में जो भेद दिखाया है, उसे कितने ही समझदार और विवेकवान सज्जन भी नहीं समझ पाये हैं। मौलाना-साहब मानते हैं कि :

१. मनुष्य के आचार और विचार में भेद होता है।

२. श्रेष्ठ विचारवालों का आचार बुरा भी हो सकता है।

३. श्रेष्ठ आचारवाले के विचार दूसरे विचारों के मुकाबले में ही न हो सकते हैं।

यहां विचार का अर्थ है—विश्वास, धर्म, मत। जैसे ईसाई मत में ईसा मसीह को एकान्तिक ईश्वर मानना, इस्लाम में ईश्वर को अद्वैत और मुहम्मदसाहब को पैगम्बर मानना। हिंदू धर्म में मेरे विचार के अनुसार सत्य और अहिंसा की श्रेष्ठता मानी गई है—"सत्यात् नास्ति परो धर्म:", "अहिंसा परमो धर्म:।"

सच यह है कि सारा संसार पूर्वोक्त तीन सिद्धान्तों को मानता है। फर्ज कीजिए कि यूरोप का एक सर्वश्रेष्ठ साधु यह मानता है कि मनुष्य के शरीर की रक्षा के लिए जीवित पशु इत्यादि को तरह-तरह के कष्ट देकर उनपर प्रयोग करने अथवा उन्हें मार डालने में किसी तरह की बुराई नहीं। यही नहीं, बल्कि अहसान करने में बुराई है। इसके खिलाफ, फर्ज कीजिये कि मैं एक दुष्ट मनुष्य हूं, पर मैं मानता हूं कि मनुष्य-शरीर को बचाने के लिए भी किसी जीवधारी की हिंसा करना इन्सानियत को कम कर देना है। तो क्या उस श्रेष्ठ साधु के साथ जरा भी गुस्ताखी किये बिना मैं यह नहीं कह सकता कि केवल विचार-विश्वास-का मुकाबला करें तो मेरे दुष्ट होते हुए भी मेरा विश्वास उन सर्वश्रेष्ठ साधू के विश्वास से बहुत ऊंचे दर्जे का है ?

इस वर्तमान चर्चा में एक बात साफ तौर पर चमक उठती है और वह मानो इस अंधेरे में आशा की किरण है। सब लोग यह प्रतिपादन करते हुए मालूम होते हैं कि आचारहीन विचार बेकार हैं और अकेले शुद्ध विचार से स्वर्ग नहीं मिल सकता। मौलानासाहब ने अपनी राय में कहीं भी इस बात का विरोध नहीं किया है। इस प्रयत्न में मुझे आशा की किरणें दिखाई देती हैं, क्योंकि आचार का पालन करनेवाले तथा उसका निरादर करनेवाले, दोनों, आचार के अर्थात् सदाचार के पुजारी हैं।

परन्तु आचार की पूजा करते हुए हमें विचार की शुद्धता की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहां विचार में दोष होगा, वहां आचार अन्तिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ पावेगा। रावण और इंद्रजीत की तपस्या में किस बात की खामी थी? इन्द्रजीत के संयम का मुकाबला करने के लिए लक्ष्मण के संयम की आवश्यकता थी—यह दिखाकर आदिकवि ने आचार का महत्व सिद्ध किया। परन्तु इन्द्रजीत के विचार – विश्वास – में आर्थिक वैभव को प्रधान पद दिया गया था और लक्ष्मण के विश्वास में वह पद परमार्थ को मिला था। अतएव अंत में कवि ने लक्ष्मण को विजयमाला पहनाई। "यतो धर्मस्ततो जय: का" भी अर्थ यही है। यहां धर्म का अर्थ यही हो सकता है कि उच्च-से-उच्च विचार अर्थात विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार।

एक तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा में जगह नहीं है। वे हैं ढोंगी। उनके पास विचार का, विश्वास का, केवल दावा भर है; पर आचार बिल्कुल स्वांग है – आडंबर है। वास्तव में उनका विश्वास ही नहीं होता। तोता 'राम-राम' रटता है तो क्या इससे लोग उसे राम-भक्त कहेंगे ? फिर भी हम दो तोतों या तोते और चिड़िया की बोली की तुलना करके उनकी बोली की कीमत आंक सकते हैं।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अप्रैल, १९२४

३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व

आज मुझे आपके सामने मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलते हुए आनन्द होता है। अब वहां हमारे जिन भाइयों की विडम्बना हो रही है, उन्हें मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व का क्या खयाल आ सकता है ? वे तो कहेंगे कि जहां से हिन्दुस्तानियों का निकालने का, अथवा एक अंगरेज की मालिकी वाले अखबार ने जैसा कि कहा है, वहां से भूखों मार-मारकर उन्हें निकालने का प्रयत्न वहां की सरकार कर रही है वहां बन्धुत्व किस तरह हो सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। फिर भी मैंने आपके समक्ष इस विषय पर बोलना इसीलिए स्वीकार किया है कि ऐसी विडम्बना के समय और बुरे दिन में ही मनुष्य के प्रति मनुष्य के बन्धुत्व की सच्ची आजमाइश होती है।

बहुत बार मेरी स्तुति की जाती है। उसे मैं एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता हूं। पर आज आपने जिस गुण का आरोप मुझपर किया है, उसे स्वीकार करने को जी चाहता है। आप कहते हैं कि मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलने का अधिकार यदि किसीको हो तो वह आपको अवश्य होना चाहिए। मैं इस बात को मानता हूं। मैंने अनेक बार यह देखने की कोशिश की है कि मैं अपने शत्रु से घृणा कर सकता हूं या नहीं – यह देखने का नहीं कि प्रेम कर सकता हूं या नहीं, पर यह देखने का कि घृणा कर सकता हूं या नहीं – और मुझे ईमानदारी के साथ परन्तु पूरी-पूरी नम्रता के साथ कहना चाहिए कि मुझे नहीं मालूम हुआ कि मैं उससे घृणा कर सकता हूं। मुझे यह याद नहीं आता कि कभी भी मनुष्य के प्रति मेरे मन में तिरस्कार उत्पन्न हुआ हो। मैं नहीं समझ सकता कि यह स्थिति मुझे किस तरह प्राप्त हुई है। पर आपसे यह कहता हूं कि जीवनभर मैं इसीका आचरण करता आया हूं।

बन्धुत्व का अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें, उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्यत्व के साथ नहीं, प्राणि-मात्र के साथ होना चाहिए। कितनी ही मानव-दया-सभाएं इग्लैंड में मासिक पत्र निकालती हैं। एक पत्र में तीस-पैंतीस साल पहले मैंने 'मेरा भाई बैल' नाम की कविता पढ़ी थी। उसमें यह उपदेश बड़ी मनोहर रीति से दिया गया था कि मनुष्य को चाहनेवाला प्राणि-मात्र पर प्रेम करे। मैं उसपर मुग्ध हो गया था। उस समय मुझे हिन्दू धर्म का बहुत कम ज्ञान था। मेरे आस-पास के वायुमण्डल से, मेरे माता-पिता से, तथा स्वजनों से, जो कुछ मिल सकता था, मिला था। तो भी इतना

तो मैं समझ ही गया था कि सब धर्म प्राणि-मात्र के बन्धुत्व का उपदेश करते हैं। पर मैं आज इस व्यापक बन्धुत्व की बात करना नहीं चाहता। मैं तो यह बात यह दिखलाने के लिए करता हूं कि यदि हम अपने शत्रु के साथ भी प्रेम करने के लिए तैयार न हों, तो हमारा बन्धुत्व और कुछ नहीं, एक ढकोसला है। दूसरी तरह से कहूं कि जिसने अपने हृदय में बन्धुत्व के भाव को स्थान दिया है, वह यह नहीं कह सकता कि उसका कोई शत्रु है। लोग चाहें हमें अपना शत्रु मानते रहें पर हम ऐसा दावा न करें।

तब सवाल यह होता है कि जो हमें अपना शत्रु समझते हैं उनके साथ प्रेम किस तरह करें ? प्रतिदिन मुझे हिन्दु, मुसलमान ईसाई लोगों की चिट्ठियां मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि हम शत्रु को मित्र मान सकते हैं। हिन्दू लेखक लिखते हैं कि जो गाय हमारे लिए प्राण-समान प्रिय है, उसको मारनेवाले मुसलमान के साथ प्रेम किस तरह हो सकता है ? ईसाई लेखक पूछते हैं कि अस्पृश्यता को माननेवाले, अपने भाइयों को अछूत समझकर दलित करनेवाले हिन्दुओं के साथ प्रेम किस तरह करें ? लेखक, यदि वह मुसलमान, हो तो पूछता है कि बुतपरस्त हिन्दुओं के साथ मुहब्बत कैसे हो सकती है ? उन तीनों से मेरा यह कहना है, "आपका बन्धुत्व बेकार है, यदि आप अपने वर्णित इन लोगों को नहीं चाह सकते हैं।" परन्तु इस तिरस्कार-भाव का अर्थ क्या है ? इसके मूल में भय है या सहिष्णुता? यदि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं तो हम एक-दूसरे से क्यों डरें, अथवा हमसे भिन्न मत रखनेवाले से द्वेष क्यों करें ? पर जिस कृत्य से हम घृणा करते हों, वह क्या किसी मुसलमान को करने दें ? मेरा बन्धुत्व उत्तर देता है, "हां।" और उसमें इतनी बात अधिक जोड़ता है, "आप अपने को कुरबान कर दीजिये। जो वस्तु आपको प्रिय हो, यदि आप उसकी रक्षा करना चाहते हों तो आप बिना किसी पर हाथ उठाये उसके लिए मर जाइये।" मुझे ऐसी घटनाओं का अनुभव है। आपके अन्दर यदि प्रेम के साथ कष्ट सहने की हिम्मत हो, तो आप पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी कर सकोगे। बदमाश यदि आपसे सवाया बलवान् हो तो आप हाथ उठाकर कया करेंगे ? वह आपको जीतकर अधिक बदमाशी न करेगा? दुष्टता की आग विरोध के घी से अधिक नहीं धधकती ? क्या इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है ? और क्या इतिहास में ही ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुंच जाने वालों ने बड़े-बड़े विकाल पशुओं को वश में कर लिया है ? पर इस पराकाष्ठा की अहिंसा को जानें दें। इसके लिए तो महा शूरवीर योद्धा से भी अधिक बहादुरी की जरूरत है। और जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो,

उसके साथ लड़कर मर जाने के डर से बैठे रहने की अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है। कायरता और बन्धुत्व परस्पर-विरोधी हैं। संसार शत्रु के साथ प्रीति करने की बात को स्वीकार नहीं करता। ईसा के अनुयायी यूरोप में भी अहिंसा के सिद्धांत का मजाक उड़ाया जाता है। वहां से कोई साहब लिखते हैं, "अहिंसा का सिद्धांत अधिक समझाइये", तो कोई कहते हैं, "हिन्दुस्तान में बैठे-बैठे आप भले ही ऐसी बातें कीजिये, किन्तु यूरोप में आप ऐसा नहीं कर सकते ।" और कितने ही लिखते हैं कि ईसाई धर्म तो आज पाखण्ड हो रहा है, ईसाई लोग ईसा के सन्देश को नहीं समझते। इस तरह उसके पहुंचाने की जरूरत है कि हम समझ जायं। तीनों की दृष्टियों से तीनों का कथन ठीक है, पर मुझे कहना होगा कि यदि शत्रु को चाहने का सिद्धांत स्वीकार न करें तो बन्धुत्व की बातें करना हवा में महल बनाना है। कितने ही स्त्री-पुरुष मुझसे पूछते हैं कि क्या लोग वहीं वैर-भाव को छोड़ सकते हैं ? मैं कहता हूं, "हां।" हमें अपने मनुष्यत्व का पूरा भान नहीं, इसीसे वैर नहीं छोड़ा जाता। डार्विन कहता है, हम बन्दर के वंशज हैं। यदि यह सच हो तो हम अभी मनुष्य की दशा प्राप्त नहीं कर पाये हैं। डा. आना किंग्सफर्ड ने लिखा है कि मैंने पेरिस में मनुष्य के रूप में सिंह, शेर, भालू और सांप को विचरते हुए देखा है। इस पशुत्व को मिटाने के लिए मनुष्य को भय छोड़ने की आदश्यकता है। डर अपने अन्दर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियार से सुसज्जित होकर नहीं। महाभारत ने वीर का भूषण अथवा वीर का गुण क्षमा बताया जाता है। जनरल गार्डन का एक पुतला है। उसकी बहादुरी बताने के लिए उसके हाथ में तलवार नहीं, बल्कि एक छड़ी रक्खी गई है। यदि मैं शिल्पकार होता और मैं गार्डन की मूर्ति बनाता तो मैं उन्हें अदब के साथ सीना ताने हुए खड़ा बनाता और नीचे लिखे शब्द संसार को सुनाता हुआ बनाता :

"चाहे कितने ही प्रहार करो, बिना भय के, बिना वैर के उन्हें झेलने के लिए यह सीना खुला हुआ है।"

यह है मेरे वीर का आदर्श ! ऐसे वीर जगत् में अमर हुए हैं। ईसाई धर्म ने ऐसे शूरवीरों को जन्म दिया है। हिन्दू धर्म और इस्लाम ने भी दिया है। मुझे यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि इस्लाम तलवार का धर्म है। इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता।

ये तो व्यक्तियों की बातें हैं। जातियों के निर्वैर हो जाने के भी उदाहरण हैं। ज्यों-ज्यों हम बंधुत्व का सबक सीखते जायंगे और उसके अनुसार चलते जायंगे, त्यों-त्यों वह व्यापक होता जायगा। क्वेकर तथा टालस्टाय वर्णित दुखोबोर का इतिहास क्या कहता है !

परन्तु यूरोप के कितने ही प्रशस्त लेखक तथा भारत के बड़े लेखक कहते हैं कि ऐसा समय कभी नहीं आ सकता कि मनुष्यजाति निर्वैर हो जाय। इसी बात पर मेरा विवाद है। मैं उलटा यह कहता हूं कि मनुष्य जबतक निर्वैर नहीं हो जाता तबतक वह मनुष्य नहीं बन सकता, अपने धाम को नहीं पहुंच सकता। हम चाहें या न चाहें, हमें इसी रास्ते जाना होगा, और आज मैं आपसे यह कहने आया हूं कि लाचार होकर इस रास्ते जाने की अपेक्षा स्वेच्छा से क्यों नहीं जाते ? यह बात जरा विचित्र मालूम होगी कि मुझे ईसाइयों के सामने यह बात करनी पड़ती है। परन्तु हिन्दुओं के सामने भी यही बात करनी पड़ती है। कितने ही ईसाई तो मुझसे कहते हैं कि हजरत ईसा की निर्वैरता का उपदेश केवल उनके बारह शिष्यों के ही लिए था। हिन्दुस्तान में अहिंसा के विराधी लोग कहते हैं कि अहिंसा से नामर्दी फैलेगी। मैं आपसे कहने के लिए आया हूं कि यदि भारतवर्ष अहिंसक न बनेगा तो उसका सर्वनाश समझिये, दूसरी तमाम कौमों का नाश समझिये। भारतवर्ष तो एक भारी भूखण्ड है। वह यदि हिंसक हो जाय तो और खण्डों की तरह वह भी दुर्बल पर सीनाजोरी करेगा और यदि ऐसा हुआ तो इसका क्या फल होगा, इसकी कल्पना कर लीजिये।

मेरी राष्ट्रीयता में प्राणि-मात्र का समावेश होता है। संसार की समस्त जातियों का समावेश होता है। और यदि मैं भारतवर्ष अहिंसा का कायल कर सकूं तो भारत सारे जगत् को भी चमत्कार दिखा सकेगा। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रों की चिता-भस्म पर खड़ा हो। मैं चाहता हूं कि भारत आत्म-बल प्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रों को बलवान बनावे। दूसरे राष्ट्र हमें बल का मार्ग नहीं दिखा रहे हैं। इसीलिए मुझे इस अचल सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधान को स्वीकार न करूंगा, जिसका आधार पशु-बल हो।

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चौदह सिद्धान्तों की रचना की और उसपर कलश चढ़ाते हुए कहा, “यदि हम इसमें सफल न हों तो फिर हथियार तो है ही।” मैं इसे उलट कर कहना चाहता हूं, “हमारे सब

पार्थिव शस्त्र बेकार हुए हैं, किसी नये शस्त्र को खोजें | चलो, अब प्रेम का शस्त्र—सत्य का शस्त्र—लें। यह शस्त्र जब हमें मिल जायगा तब हमें दूसरे किसी शस्त्र की जरूरत न रहेगी।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अगस्त १९१५

४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हम सब पाप से युक्त हैं। फिर भी हम चाहते हैं कि संसार हमें सहन करे, निबाहे। तब अंग्रेजों को भी हम क्यों न निबाह लें ? ईश्वर जानता है कि अंग्रेज राज-कर्त्ताओं के पाप की टीका मुझसे अधिक सख्त और निडर दूसरे किसी ने न की होगी, वर्तमान शासन-प्रथा की दुष्टता की निन्दा मुझसे अधिक कठोर किसी ने न की होगी। फिर भी उस प्रथा के प्रवर्तकों या संचालकों से मुझे जरा भी घृणा नहीं। अपने विषय में तो मेरा दावा है कि मैंने उनके प्रति प्रेम रक्खा है और फिर भी उनके अपराध के प्रति मैं अन्धा नहीं। हम प्रेम तभी करें जब किसी में गुण हो, तो क्या इसे प्रेम कह सकते हैं ? यदि मैं अपने धर्म का पालन करने वाला हूं, यदि मैं मानव-जाति के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करता हूं तो मुझे मनुष्य-जाति की दोष-पात्रता, अपने विरोधियों की न्यूनता और पाप के देखने पर उनके प्रति घृणा नहीं, बल्कि प्रेम करना चाहिए। मैंने तो प्रचलित शासन-प्रणाली को 'राक्षसी' कहा है और अब भी कहता हूं, परन्तु इसलिए यदि उस के संचालकों को सजा दिलाने को षड्यन्त्र रचने लगूं तो बस मेरा खात्मा समझिये। असहयोग द्वेष या घृणा का मंत्र नहीं, प्रेम का मंत्र है। कितने ही सत्याग्रही और असहयोगी केवल नामधारी हैं, यह मैं जानता हूं। वे कदम-कदम पर अपने धर्म का ध्वंस करते हैं, यह मुझे पता है। परन्तु इस प्रेम-मंत्र के रहस्य के विषय में तो बिल्कुल संदेह ही नहीं है। इसका रहस्य यह है कि स्वयं कष्ट उठा कर विराधी को जीतना, स्वयं संकट सहन कर जालिम को नम्र बनाना। सत्याग्रह का रहस्य यही है कि जो धर्म पिता और पुत्र में है, वही एक समूह का दूसरे समूह के प्रति, शासक और शासित में पालन किया जाय। पुत्र पिता के और पिता पुत्र के प्रति अपनी आंख मूंद रक्खे तो उसका प्रेम अन्धा है, पर उसके पाप को जानते हुए यदि प्रेम से उसे जीते, तभी उस प्रेम में विवेक है। यह विवेक-युक्त प्रेम सुधारक का प्रेम है और यह प्रेम सब दुःखों के निवारण की कुंजी है।

हिन्दी नवजीवन
१० सितम्बर १९२५

५. प्रिय और अप्रिय सत्य

हाल ही में प्रकाशित हुए एक लेखक के एक पत्र में से मैंने कुछ वाक्य निकाल डाले थे। उसके सिललिले में वे शिकायत करते हैं:

"मेरे उस पत्र से आपने जो कुछ अंश निकाल डाला, उसके होते हुए भी मैं कहता हूं कि आपको भेजे अपने तमाम पत्रों में और खासकर उनमें, जिनका संबंध जातिगत प्रश्नों से है, मैंने 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न बूयात सत्यम प्रियम्' इस दूरदृष्टि-पूर्ण वचन का पालन नहीं किया है, बल्कि विलियम लॉयड गैरिसन की उस उक्ति का पालन किया है, जो कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' बम्बई का ध्येय-सूत्र है – मैं सत्य की तरह कठोर-अप्रिय बोलूंगा और न्याय की तरह अटल आग्रही रहूंगा, आदि।"

मैं अप्रिय सत्य का ख्याल नहीं करता। हां, तीखे, चटपटे सत्य पर जरूर मेरा ऐतराज है। तीखी, चटपटी भाषा सत्य के नजदीक उतनी ही विजातीय है, जितनी कि नीरोग जठर के लिए तेज मिर्च। जो वाक्य मैंने हटा लिये थे, वे लेखक के आशय को स्पष्ट करने के लिए या उसमें से कोई मुद्दा निकालने के लिए आवश्यक न थे। वे न तो उपयोगी थे, न आवश्यक, उल्टा दिल दुखाने वाले थे। ऐसा विचार करने का रिवाज-सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलने के लिए मनुष्य को अप्रिय भाषा का प्रयोग करना चाहिए, हालांकि जब सत्य अप्रियता के साथ में उपस्थित करते हैं तब उसको हानि पहुंचती है। यह ऐसा ही है जैसा कि शक्ति को सहारा देना। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान् है और जब कड़े शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। मुझे उस संस्कृत-वचन में और गैरिसन के सूत्र में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। मेरी राय में संस्कृत-श्लोक का अर्थ है कि मनुष्य को सत्य प्रिय-मृदु-भाषा में बोलना चाहिए। यदि मृदुलता से ऐसा न कर सके तो बेहतर है कि वह चुप रहे। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अपनी जिव्हा को कब्जे में नहीं रख सकता, उसमें सत्य का अधिष्ठान नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो "अहिंसा-शून्य सत्य, नहीं, बल्कि असत्य है।" गैरिसन के सूत्र का अर्थ उसके जीवन को सामने रखकर लगाना चाहिए। वह अपने समय का एक नम्र-से-नम्न मनुष्य था। उसकी भाषा को देखिये, वह सत्य की ही तरह कठोर होगी, पर चूंकि सत्य वही होता है, जोकि कभी कठोर नहीं होता, बल्कि हमेशा प्रिय और हितकर होता है, उस सूत्र का यही अर्थ हो सकता है कि गैरिसन उतना ही नम्र होगा, जितना कि सत्य। बस, दोनों वचन वक्ता या लेखक की आंतरिक अवस्था से सम्बन्ध रखते

हैं, उस प्रभाव से नहीं, जोकि उन लोगों पर पड़ेगा, जिनके सम्बन्ध में वह लिखा या कहा गया हो. . . इन दिनों, जबकि चारों ओर कटुता फैली हुई है, अति सावधानी से भी कोई भारी बात नहीं कही जा सकती। और आखिर पूर्ण सत्य को जानता ही कौन है ? मामूली व्यवहारों में तो सत्य सिर्फ एक सापेक्ष शब्द है। जो बात मेरे नजदीक सत्य नहीं हो सकती, वही आवश्यक रूप से मेरे अन्य साथियों के नजदीक सत्य नहीं हो सकती। हम सब उन अंधे आदमियों की तरह हैं, जिन्होंने हाथी को टटोल-टटोलकर उसका जुदा-जुदा वर्णन किया था और उनकी बुद्धि और विचार के अनुसार वे सब सच थे, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि वे सब गलती पर थे। हर आदमी सत्य से बहुत दूर रहा था। इसलिए यदि कोई आदमी कटुता से बचते रहने की आवश्यकता पर जोर दे तो वह कुछ ज्यादा बात नहीं कही जा सकती। कटुता से कल्पना-पथ मलिन हो जाता है और मनुष्य उस मर्यादित सत्य को भी देखने में उस हद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हद तक कि शरीर से अंधे मनुष्य देख पायें।

हिन्दी नवजीवम
१७ सितम्बर, १९२५

६. यह सुधार है ?

एक लेखक, जिन्हें मैं अच्छी तरह पहचानता हूं, इस प्रकार लिखते हैं :

"बार-बार मन में यही सवाल होता है कि क्या प्रचलित नीति प्राकृतिक नीति है ? आपने नीति-धर्म की पुस्तक लिखकर प्रचलित नीति का समर्थन किया है। क्या यह प्रचलित नीति कुदरती है ? मेरा तो यह खयाल है कि वह कुदरती है, क्योंकि वर्तमान नीति के कारण ही मनुष्य विषय-विकार में पशु से भी अधम बन गया है। आज की नीति की मर्यादा के कारण संतोषकारक विवाह शायद ही कहीं होता होगा, नहीं होता है, यह कहूं तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। जब विवाह का नियम न था, उस समय कुदरत के नियमों के अनुसार स्त्री-पुरुषों का समागम होता था और वह समागम सुख-रूप होता था। आज नीति के बन्धनों के कारण वह समागम एक प्रकार का दु:ख हो गया है। इस दु:ख में सारा जगत् फंसा हुआ है और फंसता जा रहा है।

"अब नीति कहेंगे किसे ? एक नीति दूसरे की अनीति होती है। एक एक ही पत्नी के साथ विवाह का होना स्वीकार करता है, दूसरा अनेक पत्नी करने की इजाजत देता है। कोई काका-मामा की सन्तानों के साथ विवाह-सम्बन्ध को त्याज्य मानते हैं तो कोई उसके लिए इजाज़त भी देते हैं। तो अब इसमें नीति क्या समझनी चाहिए ? मैं तो यह कहता हूं कि विवाह एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था है, उसका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराने जमाने के महापुरुषों ने देशकालानुसार नीति की व्यवस्था की थी।

"अब इस नीति के कारण जगत् की कितनी हानि हुई है, इसकी जांच करें :

(१) प्रमेह (सुज़ाक) उपदंश (गरमी) इत्यादि रोग उत्पन्न हुए। पशुओं में ये रोग नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक समागम होता है।

(२) बाल-हत्याएं करायीं। यह लिखने में मेरा हृदय कांप उठता है। केवल इस नीति के नियम के कारण ही तो एक कोमल हृदय की माता क्रूर बनकर अपने बालक का गर्भ में या उसके गर्भ के बाहर आने पर नाश करती है।

(३) बाल-विवाह, वृद्ध पति के साथ छोटी उम्र की लड़कियों का विवाह इत्यादि पसन्द न करने योग्य समागमों का होना। ऐसे समागमों के कारण ही आज संसार और उसमें भी विशेषकर भारतवर्ष, दुर्बल बना हुआ है।

(४) जर, जोरू और ज़मीन के तीन प्रकार के झगड़ों में भी जोरू के लिए किये गए झगड़ों को प्रथम्र स्थान प्राप्त है। ये भी वर्तमान नीति के कारण ही होते हैं।

"उपरोक्त चार कारणों के सिवा दूसरे कारण भी होंगे। यदि मेरी दलील ठीक है तो क्या प्रचलित नीति में कोई सुधार नहीं किया जाना चाहिए ?

"ब्रह्मचर्य को आप मानते हैं, यह ठीक ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य राजी-खुशी का होना चाहिए, जबर्दस्ती का नहीं। और हिन्दू लोग लाखों विधवाओं से जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य का पालन कराते हैं। इन विधवाओं के दु:खों को तो आप जानते ही हैं। आप यह भी जानते हैं कि इसी कारण से बाल-हत्याएं होती हैं। यदि आप पुनर्विवाह के लिए एक बड़ी हलचल करें तो क्या बुरा ? उसकी आवश्यकता भी कुछ कम नहीं है। आप उसके प्रति जितना चाहिए, उतना ध्यान क्यों नहीं दे रहे हैं ?"

मैं यह खयाल करता हूं कि लेखक ने ऊपर जो प्रश्न पूछे हैं, इस विषय पर मुझसे कुछ लिखाने के लिए ही पूछे हैं, क्योंकि ऊपर के लेख में जिस पक्ष का समर्थन किया गया है, उसका लेखक स्वयं ही समर्थन करते हों तो इसकी मुझे कभी बू तक नहीं मिली है, परन्तु मैं यह जानता हूं कि उन्होंने जैसे प्रश्न पूछे हैं, वैसे प्रश्न आजकल भारतवर्ष में भी हो रहे हैं। उसकी उत्पत्ति पश्चिम में हुई, और विवाह को पुरानी, जंगली और अनीति की वृद्धि करने वाली प्रथा मानने वालों की संख्या पश्चिम में कुछ कम नहीं है। शायद वह संख्या बढ़ रही होगी। विवाह को जंगली साबित करने के लिए पश्चिम में जो दलीलें दी जाती हैं, उन सब दलीलों को मैंने नहीं पढ़ा है। परन्तु ऊपर लेखक ने जैसी दलीलें की हैं, वैसी ही वे दलीलें हों तो मेरे-जैसे पुराण-प्रिय को (अथवा यदि मेरा दावा कुबूल रक्खा जाय तो सनातनी को) उनका खण्डन करने में कोई मुश्किल या पसोपेश न होगा।

मनुष्य की तुलना पशु के साथ करने में ही मूलत: गलती होती है। मनुष्य के लिए जो नीति और आदर्श रक्खे गये हैं, वे बहुतांश में पशु-नीति से जुदा हैं। और उत्तम हैं और यही मनुष्य की विशेषता है अर्थात् कुदरत के नियमों का जो अर्थ पशु-योनि के लिए किया जा सकता है, वह मनुष्य-योनि के लिए

हमेशा नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ने मनुष्य को विवेक-शक्ति दी है। पशु केवल पराधीन है। इसलिए पशु के लिए स्वतंत्रता अथवा अपनी पसंदगी-जैसी कोई चीज़ नहीं है। मनुष्य की अपनी पसन्दगी होती है। वह सार-असार का विचार कर सकता है और उसके स्वतंत्र होने से उसे पाप-पुण्य भी लगता है, और जहां उसकी अपनी पसन्दगी रक्खी गयी है, वहां उसे पशु से भी अधम बनने का अवकाश रहता है। उसी प्रकार यदि वह अपने दिव्य स्वभाव के अनुकूल चले तो वह आगे भी बढ़ सकता है। जंगलियों में भी जंगली दीखने वाली कौमों में भी थोड़े-बहुत अंशों में विवाह का अंकुश होता है। यदि यह कहा जाय कि यह अंकुश रखने में ही जंगलीपन है, क्योंकि पशु किसी अंकुश के वश नहीं होते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि स्वच्छन्दता ही मनुष्य का नियम बन जायगा। परन्तु यदि सब मनुष्य चौबीस घण्टे तक भी स्वेच्छाचारी बनकर रहें तो सारे जगत् का नाश हो जायगा। न कोई किसी की मानेगा, न सुनेगा, स्त्री और पुरुष में मर्यादा का होना अधर्म गिना जायगा, और मनुष्य का विकार तो पशु के बनिस्बत कहीं अधिक होता है। इस विकार की लगाम ढीली कर दी कि उसके वेग से उत्पन्न होने वाला अग्नि ज्वालामुखी की तरह भभक उठेगा और संसार को क्षण मात्र में भस्म कर देगा। थोड़ा-सा विचार करने पर यह मालूम होगा कि मनुष्य इस संसार में दूसरे अनेक प्राणियों पर जो अधिकार प्राप्त किये हुए हैं, वह केवल संयम, त्याग और आत्मबलिदान, यज्ञ और कुरबानी के कारण ही प्राप्त किये हुए हैं।

उपदेश, प्रमेह इत्यादि का उपद्रव विवाह के नियमों का भंग करने से और मनुष्य के पशु न होने पर भी पशु का अनुकरण करने में दोषी बन जाने से ही होता है। विवाह के नियमों का पालन करने वाले ऐसे एक भी शख्स को मैं नहीं जानता हूं, जिसे इन भयंकर रोगों का शिकार होना पड़ा हो। जहां-जहां ये रोग हुए हैं, वहां-वहां अधिकांश में विवाह-नीति की भंग करने से ही वे हुए हैं अथवा उस नीति का भंग करने वालों के स्पर्श से ही हुए हैं। वैद्यक शास्त्र से यह बात सिद्ध होती है। बाल-विवाह और बाल-हत्या का निर्दय रिवाज इस विवाह-नीति के कारण नहीं, परन्तु विवाह-नीति के भंग से ही उस रिवाज की उत्पत्ति हुई है। विवाह-नीति तो यह कहती है कि जब पुरुष अथवा स्त्री योग्य वय के हों, उन्हें प्रजोत्पत्ति की इच्छा हो, उनका स्वास्थ्य अच्छा हो, तभी वे अमुक मर्यादा का पालन करते हुए अपने लिए योग्य पत्नी या पति ढूंढ़ लें अथवा उनके माता-पिता उसका प्रबन्ध कर दें। जो साथी ढूंढ़ा जाय, उसमें भी आरोग्य इत्यादि के गुणों का होना आवश्यक है। इस विवाह-नीति का पालन करने वाले मनुष्य,

संसार में चाहे कहीं भी जाओ और देखो, सुखी ही दिखायी देंगे। जो बात बाल-विवाह के सम्बन्ध में है, वही वैधव्य के सम्बन्ध में भी है। विवाह-नीति के भंग से ही दु:खरूप वैधव्य उत्पन्न होता है जहां विवाह शुद्ध होता है वहां वैधव्य अथवा विधुरता सहज सुख-रूप और शोभा-रूप होती है। जहां ज्ञानपूर्वक विवाह-सम्बन्ध जोड़ा गया है, वहां वह सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं होता है, वह आत्मिक हो जाता है और देह छूट जाने पर भी आत्मा का सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता है। जहां इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वहां पुनर्विवाह असम्भव है, अयोग्य है और अधर्म है। जिस विवाह में उपर्युक्त नियमों का पालन नहीं होता है, उस विवाह के सम्बन्ध को विवाह का नाम नहीं दिया जाना चाहिए। और जहां विवाह नहीं होता है, वहां वैधव्य अथवा विधुरता-जैसी कोई चीज ही नहीं होती है। यदि हम ऐसे आदर्श विवाह बहुत होते हुए नहीं देखते हैं तो उससे विवाह की प्रथा का नाश करने का कोई कारण नहीं दिखायी देता है। हां, उसे उत्तम आदर्श के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करने के लिए वह एक सबल कारण अवश्य हो सकता है।

सत्य के नाम से असत्य का प्रचार करने वालों की संख्या को देखकर यदि कोई सत्य का ही दोष निकाले और उसकी अपूर्णता सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अज्ञानी कहेंगे। उसी प्रकार विवाह के भंग के दृष्टान्तों से विवाह-नीति की निन्दा करने का प्रयत्न भी अज्ञान और अविचार का ही चिन्ह है।

लेखक कहते हैं कि विवाह में धर्म या नीति कुछ भी नहीं है, वह तो एक रूढ़ि अथवा रिवाज है, और वह भी धर्म और नीति के विरुद्ध है और इसलिए उठा देने के योग्य है। मेरी अल्प मति के अनुसार तो विवाह धर्म की मर्यादा है और उसे यदि उठा दिया जायगा तो संसार में धर्म-जैसी कोई चीज़ ही न रहेगी। धर्म की जड़ ही संयम अथवा मर्यादा है। जो मनुष्य संयम का पालन नहीं करता है, वह धर्म को क्या समझेगा ? पशु के बनिस्बत मनुष्य में बहुत ही अधिक विकार होता है। दोनों में जो विकार है उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती है। जो मनुष्य विकारों को अपने वश में नहीं रख सकता है, वह मनुष्य ईश्वर को पहचान ही नहीं सकता है। इस सिद्धान्त का समर्थन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि जो लोग ईश्वर का अस्तित्व अथवा आत्मा और देह की भिन्नता को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए विवाह-बन्धन की आवश्यकता को सिद्ध करना बड़ा ही मुश्किल काम है। परन्तु जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसका विकास करना चाहता

है, उसे यह समझाने की कोई आवश्यकता न होगी कि देह का दमन किये बिना आत्मा की पहचान और उसका विकास असम्भव है। देह या तो स्वच्छन्दता का भाजन होगा अथवा आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र होगा। यदि वह आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र है तो स्वेच्छाचार के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं है। देह को प्रतिक्षण आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ज़मीन, जोरू और ज़र ये तीनों वहीं झगड़े का कारण होते हैं, जहां संयम-धर्म का पालन नहीं होता है। विवाह की प्रथा को जितने अंशों में मनुष्य आदर की दृष्टि से देखते हैं, उतने अंशों में स्त्री झगड़े का कारण होने से बच जाती है। यदि पशु की तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष भी जहां जैसा चाहे, वैसा व्यवहार रख सकते होते तो मनुष्यों में बड़ा झगड़ा होता और वे एक-दूसरे का नाश करते। इसलिए मेरा तो यह दृढ़ अभिप्राय है कि जिस दुराचार और जिन दोषों का लेखक ने उल्लेख किया है उसकी औषधि विवाह-धर्म का छेदन नहीं है, परन्तु विवाह-धर्म का सूक्ष्म निरीक्षण और पालन है।

किसी जगह रिश्तेदारों में विवाह-सम्बन्ध जोड़ने की स्वतंत्रता होती है और किसी जगह ऐसी स्वतंत्रता नहीं होती। यह सच है, यह नीति की भिन्नता है। किसी जगह एक पत्नी-व्रत का पालन करना धर्म माना जाता है और किसी जगह एक समय में अनेक पत्नी करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। यह बात चाहने योग्य है कि ऐसी नीति की भिन्नता न हो, परन्तु यह भिन्नता हमारी अपूर्णता की सूचक है, नीति की अनावश्यकता की सूचक कभी नहीं। ज्यों-ज्यों हम अधिक अनुभव करते जायंगे, त्यों-त्यों सब कौमों की और सभी धर्मों के लोगों की नीति में ऐक्य होता जायगा। नीति के अधिकार का स्वीकार करने वाला जगत् तो आज भी एक-पत्नी-व्रत को आदर की दृष्टि से देखता है। किसी भी धर्म में अनेक पत्नी करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ अनेक पत्नी करने की इजाजत ही है। देश और समय को देखकर अमुक इजाजत दी जाय तो उससे आदर्श कुछ कुछ बिगड़ता नहीं है और न उसकी कोई भिन्नता ही सिद्ध होती है।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मैं अपने विचारों को अनेक बार प्रकाशित कर चुका हूं। बाल-विधवा के-पुनर्विवाह को मैं इष्ट मानता हूं यही नहीं, मैं यह भी मानता हूं कि उनकी शादी कर देना उनके माता-पिता का कर्तव्य है।

हिन्दी नवजीवन, २९ अप्रैल १९२६

७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि

वह शिक्षक, जिन्होंने अपने शिष्यों को चरखा चलाना इसलिए सिखाया था कि मेरी आज्ञा है, लिखते हैं :

"२४ जून १९२६ के 'यंग इंडिया' में 'महात्माजी का हुक्म' शीर्षक आपका लेख पढ़कर निम्नलिखित शंकाएं मेरे मन में उत्पन्न हुई :

"आप विवेक को बहुत प्रधानता देते हैं। क्या आपने 'यंग इंडिया' अथवा 'नवजीवन' में यह भी नहीं लिखा था कि विवेक इंग्लैण्ड के राजा की तरह इन्द्रिय-रूपी अपने मन्त्रियों के हाथ में सोलहों आने है ? क्या आदमी प्राय: उसी दिशा में तर्क नहीं करता, जिस दिशा में उसकी इन्द्रियां उसे ले जाती हैं ? तब फिर आप बुद्धि को पथ-प्रर्दशक कैसे करार दे सकते हैं ? क्या आपने यह नहीं कहा है कि तर्क विश्वास के बाद आता है ? "इसलिए यदि किसी व्यक्ति में कातने की रुचि नहीं है तो उसे न कातने के पक्ष में दलीलें भी मिल जायंगी। छोटे बच्चे की विचार-शक्ति पर अधिक जोर डालना कहां तक वांछनीय है ? महान् सुधारक रूसी ने कहा था कि बचपन बुद्धि की सुषुप्तावस्था है। इसलिए यह बाल्यकाल में अच्छी आदतों को महज सिखाने के पक्ष में थे। और निस्सन्देह, लड़कों को किसी महात्मा के हुक्म के अनुसार काम करना सिखाना-और फिर खास तौर पर तब, जबकि उस महात्मा के उपदेश में शारीरिक श्रम के लिए स्थान हो-तो एक सुटेव का ही डलवाना है। जब बच्चे बड़े होंगें, तब वे कातने के पक्ष में बहुत-सी बातें ढूंढ निकालेंगे। लेकिन तबतक के लिए क्या अन्ध वीरोपसना का भाव (जैसा कि आप उसे कहना चाहते हैं) उनमें जाग्रत करना ठीक न होगा ? क्या हम लोगों ने आजकल बुद्धि को एक खिलवाड़-सा नहीं बना रक्खा है ? सड़ी-गली-सी बातों के लिए हम लम्बी-चौड़ी दलीलें ढूंढ़ने में माथा-पच्ची करते हैं और तब भी सन्तुष्ट नहीं होते। बुद्धि का बेशक एक स्थान है, परन्तु जो स्थान आजकल हम लोगों ने उसे दे रक्खा है, उससे कहीं नीचा है।

"जबतक कि किसी व्यक्ति को पक्के तौर पर यह न याद हो कि वह पहले अमुक सम्बन्ध में क्या कह चुका है और किस परिस्थिति में, तबतक अपने ही विरुद्ध वाक्य ____ करना ठीक नहीं है।"

जो-जो बातें उक्त सज्जन मेरे द्वारा लिखित बतलाते हैं, वे बेशक मैंने किसी-न-किसी समय लिखी हैं, परन्तु बिल्कुल दूसरी ही परिस्थिति में। जबकि कोई बात कारण-सहित बिल्कुल अच्छी तरह से बतलाना सम्भव है, यहां तक कि बच्चे भी खूब अच्छी तरह से उसे समझ सकते हों, तो किसी विद्वान के नाम पर उसे बतलाने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देने का कोई कारण नहीं है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। हरेक व्यक्ति अपनी रुचि और अरुचि रखता है और जबकि कोई व्यक्ति 'वीर' में श्रद्धा रखने लगे, तब वह अपने विवेक को विदा कर देता है और उसका यह खिलवाड़ बना लेता है। इसी को मैं अन्ध वीरोपासना कहता हूं। वीरोपासना एक उत्तम गुण है। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति बिना आदर्श के उन्नति नहीं कर सकता है। उसके लिए 'वीर' प्रकाशदायक और उत्साहवर्धक हुआ करता है। वह भाव को कार्य में परिणत करना सम्भव करता है और शायद बिना उसके, लोग अपनी कमजोरी के कारण कार्य करने पर उद्यत न होते। वह हमको निराशा की दलदल से उबारता है, उसके कृत्यों का स्मरण हममें असीम त्याग करने का बल भरता है। परन्तु यह कदापि न होना चाहिए कि वह विवेक को नष्ट कर दे और हमारी बुद्धि को पंगु बना दे। हममें से उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट आत्माओं के कथनों तथा कार्यों तक को हमें अच्छी तरह कसौटी पर कस लेना चाहिए, क्योंकि वे 'वीर' आखिर मनुष्य और नाशवान् हैं। वह भी ठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं, जैसी कि हममें से अधम-से अधम। उनकी उत्तमता तो उनकें निर्णय तथा काम करने की उनकी शक्ति में है। इसलिए जब वे गलती करते हैं, तब परिणाम बड़ा भयंकर होता है। वे उस व्यक्ति या राष्ट्र का नाश मार देते हैं जो कि अन्ध वीरोपासना करने की आदत में हैं और बिना सोचे-समझे तथा बिना शंका तक किये उसकी सब बातों को मान लेते हैं। इसलिए वीरोपासना के प्रति अन्धभक्ति विवेक की अन्धभक्ति से ज्यादा खराब है। सच बात यह है कि विवेक की अन्धभक्ति कोई चीज है ही नहीं। परन्तु उक्त शिक्षक की, विवेक-सम्बन्धी चेतावनी से एक लाभ हुआ है – यह देखते हुए कि अधिकांश रूप से विवेक व्यवहार का एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, यह आवश्यक है कि उसके मंत्री आज्ञाकारी एवं शुद्ध हों। इसलिए इन्द्रियों को कठोर संयम द्वारा वश में कर लेना चाहिए, ताकि विवेक का आज्ञा-पालन वे खुशी से किया करें, न कि यह कि उल्टे विवेक को उनका निस्सहाय गुलाम होना पड़े।

माना कि बच्चों की विवेक-शक्ति सुषुष्तावस्था में होती है, परन्तु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेम से जाग्रत कर सकता तथा उसे शिक्षित बना सकता है। वह बच्चों में संयम की टेव डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि उनकी इन्द्रियों के वशीभूत न होकर बचपन से ही उनकी पथ-प्रदर्शक बन जाय | बच्चों से किसी वीर के उपदेश के अनुसार चलने को कहना कोई संयम नहीं है। उससे किसी आदत का बीजारोपण नहीं होता। वे बच्चे, जिन्हें किसी काम को बिना सोचे-समझे ही करना सिखाया जाता है, काहिल हो जाते हैं। और यदि दैवात् कहीं दूसरा शिक्षक उन बच्चों के चित्त-रूपी सिंहासन से वीर-रूपी उस राजा को च्युत करा दे, जिसको पहला शिक्षक वहां आसीन कर गया था, तब तो जानो, वे अपने भावी जीवन में किसी काम के नहीं रहे । और यदि शुरू से हो, जो कुछ उनको बतलाया जाय, अच्छी तरह समझाया जाय और उसके बाद उनके सामने उन पुरुषों के उदाहरण पेश किये जायं, जिन्होंने महान् काम किये हैं, ताकि उनके संकल्प में प्राबल्य आवे या विवेक की पुष्टि हो, तो सम्भव है कि शक्तिशाली और चारित्र्यवान् नागरिक बनें और कठिन अवसरों पर दृढ़ रह कर अपना मुख उज्जवल करें।

हिन्दी नवजीवन
२९ जुलाई १९२६

८. प्रतिज्ञा का रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं :

"हम जिस काम को कर सकते हैं और करने की इच्छा भी करते हैं, परन्तु फिर भी कर नहीं पाते और जब उस कार्य के करने का समय आता है तो मन की कमजोरी से या स्मरण रहने पर भी हम उसकी अवहेलना कर देते हैं। ऐसा उपाय बताइये कि हम उस कार्य को करने के लिए बाधित हो जायं और अवश्य करें।"

ऐसा प्रश्न किसके मन में उत्पन्न न होता होगा ? परन्तु प्रश्न में गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्य की उन्नति करती है, इसका केवल एकमात्र कारण यह है कि प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भंग होने की गुंजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद अगर उसके भंग होने की गुंजाइश न हो तो पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान न रहे। संकल्प तो संकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप-रूपी है। दीप की ओर लक्ष्य रक्खे तो अनेक तूफानों में से गुजरते हुए भी मनुष्य उबर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफान को शान्त नहीं कर सकता है, तो भी वह उस तूफान के बीच से उसके सुरक्षित रूप से निकल जाने की शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्य का संकल्प हृदय-रूपी समुद्र में उछाल मारती हुई तरंगों से बचाने वाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालत में संकल्प-कर्त्ता का पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न ढूंढे मिला है और न वह मिलने वाला ही है। यही बात उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो सत्य और यमनियमादि की जो महत्ता है, वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में अथवा लाख दस लाख रुपया एकत्र करने में मनुष्य भारी प्रयत्न करता है, उत्तरी ध्रुव-जैसी साधारण वस्तु का दर्शन करने के लिए अनेक मनुष्य अपनी जान-माल को जोखिम में डालने में भय नहीं खाते हैं, तो राग-द्वेष आदि रूपी महाशत्रुओं को जीतने के लिए उपर्युक्त प्रयत्नों की अपेक्षा सहस्त्र गुना प्रयत्न करना पड़े तो उसमें आश्चर्य और क्षोभ क्यों हो ? इस प्रकार की अमर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न करने में ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तरी ध्रुव का दर्शन न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है, किन्तु जबतक शरीर में प्राण रहे तबतक राग-द्वेष इत्यादि को जीतने में जितना प्रयत्न किया जाय, उतना हमारी प्रगति का ही सूचक है। ऐसी वस्तु के लिए स्वल्प प्रयत्न भी निष्फल नहीं होता है, ऐसा भगवान का वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थी को तो इतना ही आश्वासन दे सकता हूं कि उनको प्रयत्न करते हुए हरगिज निराश न होना चाहिए, और न संकल्प को छोड़ना चाहिए, बल्कि 'अशक्य' शब्द को अपने शब्दकोश से पृथक कर देना चाहिए। संकल्प का स्मरण यदि भूल जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका पूरा ख़याल रखना चाहिए कि जहां भूले, वहीं से फिर चले या मन में दृढ़ विश्वास रक्खे कि अन्त में जीत तो उसी की होगी। आजतक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नहीं बतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है, वरन् सबने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकार कर बतलाया है कि अन्त में सत्य की जय होती है। उस अनुभव का स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए जरा भी संकोच न करना चाहिए और शुभ संकल्प करते हुए किसी को डरना भी न चाहिए। पं. रामभजदत्त चौधरी एक कविता लिखकर छोड़ गये हैं। उसका एक पद यह है:

"कधि नहिं हारना भावे साडी जान जावे।"

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

९. भिखारी साधु

लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भिखारी साधु' शब्द में विरोध का आभास होना सम्भव है। लेकिन आजकल तो साधु वही कहलाते हैं, जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं – चाहे उनका हृदय भी गेरुआ हो या न हो, स्वच्छ हो या मैला हो। 'साधु' शब्द का सच्चा अर्थ तो यह है कि जिसका हृदय साधु या पवित्र हो। परन्तु ऐसे सच्चे साधु तो हमको शायद ही मिलते हैं। भगवा वस्त्रवाला असाधु साधु भीख मांगता तक नजर आता है। इसलिए इस प्रकार की भीख मांगने वालों के लिए 'भिखारी साधु' शब्द का प्रयोग किया गया है। उन्हीं के विषय में एक भाई लिखते हैं :

"आप चरखे की प्रवृत्ति से अनेक बातें सिद्ध करने की इच्छा करते हैं। सभी धर्म के लोगों में से क्या छोटे क्या बड़े भेद मिटाने का साधन आप चरखे को समझते हैं और यह सब ठीक है, लेकिन आज शक्ति होते हुए भी बहुत-से भिखमंगे केवल प्रमादवश हिन्दुस्तान में बढ़ रहे हैं और उनको आप चरखा क्यों नही बताते हैं ? कोई ऐसी संस्था क्यों नहीं खोलते हैं कि जिसमें जो भिखारी आवे, वह कुछ उद्योग सीख करके अन्न पा सके ? ऐसी कोई संस्था होगी तो दान देने की शक्ति वाले लोग भिखारियों को चिट्ठी देकर उसी संस्था में भेज देंगे और उन्हें वहां उद्यम और अन्न मिलेगा।"

यह बात तो सुन्दर है, पर उसपर अमल कौन करेगा ? गरीब लोगों में चरखे का प्रवेश करने में जितनी कठिनाई है, उनसे अधिक कठिनाई भिखारी साधुओं में चरखा फैलाने में है, क्योंकि उसमें धर्मभावना बदलने की बात आ जाती है। ये धनवान लोग यह समझते हैं कि झोली वालों की झोली में थोड़े बहुत जो कुछ पैसे डाल दिये, बस उतना परोपकार हो गया, पुण्य हुआ। उनको कौन समझाये कि ऐसा करने में उपकार के बदले अपकार और धर्म के स्थान पर अधर्म होता है। पाखण्ड बढ़ता है। छप्पन लाख नामधारी साधुओं में सेवा-भाव जाग्रत हो जाय, वे उद्यम करके ही रोटी खायें तो हिन्दुस्तान के स्वयं सेवकों का एक जबर्दस्त लश्कर बना तैयार मानो। गेरुआ वस्त्रधारी लोगों को यह बात समझाना लगभग दु:साध्य है। उनमें भी तीन प्रकार के लोग हैं। उनका एक बहुत बड़ा भाग पाखण्डी और केवल आलसी बन कर मालपुआ खाने की इच्छा रखता है। दूसरा भाग कुछ जड़ है और यह मानने वाला है कि भगवा वस्त्र और परिश्रम, ये दोनों बातें आपस में मेल नहीं खातीं। तीसरा भाग, जो कि बहुत छोटा है, वह सच्चे त्यागियों का है, परन्तु ये लोग बहुत समय से यही समझते चले-आये हैं कि सन्यासी से

परोपकार के लिए भी उद्योग नहीं हो सकता। यदि यह तीसरा, छोटा भाग उद्योग का मूल्य समझ जाय तो भूतकाल में चाहे जो भी हुआ हो – "इस युग में तो सन्यासी को उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उद्योग करना आवश्यक है", यदि यह बात यह छोटा वर्ग समझ जाय तो मान लो कि दूसरे दोनों वर्ग भी सुधर जायंगे। परन्तु इस वर्ग को ऐसा समझाना बहुत कठिन है। कार्य धैर्य से तथा उस वर्ग की अनुभव-प्राप्ति के साथ होगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब हिन्दुस्तान में चरखे का करीब-करीब साम्राज्य हो जायगा, तब यह वर्ग इसकी शरण जायगा।

चरखे के साम्राज्य के अर्थ हैं हृदय-साम्राज्य और हृदय-साम्राज्य के अर्थ हैं धर्म-वृद्धि। धर्म-वृद्धि होने पर यह छोटा सन्यासी-वर्ग उसे बिना पहचाने रहेगा ही नहीं ।

जितनी कठिनाई सन्यासी वर्ग को समझाने में रही है, लगभग उतनी ही धनिक लोगों को समझाने में रही है। धनिक लोग यदि अपना धर्म समझ जायं, आलस्य को उत्तेजना न दें और उन भिखारियों को अन्न न देकर उद्यम ही दें तो चरखे का साम्राज्य आज ही स्थापित हो जाय। परन्तु धनिक लोगों से ऐसी आशा क्योंकर रक्खी जा सकती है ? धनिक लोग औरों के मुकाबले में साधारणतया आलसी रहा करते हैं और आलस्य को उत्तेजना तो देते ही हैं। उनसे जाने या अनजाने आलसी भिक्षुओं को उत्तेजना मिल जाती है। इसलिए लेखक ने सूचना तो अच्छी ही की है, परन्तु इस पर अमल करना बहुत कठिन है – इस बात पर उसने विचार नहीं किया। ऐसा कहने का यह आशय नहीं है कि हम प्रयत्न न करें, बल्कि प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यदि एक भी धनवान व्यक्ति, समझ-बूझकर आलसी लोगों को दान देना बन्द कर दे, यदि एक ही साधु जो अपंग नहीं है, उद्यम के बिना भोजन न करने का संकल्प कर ले, तो इतना हिन्दुस्तान का लाभ ही है । इसलिए जहां-जहां इस प्रकार का प्रयत्न हो सकता है, वहां-वहां करना ही उचित है। हां, कठिनाई को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें तात्कालिक फल न मिलने से निराशा न होने पावे और अपने साधन को हम निरर्थक न समझ लें।

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

१०. त्योहार कैसे मनावें ?

एक पत्र-प्रेषक चाहते हैं कि मैं उन लोगों को, जो ध्यान दें, इस बात से सचेत कर दूं कि वे इस आगामी दिवाली पर अपना पैसा पटाखे, फुलझड़ी, खराब मिठाईयों और आरोग्य के लिए हानिप्रद आतिशबाजी में बरबाद न करें। मैं इस सूचना का हृदय से स्वागत करता हूं। अगर मेरे बस की बात हो तो मैं लोगों को अपने घर और हृदय को साफ करने में लगा दूं, और उन दिनों में बच्चों के लिए निर्दोष तथा शिक्षाप्रद खेल-खिलौनों की व्यवस्था करने के लिए उनसे कहूं। मैं जानता हूं कि पटाखे और फुलझड़ी बच्चों को बड़े प्यारे होते हैं। पर वे प्यारे इसलिए हैं कि हमबड़े-बूढ़ों ने उनको इन चीजों की आदत लगा दी है। अफ्रीका के सरल-स्वभाव बालकों को मैंने कभी इन पटाखे-फुलझड़ियों को मांगते या उनकी तारीफ करते नहीं देखा। इसके बदले उनमें नाच होते हैं। बच्चों के लिए खेल-कूद और गोठ की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद और अच्छा क्या हो सकता है ? हां, इन गोठ या प्रीति-भोज में बाजार की ऐसी मिठाइयां न खायी जायं, जिनकी शुद्धता के बारे में सदा शंका ही होती है। इनके बजाय ताजे और सूखे फल खाये जायं। अमीर और गरीब बालकों को मकान साफ करने तथा उनमें सफेदी करने का काम भी जरूर सिखाया जाय। अगर उन्हें परिश्रम का गौरव बताया जाय तो यह एक अच्छी बात होगी और उसका आरंभ वे त्योहारों से ही करें। पर मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं वह यह है कि इन पटाखे-फुलझड़ियों से बचने वाला यदि सारा पैसा नहीं तो कम-से-कम उसका कुछ हिस्सा तो जरूर खादी के खरीदने में लगाना चाहिए। पर यदि इसे कोई पाप समझे तो वह पैसा और किसी ऐसे काम में लगाया जाय, जिससे गरीबों की सेवा होती हो। स्त्री-पुरुषों और बालक-बूढ़ों के लिए इससे अधिक आनन्ददायक और दूसरी बात क्या हो सकती है कि वे अपने त्योहारों के दिनों में अपने देश के गरीब-से-गरीब लोगों का ख्याल करें।

हिन्दी नवजीवन
२५ अक्तूबर १९२८

११. विचार की कीमिया

[अध्यापक जैक्स की एक किताब के आधार पर, जिसका शब्दार्थ 'विचार की कीमिया' है, 'यंग इंडिया' में श्री 'पी०' ने एक लेख लिखा है।]

विचार की कीमिया के मानी यह है कि विचार कीमिया का काम करता है। यह तो कभी नहीं कह सकता कि कोई कीमियागर कभी लोहे से सोना बना सका होगा या नहीं, किन्तु विचार तो निरन्तर कीमिया का काम करता ही जाता है। एक विचार करने से आदमी भय से फीका पड़ जाता है तो उससे उलटा दूसरा विचार करने से उसके चेहरे पर लाली आ जाती है। 'मुझे तो पेट में शूल उठा है', 'अब मेरा समय हो आया' आदि विचार मैं करूं तो तुरंत ही मेरा चेहरा उतर जायगा। मगर यह विचार करके कि 'शूल में तो कुछ नहीं है, यह तुरन्त ही मिट जायगा' मैं उसकी परवा न करूं तो इससे खुशी में ही रहूंगा। कोई परदेशी मेरे घर पर चढ़ आता है, उसके विषय में मेरे मन में शंका होती है। मैं उसे खूनी मान लेतां हूं और डर जाता हूं। मेरा लड़का आकर कहता है – 'यह तो हमारे कुटुम्ब के पुराने स्नेही हैं। बचपन से परदेश में रहने के कारण आप इन्हें पहचानते नहीं। ये आज हमारे यहां मेहमान हैं और अच्छी खबर लेकर आये हैं।" यह सुनकर मेरा मन स्वस्थ हो जाता है। पहले जिससे मैं डरता था, अब उसका आदर से स्वागत करता हूं। यह सब विचार की कीमिया है। विचार हमें घड़ी-भर में राजा बनाता है, और घड़ी-भर में ही रंक बनाता है। विचार का ऐसा साम्राज्य है। वचन की अपेक्षा शारीरिक क्रिया के बनिस्बत विचार अनन्त गुनी प्रबल शक्ति है। शारीरिक क्रिया विचार का स्थूलतम रूप है। वाचा उसका स्थूल रूप है। दोनों क्रियाएं विचार को मर्यादित करती हैं। यह जो होता है सो यथार्थ ही है। अगर ऐसा न हो तो दुनिया का नाश ही हो जाय। मगर यह तो हुआ विचार की शक्ति को बतलाने वाला सबूत। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विचार के बिना वाचा या कार्य जड़वत् वस्तु है, उनकी कोई कीमत नहीं है।

इस विचार-सरणी का अनुकरण करके अध्यापक जैक्स कहते हैं, "धर्म के समान महान् और व्यापक शक्ति पोथी में बनाये हुए नियमों का खेल नहीं है। वह 'हां' या 'ना' की तिजोरी नहीं है, विधि निषेध का भण्डार नहीं है। जो धर्म का, अहिंसा का, नीति का पालन करना चाहता है उसे तलवार की धार पर चलना है। उसके लिए अहिंसा की व्याख्या या हिज्जे का कोई शब्द-कोश नहीं है कि जिसे लेकर वह अहिंसा की परीक्षा में सोलहों-आने पूरा उतर जाय। धर्म-पालन ऐसी कुछ सही-सलामत वस्तु नहीं

है। यह तो अनुभवों की खान में दबा हुआ रत्न है। उसे करोड़ों भर जीवों में से कोई-ही-कोई खोज लाते हैं। जो सही सलामती का रुक्का मांगता है, धर्म उसके लिए नहीं है। धर्म का क्षेत्र तो शंका और निश्चय के बीच में पड़ा हुआ है। यह धर्म ही है, या यही धर्म है, यह मानने या कहने वाला धर्म को नहीं जानता है। धर्म का जिज्ञासु यह कबूल करता हुआ कि यह धर्म हो सकता है और नहीं भी हो सकता है, अपने अन्तर्नाद के वश होकर निश्चयपूर्वक और निश्चिन्त होकर अपना काम करता है। स्वयं सर्वज्ञ न होने से एक तरफ उसके मन में निश्चय है, और दूसरी तरफ वह उस शंका के लिए भी अवकाश रखता है कि शायद भूल ही होती होगी।"

यह विद्वान् फिर आगे चलकर कहता है, "जिस तरह हम छाती ठोककर गणितशास्त्र में कह सकते हैं कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं, उसी तरह छाती ठोककर, निश्चयपूर्वक नीतिशास्त्र में नहीं कह सकते कि यही कर्तव्य हो सकता है, दूसरा कभी नहीं। धर्म या अहिंसा का रहस्य ऐसे परिणाम की खोज में नहीं है, जो कि सिद्ध किया जा सके। इस प्रकार के प्रमाणों के परे जाने में और जहां ऐसे प्रमाण अशक्य हैं, वहां अमुक खतरे उठाने में ही धर्म का या अहिंसा का रहस्य प्रकट होता है।" हमारी भाषा में इसका नाम श्रद्धा है। धर्म तो श्रद्धा के ऊपर गठित वस्तु है। पंचेन्द्रिय से जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, उसका प्रमाण श्रद्धा है। इसलिए अन्तर्नाद को श्रद्धापूर्वक मान लेने से ही हम किसी काल में धर्म का साक्षात्कार कर सकने की आशा रख सकते हैं। इसलिए श्री जैक्स कहते हैं, "जो आदमी अन्तर्नाद की परीक्षा कर चुकने के बाद ही, पहले नहीं, उसे सुनने को तैयार होता है, उसने अन्तर्नाद को सुना नहीं, वह हृदय में रहने वाली शक्तियों को पहचानते ही नहीं। वह अन्त में ऐसी नीति-रहित स्थिति को पहुंचता है कि तब उसके विषय्य में यह कहा जा सकता है कि उसमें अन्तर्नाद नामक कोई वस्तु ही नहीं है।"

तब आदमी जब-जब दु:खों या जुल्मों को देखे तो क्या करे ? जैक्स साहब का कहना है, "इन दो में से कि या तो प्रयोग करूं या हाथ रखकर बैठा रहूं, मेरे लिए एक ही रास्ता है। उससे वस्तुस्थिति का जितना ज्ञान पाया जा सके, उसे प्राप्त करके अपने प्रयोग करना ही मेरा धर्म हो जाता है परन्तु उसमें इतना भय रहता है कि शायद मैंने अपनी गिनती में कहीं भूल की हो। कयामत के दिन भी अगर मुझसे कहा जाय कि तुम्हारे प्रयोग मिथ्या हैं तो भी मैं इन प्रयोगों को पूर्ण करने में ही अपना जीवन बिताऊंगा।

जो वस्तु मुझे सत्य जान पड़ती है, उसे करने के लिए मैं अमुक प्रयोगों में भूल करने का खतरा भी उठा लूंगा।" ये लेखक मानते हैं और हम देखते हैं कि यों भूल करने के खतरे उठाकर किये गए प्रयोगों से कितने ही सत्यों की खोज हो सकी है, क्योंकि ऐसी भूल के मूल में शुद्ध हेतु होता है, सत्य की उपासना होती है। और अनजानपने में हुई भूल कालान्तर में विस्मरण हो जाती है।"

मनुष्य को भूल के पुतले की उपमा दी गयी है। स्वराज्य की एक व्याख्या है 'भूलें करने का अधिकार' और यह सच्ची है। मैं जबतक भूल का दर्शन न करूं, तबतक तो मैं जिसे सत्य मानता हूं, मुझे उस धर्म का आचरण करना ही चाहिए, अगर बाहरी दबाव के वश होकर मैंने जिसे सत्य माना है, उसका आचरण मैं न करूं तो मेरी भीरुता और अपने बारे में मैं जिस असत्य की कल्पना करूंगा, वह, ये दोनों मुझे कुतर खावेंगे।

इसके अलावा श्री जैक्स यह सूचना भी करते हैं कि जिस समाज में बाहर से घड़े हुए नीति-नियम ही प्रमाण गिने जाते हैं, वहां भले ही एक तरफ की सुव्यवस्था देखने में आती हो, लोग बाह्य सुखों का भोग करते हों, किन्तु समाज में से वीरता, प्रयत्न, निर्भयता, शोधकता का लय होता है, और इससे उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है। महान् सिद्धांतों का महत्व उनके अर्थ की अपरिमितता में छिपा रहता है। इस अपरिमित खान को खोदते ही रहें, तभी ऐसे सिद्धांतों से संसार शोभायमान हो सकता है और आगे बढ़ सकता है। किन्तु अभी का हमारा समाज बेड़ी से जकड़ा हुआ-सा लगता है। प्राचीनों का गुणकीर्त्तन करने में और थोड़े सूखे बाह्याचारों के पालन में धर्म-मर्यादा आ गयी-सी जान पड़ती है।

किन्तु धर्म कुछ ऐसा जड़ वस्तु-सा नहीं है। अहिंसा चेतनायुक्त प्रचण्ड शक्ति है। उसके अन्त या विस्तार को कोई माप नहीं सका है, सकेगा भी नहीं। अहिंसा है विश्वप्रेम, जीवमात्र के विषय में करुणा और उसमें से प्रकट होने वाली, अपनी देह को ही होम कर देने की शक्ति। यह प्रेम प्रकट होने में बहुत-सी भूलें भी हों तो उससे इस धर्म के विस्तार की शोध छोड़ी नहीं जा सकती है। शुद्ध मार्ग की खोज में होने वाली भूलें भी हमें उस मार्ग की खोज में एक पग आगे ले जाती हैं।

हिन्दी नवजीवन
८ नवम्बर १९२८

१२. कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे लिखे प्रश्न पूछते हैं :-

"१. धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य – आज धर्म के नाम पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं? जरा-जरा सी बातों में धर्म की दुहाई दी जाती है; किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हों। इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है, आप इस पर और नीचे लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन' द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करेंगे।

२. मनुष्य की आत्मा को किन साधनों द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है ?

३. क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त कर ले तो उनका फल नष्ट हो सकता है ?

४. मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिये ?"

मैं अपने लिए धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नहीं कर सकता। हां, धर्म-पालन के प्रयत्न का दावा मैं अवश्य करता हूं। अपने इस प्रयत्न में मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकों को कुछ लाभ हो सकता है, तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करूंगा।

१. निस्सन्देह यह सच है कि आजकल देश में धार्मिक शिक्षा का अभाव है। धर्म की शिक्षा धर्मपालन द्वारा ही दी जा सकती है, कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। इसी कारण किसी ने कहा है :

'सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ?'

अर्थात्-सत्संग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता ? तुलसी दास ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन किया है, उसे कौन न जानता होगा ? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहले धर्म-पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो

शान्तिप्रद होने के बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य, समझदार मनुष्य दुनिया भर की फिक्र करने के बदले पहले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें, तो किसी को किसी की चिन्ता करने की जरूरत ही न रह जाया

२. साधु-जीवन से आत्म-शान्ति की प्राप्ति संभव है। यही इहलोक और परलोक, दोनों का साधन है। साधु-जीवन का अर्थ है सत्य और अहिंसामय जीवन, संयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बनता। धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।

३. पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त शक्य है। और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नतें हैं, न रोना-पीटना ही है। हां उसमें उपवासादि की गुंजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दों में, दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जब तक प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तबतक फल चक्रवृद्धि ब्याज की भांति बढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि बन्द हो जाती है।

४. मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एक मात्र उपाय परमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है। उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

हिन्दी नवजीवन,
१५ अगस्त १९२९

१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा

'मूर्ति-पूजा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था कि जहां बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहां श्रद्धा का आरंभ होता है। अर्थात् श्रद्धा बुद्धि से परे है। इसपर से कई पाठकों को यह शक हुआ है कि यदि श्रद्धा बुद्धि से परे है तो वह अन्धी ही होनी चाहिए। मेरा मत इससे उल्टा है। जो श्रद्धा अन्धी है, वह श्रद्धा ही नहीं है। अगर कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक यह कहे कि आकाश में पुष्प होते हैं, तो उसकी बात उचित नहीं मानी जा सकती। करोड़ों मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव इससे उल्टा है। आकाश-कुसुम को मानना श्रद्धा नहीं, बल्कि घोर अज्ञान है, क्योंकि आकाश में पुष्प हैं या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका 'नास्तित्व' सिद्ध हो सकता है। इसके विपरित जब हम यों कहते है कि ईश्वर है, तब हमारे कथन के 'अस्तित्व' को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। बुद्धिवाद से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का कोई भले ही कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, हर एक मनुष्य के दिल में इस विषय की शंका तो फिर भी बनी ही रहेगी। उधर करोड़ों का अनुभव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभव पर अवलम्बित है – और जिसे श्रद्धा है, उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही। परन्तु श्रद्धावान् कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है – परे है – वह श्रद्धा है। जहां बुद्धि नहीं पहुचती, वहां श्रद्धा पहुंच जाती है। बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय। और यह जगत् का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धि बल से हृदय-बल सहस्त्रश: अधिक है। श्रद्धा से जहाज चलते हैं, श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धा से वह पहाड़ों-अंचलों-को चला सकता है। श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रहलाद में बुद्धि की न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरु के समान अचल थी। श्रद्धा में विवाद की स्थान ही नहीं। इसलिए एक की श्रद्धा दूसरे के काम नहीं आ सकती। एक मनुष्य श्रद्धा से दरिया पार हो जायगा, मगर दूसरा, जो अन्धानुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इसी कारण भगवान कृष्ण ने गीता के १७वें अध्याय में कहा है – **यों यच्छ्रद्ध: स एव स:** – जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है।

तुलसीदासजी की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू संसार को रामायण के समान ग्रन्थ-रत्न भेंट किया है। रामायण विद्वता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान-आत्म-ज्ञान की वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य-भ्रष्ट भी पाये जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चारित्रय-शून्यता का होना असम्भव है। इस पर से पाठक समझ सकते हैं कि एक बालक श्रद्धा की पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे ? इसका उत्तर गीता में है, रामचरित-मानस में है। भक्ति से, सत्संग से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन-जिनको सत्संग का प्रसाद प्राप्त हुआ है, उन्होंने – सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ? इस वचनामृत का अनुभव अवश्य किया होगा।

हिन्दी नवजीवन,
१९ सितम्बर १९२९

१४. 'दरजे' का अर्थ

हरिजन-सेवक-संघ का हाल में जो नया विधान बना है, उसके बारे में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित हरिजन-सेवक लिखते हैं –

"अ और ब प्रतिज्ञा में 'दरजा' शब्द आता है। अगर उसका अर्थ यह है कि जैसे कानून में कोई ऊँचा-नीचा नहीं है वैसे ही ईश्वर की दृष्टि में भी कोई ऊँचा-नीचा नहीं है तो हमारे यहां के सदस्य उसको मानने के लिए तैयार हैं। अर्थात् धर्म या दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त के बतौर, आध्यात्मिक रूप में, वे इस बात को मानते हैं। लेकिन अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि दुनियावी व्यवहार में मालिक-नौकर, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, न्यायाधीश और कैदी आदि के बीच दरजे का कोई अन्तर ही न होना चाहिए, तो हमारे लिए इस प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करना मुश्किल है। इसलिए आप हर बतलाने की कृपा करें कि यहां पर 'दरजे' का जो उल्लैख हुआ है वह सांसारिक के बजाय आध्यात्मिक रूप में ही है या नहीं ?"

प्रतिज्ञा के जिस अंश का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह निम्न प्रकार है:

"मैं किसी मनुष्य को अपने से दरजे में नीचा नहीं समझता, और अपने इस विश्वास पर चलने का मैं भरसक प्रयत्न करूंगा।"

मैं समझता हूं कि ऊपर की बात का जवाब तो प्रतिज्ञा में ही दिया हुआ है। लेकिन पत्र-लेखक समानता का अर्थ भिन्नताओं का नाश करके भ्रम में पड़ गये मालूम पड़ते हैं। अगर यह भिन्नता या विविधता बिल्कुल ही न होती, तो यह दृश्य जगत् ही कहां होता ? और समानता या ऊंच-नीच के भाव का प्रश्न ही न उठता। लेकिन जब ईश्वर अनेक रूप धारण करता है तब उन विविध रूपों में भिन्नता करनी ही पड़ती है। ईश्वर के कोई अंग दूसरे अंगों की अपेक्षा ऊंचे या श्रेष्ठ होने का दावा करें तो उसे सृष्टिकर्त्ता के विरुद्ध विद्रोह ही कहा जायगा, क्योंकि उन सबके बीच कद, रंग, रूप, गुण आदि की भिन्नता चाहे जितनी हो, फिर भी दरजे में तो वे बराबर ही माने जायंगे। पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक, न्यायाधीश और अपराधी, जेलर और कैदी के बीच अन्तर तो है ही। लेकिन जो पति अपनी पत्नी से, मालिक नौकर से, या न्यायाधीश सजा पाने वाले अपराधी से अपने को ऊंचा माने, तो वह अधर्माचरण होगा। दुनिया का सारा दु:ख इस असमानता की भावना से पैदा हुआ है। हिन्दू जिस

अस्पृश्यता का पालन करते हैं, वह इसका आखिरी रूप है। इसलिए इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हरिजन-सेवक इस पुराने पाप को धो डालते समय अन्तर्दृष्टि करके विचार करे और समानता के विष को अपने हृदय से बिल्कुल निकाल डाले ? लेकिन यह किस प्रकार मालूम होगा कि अमुक मालिक तो अपने नौकर को अपने से नीचा मानता है और अमुक उसे अपने समान समझता है ? इसका पता इसी से चल सकता है कि पहले मालिक का अपने नौकर के सुख-दुःख का कोई खयाल नहीं होगा, क्योंकि उसे तो सिवा इसके और कोई मतलब नहीं कि नौकर को तनख्वाह देकर उसके बदले काम लिया जाय, जबकि दूसरा अपने कुटुम्बी की तरह उसका ख्याल रक्खेगा। ईश्वर-परायण कुटुम्बों में मालिक के बाल-बच्चे पुराने नौकरों को मां-बाप की तरह मानते हैं। नौकरों के सुख-दुःख में मालिक भी शरीक होते हैं। नौकरों मालिक उल्टे रास्ते जाय तो वे उसे टोकते भी हैं। घमण्डी और विनम्र मालिक के बीच वैसा ही अन्तर है, जैसा खड़िया और मलाई के बीच। उनमें कम-ज्यादा का कोई भेद नहीं है, उनकी तो किस्म ही अलग-अलग है। समानता की यह स्थिति प्रकृतिजन्य है और बुद्धि एवं हृदय रखनेवाले मनुष्य की हैसियत से यही हमें शोभा देती है मगर फिर भी हम सब अभी इस स्थिति से बहुत दूर हैं। लेकिन बजाय इसके कि मरने के बाद इसके अनुसार व्यवहार करने की आशा करें, हमें अपने रोजमर्रा के ही जीवन में इसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर सच्चे दिल से हम ऐसा करने का प्रयत्न न करें, तो फिर कानून की दृष्टि में समानता का अर्थ ही क्या हो सकता है ?

हरिजन सेवक,
२२ फरवरी १९३५

१५. चरित्र-बल की आवश्यकता

अच्छी तरह हरिजन-सेवा करने के लिए ही नहीं, बल्कि गरीब, अनाथ, असहायों की सब तरह की सेवा के लिए, यह जरूरी है कि लोक-सेवक का अपना चरित्र शुद्ध और पवित्र हो। चरित्र-बल अगर न हो , तो ऊंची-से-ऊंची बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता की भी कोई कीमत नहीं। वह तो उल्टे अड़चन भी बन सकती है। जबकि शुद्ध चरित्र के साथ-साथ ऐसी सेवा का प्रेम भी हो तो उससे आवश्यक बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता भी निश्चय ही बढ़ जायगी या पैदा हो जायगी। हरिजन-सेवा में लगे हुए दो अच्छे प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं की शोचनीय चरित्रहीनता के दो अत्यन्त दुःखद उदाहरण मेरे सामने आये हैं, जिनपर से मैं यह बात कह रहा हूं। इन दोनों को जो लोग जानते थे, वे सब इन्हें शुद्ध चरित्र का और सन्देह से परे मानते थे। लेकिन इन दोनों ने ऐसा आचरण किया है, जो जिस पद पर ये आसीन थे, उसके बिल्कुल अनुपयुक्त हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे अपने हृदय के अंधेरे कोने में जहरीले सांप की तरह छिपी हुई विषय-वासना के शिकार हुए हैं। लेकिन हम तो मर्त्यलोक के साधारण जीव ठहरे, दूसरों के मन में क्या है, यह नहीं जान सकते। हम तो मनुष्यों को सिर्फ उनके उन कामों से ही जान सकते हैं, और हमें उन्हीं पर से उनके बारे में कुछ निर्णय करना चाहिए, जिन्हें कि हम देख और पूरा कर सकते हैं।

आजकल के सार्वजनिक जीवन में एक ऐसी प्रवृत्ति है कि जबतक कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने जिम्मे के किसी व्यवस्था-कार्य को अच्छी तरह पूरा करता है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में कोई ध्यान नहीं दिया जाता । कहा यह जाता है कि चरित्र पर ध्यान देना हरेक का अपना निजी काम है, हमें उसमें दखल देने की कोई जरूरत नहीं। हालांकि मैं जानता हूं कि यह बात अक्सर कही जा सकती है, लेकिन इस विचार को ग्रहण करना तो दूर, मैं इसे ठीक भी नहीं समझ सका हूं। जिन संस्थाओं ने व्यक्तियों के निज चरित्र को विशेष महत्त्व नहीं दिया, उनमें उससे कैसे-कैसे भयंकर परिणाम सामने आये, इसका मुझे पता है। बावजूद इसके पाठकों को यह जान लेना जरूरी है कि इस समय मैं जो बात कह रहा हूं , वह सिर्फ हरिजन सेवक-संघ जैसी उन संस्थाओं के बारे-में ही कह रहा हूं , जो करोड़ों मूक लोगों के हित की संरक्षक बनना चाहती है। मगर मुझे इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी किसी भी सेवा के लिए शुद्ध और निष्कलंक चरित्र का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है । हरिजन-सेवा अथवा खादी

या ग्रामोद्योग के काम में लगे हुए कार्य-कर्त्ताओं के लिए तो उन बिल्कुल सीधे-सादे, निर्दोष और अज्ञानी स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आना बहुत जरूरी है, जो बौद्धिक दृष्टि से संभवत: बच्चों के समान होंगे। अगर उनमें चरित्र बल न होगा तो अन्त में जाकर जरूर उनका पतन होगा और उसके फलस्वरूप जिस उद्देश्य के लिए वे काम कर रह हैं, उसे उस कार्यक्षेत्र में और भी धक्का लगेगा, जिसमें सर्व-साधारण उनसे परिचित हैं। प्रसन्नता की बात है कि ऐसी सेवा में जितने लोग लगे हुए हैं, उनकी संख्या के लिहाज से ऐसे लोग इक्के-दुक्के ही हैं। लेकिन बीच-बीच में ऐसे मामले प्राय: होते रहते हैं, इसलिए जो संस्थाएं और कार्यकर्त्ता ऐसे सेवा-कार्यों में लगे हुए हैं, उन्हें सार्वजनिक रुप में सावधान करने और चेतावनी देने की जरूरत है। कार्यकर्त्ता तो इसके लिए जितने भी अधिक सतर्क और सावधान रहें, उतना ही कम है।

हरिजन सेवक,
७ नवम्बर १९२६

१६. कर्तव्य-च्युत क्या करें ?

"आप अनैतिक आचरण के किस्से प्रकाश में लाते हैं और उनसे संबंध रखने वाले को अपना पद छोड़ देने की सिफारिश करत हैं। उनके काम में बाह्य दृष्टि से आप दोष नहीं बता सके, आपने उनके काम की स्तुति भी की है। पर अब उनकी योग्यता भी खत्म हो गयी ? उनका उपयोग अब जनता को नहीं मिल सकता ? उनकी स्थान-पूर्ति कौन करे ?"

यह प्रश्न विचारणीय है। मैं मानता हूं , और मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि चाहे जैसा होश्यार आदमी हो, उसकी भी गुप्त अनीति का असर उसके काम के ऊपर पड़े बिना नहीं रहता।

इस नियम में मर्यादा तो है ही, और वह यह कि कार्यकर्त्ता को नैतिकता की जरूरत है। कुशलता न होते हुए भी जिसका चारित्र्य पूर्णतया शुद्ध है, उसका काम दिप उठा है। नैतिकता के पाये के ऊपर रचे हुए कामों की तरफ नजर डालने वाले को मेरी बात कायल किये बिना नहीं रहेगी। अस्पृश्यता-निवारण चरित्रहीन मनुष्यों के द्वारा अशक्य है, ऐसा मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। सनातनी हिंदुओं की मान्यता को अच्छे-से-अच्छे शास्त्रों का प्रवीण किस तरह पलट सकता है ? उनकी बुद्धि पर होने वाला प्रहार व्यर्थ जाता है। चैतन्य, रामकृष्ण, राममोहन राय, दयानंद आदि का प्रभाव आज भी काम कर रहा है, इसका आधार और कौन-सा बल होगा ? उनकी अपेक्षा तीव्र बुद्धि के मनुष्य शायद काफी देखने में आयेंगे। पर वे मानव-हृदय में परिवर्तन नहीं करा सके।

पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि चरित्रवान व्यक्तियों में भी उद्यम, आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, विवेक आदि तो होना ही चाहिए।

जो सार्वजनिक संस्था में से निकल गये हैं, वे अगर सेवा करने की उमंग रखते हों, तो उससे वे मुक्त हो नहीं सकते। धर्म तो उसका है, जो उसे पालता है। जिसका पतन हुआ है, वह मूर्च्छा से जाग गया हो तो चाहे वहां रहकर सेवा कर सकता है। उसे किसी गांव में जाकर बसने से कौन रोक सकता है? मूक रीति से गांव में भंगी का काम करतें हुए उसे कौन रोकेगा ? कातते हूए और दूसरों को कातना सिखाते हुए या हरिजनों की सेवा करते हुए क्या रुकावट आ सकती है ? ऐसा करते-करते इस तरह से स्वच्छ बन जाय कि समाज के सामने खड़े होने में उसे कोई बाधा न आवे अथवा अपने स्थान पर अदृप्त

रह कर भी उसका प्रभाव ऐसा पड़े कि उसका असर व्यापक हो जाय। पाप का निवारण ही नहीं, ऐसा न मैंने कभी कहा है न माना है। पतितों में भी अग्र स्थान पाने वाले महापुण्यात्मा हो सकते हैं। तुलसीदास के विषय में ऐसा ही किसी इतिहासकार ने कहा है। गीता पुकार-पुकार कर कहती है कि महापापी के लिए भी भक्ति मार्ग मुक्तिप्रद हो जाता है। इसी से भगवान् का एक विशेषण 'पतित-पावन' है।

हरिजन सेवक,
१९ सितम्बर १९३६

१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

"लव बिबंदो चश्म बंदो गोश बंद,

गर नबीनी सिररे हक, बर मा बिखंद ।।"

– "तूं अपने होठ बंद रख, आंख बंद रख, कान बंद रख। इतने पर भी तुझे सत्य का गूढ़ तत्त्व न मिले तो मेरी हँसी उड़ाना।"

यह मौलाना रूम का शेर है। ऐसे-ऐसे रत्न कभी-कभी कच्छ के चमन कवि मेरे पास भेज दिया करते हैं। जब मैं राजकोट में था, तब ऊपर का शेर अर्थ-सहित, उन्होंने भेजा था।

आज जबकि हम चाहे जो बकवाद करते रहते हैं, जब कान चाहे जो सच्ची, झूठी, गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब यह वचन बाण की तरह सीधा हमारे हृदय में बिंध जाना चाहिए। सत्य की शोध में ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही होठ, कान और आंख को बिल्कुल बंद न करें और अगर कर लें तो इससे कुछ गंवायेंगें नहीं, पर इतना तो हम अवश्य कर सकते हैं – होठ से असत्य या कटु वचन न बोलें, कान से किसी की निंदा या गंदी बातें न सुनें, आंख से अपनी इंद्रियों को विचलित करने वाली कोई चीज न देखें, किन्तु सत्य ही बोलें, वही सुनें, जो हमें आगे ले जाय और आंख से ईश्वर की दया-माया देखें, संतजनों का दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्य का दर्शन कर सकेगा।

हरिजन सेवक,
१९ जुलाई १९३९

* * * * *

प्रकाशकीय

गांधीजी धर्म और नीति को अलग नहीं मानते थे। उनका कहना था कि धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर इस पुस्तक का नाम 'धर्म-नीति' रक्खा गया है। इसमें चार पुस्तकों का संग्रह है: १. नीति-धर्म २. सर्वोदय ३. मंगल प्रभात और ४. आश्रमवासियों से ।

इनमें से पहली और दूसरी पुस्तक-'नीति-धर्म और 'सर्वोदय', गांधीजी के भारत आने से पहले दक्षिण अफ्रीका में लिखी गई थीं। तीसरी और चौथी पुस्तकें 'मंगल प्रभात' तथा 'आश्रमवासियों' से उन्होंने यरवदा जेल से सन् १९३० और '३२ के बीच पत्रों के रूप में लिखी थीं।

'सर्वोदय' नामक पुस्तक रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' का सारांश है। इस पुस्तक ने गांधीजी के जीवन पर गहरा प्रभाव डाला था। इन चारों पुस्तकों के अतिरिक्त अंत में वर्तमान समस्याओं से सम्बन्धित गांधीजी के कुछ चुने हुए लेख दे दिए गए हैं।

पुस्तक बड़ी ही उपयोगी तथा प्रेरणादायक है, क्योंकि वह बताती है कि नीति का मार्ग क्या है और उस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन कृतार्थ करना चाहिए।

-मंत्री

अनुक्रम

नीति-धर्म

प्रस्तावना

१. प्रारंभ

२. उत्तम नीति

३. नीतियुक्त काम कौन-सा ?

४. अच्छा नियम कौन-सा है ?

५. नीति में धर्म का समावेश है ?

६. नीति के विषय में डार्विन के विचार

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

८. समाप्ति

सर्वोदय

प्रस्तावना

१. सच्चाई की जड़

२. दौलत की नसें

३. अदल इंसाफ

४. सत्य क्या है ?

५. सारांश

मंगल-प्रभात

१. सत्य

२. अहिंसा

३. ब्रह्मचर्य

४. अस्वाद

५. अस्तेय

६. अपरिग्रह

७. अभय

८. अस्पृश्यता-निवारण

९. कायिक श्रम
१०. सर्वधर्म-समभाव-१
११. सर्वधर्म-समभाव-२
१२. नम्रता
१३. स्वदेशी
१४. स्वदेशी व्रत
१५. व्रत की आवश्यकता

आश्रमवासियों से

निवेदन
१. मृत्युमित्र
२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार
३. आकाश-दर्शन-१
४. आकाश-दर्शन-२
५. गोशवारे की आवश्यकता
६. सप्ताह का सार
७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता
८. अद्भुत त्याग
९. बिल्ली-शिक्षिका
१०. मृत्यु का बोध
११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में
१२. प्रार्थना
१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?
१४. सत्य का प्रालन कैसे हो ?
१५. विद्याभ्यास
१६. व्यक्तिगत प्रार्थना
१७. देख-रेख की अनावश्यकता
१८. गीता कंठ करो

१९. वाचन और विचार (१)
२०. वाचन और विचार (२)
२१. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (१)
२२. सविचार कार्य और विचाररहित कार्य (२)

विविध

१. आशावाद
२. आचार बनाम विचार
३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व
४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?
५. प्रिय और अप्रिय सत्य
६. यह सुधार है ?
७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि
८. प्रतिज्ञा का रहस्य
९. भिखारी साधु
१०. त्योहार कैसे मनावें ?
११. विचार की कीमिया
१२. कुछ प्रश्न
१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा
१४. 'दरजे' का अर्थ
१५. चरित्र-बल की आवश्यकता
१६. कर्त्तव्य-च्युत क्या करे ?
१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

नीति-धर्म

नीति, नियम और उनके पालन-संबंधी विचार

प्रस्तावना

इन दिनों दुनिया में पाखंड बढ़ गया है। मनुष्य चाहे जिस धर्म का मानने वाला हो, उस धर्म के ऊपरी रूपमात्र का विचार करता है और अपने सच्चे फर्ज को भूल जाता है। अत्यंत धन-संग्रह के कारण दूसरे आदमियों को क्या कष्ट मिलता है या मिलेगा, इसका ख्याल हम शायद ही करते हैं। अतिशय सुकुमार नन्हें-नन्हें प्राणियों को मारकर अगर उनकी खाल के मुलायम मोज़े बनाये जा सकें तो यूरोप की महिलाओं को उनकी खाल के मोजे पहनने में ज़रा भी हिचक न होगी। मि० राकफेलर की गिनती दुनिया के बड़े-से-बड़े धन-कुबेरों में है। दुनिया जानती है कि पैसा इकट्ठा करने में उन्होंने नीति के कितने ही नियमों को तोड़ा है। यों चारों ओर देखकर यूरोप और अमरीका के बहुतेरे मनुष्य धर्म के विरोधी हो बैठे हैं। वे यह दलील देते हैं कि दुनिया में अगर कोई भी धर्म हो तो दुराचरण, जो इतना बढ़ गया है, वह बढ़ना न चाहिए। यह विचार भूल से भरा हुआ है। मनुष्य अपने सदा अभ्यास के अनुसार अपना दोष न देखकर अपने साधन को दोष देता है, वैसे ही लोग अपनी खोट का विचार न कर धर्म को ही बुरा कहते हैं और स्वच्छंद होकर जो जी में आये वह करते और कहते हैं। यह देखकर अमरीका और यूरोप में ऐसे लोग निकल आये हैं जो यह सोचकर कि यों सब धर्मों का नाश हो जाय तो दुनिया की भारी हानि होगी और लोग नीति का रास्ता छोड़ देंगे, जुदा-जुदा रास्ते से लोगों को नीति-पथपर लाने का प्रयास कर रहे हैं। एक ऐसा मंडल स्थापित हुआ है जो सब धर्मों के तत्वों की खोज करके यह तथ्य प्रस्तुत करता है कि सभी धर्म-नीति तो सिखाते ही हैं, उनका आधार भी अधिकांश में नीतिक नियम ही होते हैं। और कोई आदमी धर्म-विशेष को माने या न माने, पर वह नीति के नियमों का पालन न कर सके तो ऐसे आदमी के किये इस लोक या परलोक में अपना या दूसरों का भला नहीं होने का। जो लोग कुछ पंथ-सम्प्रदायों में पाखंड का बोलबाला देखकर धर्म-मात्र को नफरत की निगाह से देखते हैं ऐसे लोगों की शंकाओं का समाधान करना इस मंडल का उद्देश्य है। इस मंडल को चलाने वाले सब धर्मों का सार निकाल कर उसमें से केवल नीति के विषय की चर्चा करते हैं। इस मत को वे नीति-धर्म अथवा 'एथिकल रिलिजन' कहते हैं। इस मंडल का काम किसी भी धर्म का खंडन करना नहीं है। चाहे जिस धर्म के मानने वाले उसमें दाखिल हो सकते हैं। इस मंडल का लाभ यह होता है कि इस तरह के लोग अपने धर्म का अधिक दृढ़ता से पालन करने लगते हैं और उसमें नीति के विषय में जो उपदेश दिये गए हों, उन

पर अधिक ध्यान देते हैं। इस मंडल के सदस्य पक्के मन से मानते हैं कि मनुष्य को नीति का पालन करना ही चाहिए और यह न हुआ तो दुनिया का विधान, व्यवस्था टूट जायगी और अन्त में भारी हानि होगी।

मि० सालटर नाम के अमरीका के एक विद्वान हैं। उन्होंने एक सुदंर पुस्तक प्रकाशित की है। उसमें धर्म की चर्चा नाम को भी नहीं, पर उसके उपदेश सभी आदमियों पर घटित हो सकते हैं। इस पुस्तक के लेखक के विषय में इतना ही कहना आवश्यक है कि जितना करने की सलाह वह हमें देता है इतना ही कहना आवश्यक है। पाठकों से मेरा अनुरोध है जो कोई भी नीतिवचन उनको सच्चे जान पड़ें, उनके अनुसार वे चलने का यत्न करें तो मैं अपने इस प्रयास को सफल मानूँगा।

-मो. क. गांधी

नीति-धर्म

१. प्रारंभ

जिस वस्तु से हमारे मन में अच्छे विचार उठते हों वह हमारी नीति, सदाचार का फल मानी जाती है। दुनिया के साधारण शास्त्र बताते हैं कि दुनिया कैसी है। नीति का मार्ग यह बताता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग के द्वारा हम यह जान सकते हैं कि मनुष्य को किस तरह आचरण करना चाहिए। मनुष्य के मन के भीतर सदा दो दरवाजे होते हैं-एक से वह यह देख सकता है कि वह खुद कैसा है, दूसरे से उसे कैसा होना चाहिए, इसकी कल्पना कर सकता है। देह, दिमाग और मन तीनों को अलग-अलग देखना-समझना हमारा काम है। पर इतना ही करके रुक जायं तो इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी हम उसका कोई लाभ नहीं उठा सकते। अन्याय, दुष्टता, अभिमान आदि का क्या फल होता है और जहाँ ये तीनों इकट्ठे हों, वहां कैसी, खराबी होती है, यह जान लेना भी जरूरी है। और जान लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जानकर आचरण करना है। नीति का विचार तो वास्तु-विशारद के नक्शे के जैसा है, जो यह बताता है कि घर कैसा होना चाहिए। हम घर बना चुके हों तो नक्शा हमारे लिए बेकार हो जाता है। वैसे ही आचरण न किया हो तो नीति का विचार नकशे की तरह बेकार हो जाता है। बहुतेरे नीति के वचन याद करते हैं, उस विषय पर भाषण करते हैं, पर उसके अनुसार चलते नहीं और चलना चाहते भी नहीं। कितने ही तो यही मानते हैं कि नीति के विचारों को इस लोक में नहीं, परलोक में अमल में लाना चाहिए। यह कुछ सराहने लायक विचार नहीं माना जा सकता। एक विचारवान मनुष्य ने कहा है कि हमें सम्पूर्ण होना हो तो हमें आज से ही नीति के अनुसार चलना है, चाहे इसमें कितने ही कष्ट कयों न सहन करने पड़ें। ऐसे विचार सुन कर हमें चौंकना नहीं चाहिए; बल्कि अपनी जिम्मेदारी समझ कर तदनुसार व्यवहार करने में प्रसन्न होना चाहिए। महान योद्धा पेम्ब्रोक जब ओबेरोक के युद्ध की समाप्ति पर अर्ल डरबी से मिला तो उन्होंने उसे खबर दी कि लड़ाई जीत ली गई। इस सूचना पर पेम्ब्रोक बोल उठा, “आपने मेरे साथ भलमनसी नहीं बरती। मुझे जो मान मिलता वह आपने मेरे हाथ से छीन लिया, मुझे लड़ाई में शामिल होने को बुलाया तो फिर मेरे पहुँचने के पहले लड़ाई न लड़नी थी।” इस प्रकार नीति-मार्ग में जब किसी को जिम्मेदारी लेने का हौसला हो तभी वह उस रास्ते पर चल सकेगा।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, संपूर्ण है; उसके बड़प्पन, उसकी दया, उसके न्याय की सीमा नहीं है। अगर ऐसी बात है तो हम लोग जो उसके बंदे समझे जाते हैं, नीति-मार्ग को कैसे छोड़ सकते हैं? नीति का आचरण करने वाला विफल हो तो इसमें कुछ नीति का दोष नहीं है, बल्कि जो लोग नीति भंग करते हैं वे ही अपने-आपको दोष-भाजन बनाते हैं।

नीति-मार्ग में नीति का पालन करके उसका प्रतिफल प्राप्त करने की बात आती ही नहीं। मनुष्य कोई भला काम करता है तो शाबाशी पाने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि भलाई किये बिना उससे रह नहीं जाता। खुराक और भलाई दोनों की तुलना करने पर भलाई ऊंचे प्रकार का आहार सिद्ध होगी और कोई दूसरा आदमी भलाई करने का अवसर दे तो भलाई करनेवाला अवसर देनेवाले का एहसान-मंद होता है। वैसे ही जैसे भूखा अन्न देने वाले को दुआएं देता है।

यह नीति-मार्ग ऐसा नहीं है कि उसकी बात करते हुए बिलकुल ऊपर-ऊपर से मनुष्यता आ जाय। उसका अर्थ यह नहीं है कि हम थोड़े अधिक मेहनती हो जायं, थोड़ा अधिक पढ़-लिख लें, थोड़ा अधिक साफ-सुथरे रहें, इत्यादि। यह सब उसके अंदर आता है, पर इतने के मानी तो यह हुए कि हम महज सरहद पर पहुँच पाये। इस मार्म के अंदर इनके सिवा और बहुत-कुछ मनुष्य को करना होता है और वह सब यह समझकर करना होता है कि वह हमारा कर्त्तव्य है, हमारा स्वभाव है-यह सोचकर नहीं कि वैसा करने से हमें कोई लाभ होगा।

२. उत्तम नीति

नीति-विषयक प्रचलित विचार वज़नदार नहीं कहे जा सकते। कुछ लोग तो मानते हैं कि हमें नीति की बहुत परवा नहीं करनी है। कुछ मानते हैं कि धर्म और नीति में कोई लगाव नहीं है। पर दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाय तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नहीं सकता। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं। रूस में ऐसे आदमी हैं जो देश के भले के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। ऐसे लोगों को नीतिमान समझना चाहिए। जेरेमी बेंथम को, जिसने इंग्लैंड के लिए बहुत अच्छे कानूनों के नियम ढूंढ निकाले, जिसने अंग्रेज जनता में शिक्षा प्रसार के लिए भारी प्रयास किया और जिसने कैदियों की दशा सुधारने के यत्न में जबर्दस्त हिस्सा लिया, नीतिमान् मान सकते हैं।

फिर सच्ची नीति का यह नियम है कि हम जिस रास्ते को जानते हों उसको पकड़ लेना ही काफी नहीं है, बल्कि जिसके बारे में हम जानते हों कि वह सही रास्ता है-फिर उस रास्ते से हम वाकिफ हों या न हों-उसपर हमें चलना चाहिए। यानी जब हम जानते हों कि अमुक रास्ता सही है, सच्चा है, तब निर्भय होकर उसपर कदम बढ़ा ही देना चाहिए। इसी नीति का पालन किया जाय तभी हम आगे बढ़ सकते हैं। इसलिए नीति और सच्ची सभ्यता तथा सच्ची उन्नति सदा एक साथ देखने में आती हैं।

अपनी इच्छाओं की जांच करें तो हम देखेंगे कि जो चीज हमारे पास होती है उसको लेना नहीं होता। जो चीज अपने पास नहीं होती उसकी कीमत हम सदा ज्यादा आंकते हैं। पर इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो होती है अपना निज का स्वार्थ साधने की। ऐसी इच्छा को पूरा करने के प्रयत्न का नाम अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं ऐसी होती हैं कि हमारा झुकाव सदा भला होने और दूसरों का भला करने की ओर होता है। हम कोई भला काम करें तो उसपर हमें गर्व से फूल न जाना चाहिए। हमें उसका मूल्य नहीं आंकना है, बल्कि सदा अधिक भला होने और अधिक भलाई करने की इच्छा करते रहना चाहिए। ऐसी इच्छाओं के पूरा करने के लिए जो आचरण किया जाय, उसको सच्ची नीति कहते हैं।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है; पर घरबार हो और उसका दुरुपयोग करें; जो धंधा-रोजगार करें उसमें लोगों को ठगें तो हम नीति के मार्ग से च्युत हो गये। जो करना हमें उचित है उसे करने में नीति है। इस तरह नीति की आवश्यकता हम कितने ही उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं। जिस जनसमाज या कुटुंब में अनीति के बीज-जैसे फूट, असत्य इत्यादि-देखने में आते हैं वह जन-समाज, कुटुंब गिरकर टूट जाता है। फिर धंधे-रोजगार की मिसाल ली जाय तो हम देखेंगे कि ऐसा आदमी एक भी नहीं दिखाई देता जो यह कह सके कि सत्य का पालन नहीं करना चाहिए। न्याय और भलाई का असर कुछ बाहर से नहीं हो सकता, वह तो हममें ही रहता है। चार सौ साल पहले यूरोप में अन्याय और असत्य अति प्रबल थे। वह समय ऐसा था कि लोग घड़ीभर शांति से न रह सकते थे। इसका कारण यह था कि लोगों मे नीति न थी। हम नीति के समस्त नियमों का दोहन करें तो देखेंगे कि मानव-जाति का भला करने का प्रयास ही ऊंची नीति है। इस कुंजी से नीतिरूपी संदूक को खोलकर देखा जाय तो नीति के दूसरे नियम हमें उसमें मिल जायंगे।

[१]इन अध्यायों के नीचे हम गुजराती या उर्दू कवियों की नीति नियमों से संबंध रखनेवाली कविताएँ चुनकर देते जायंगे, इस आशा से कि उनका लाभ हमारे सभी पाठक लेंगे और हमारे युवक पाठक तो उन्हें कंठस्थ भी करेंगे। इसका श्री गणेश हम श्रीमलबारी की पुस्तक 'आदम अने तेनी दुनिया' 'आदम और उनकी दुनिया' से कर रहे हैं।

क्युं (क्यों) मुश्ताक होके तुं (तू) फिरता बिरादर?
अये (ऐ) दाना[२], तवाना[३] होनार तमे हाजर

(होना है तुझे हाजिर)

चले गये बड़े फ़िलसुफां[४] पहलवानां।
अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना (दीवाना)।
न दाना की दनाई हर दम टकेगी (टिकेगी);
न नेकां बी (भी) हरदम गुजारेंगे नेकी।
किसे यारी हरदम ने (को) देता जमाना;
अरे दोस्त दाना, तुं (होगा) दिवाना।

कुवत[५] ;(कूवत) पीलतन की तुं (तू) लेके फिरेगा।

ज़माना अचानक श्किस्त[६] आके देगा।

अक़ल की नक़ल बेअकल बस बनाना;

अरे दोस्त दानां तुं (तू) होगा दिवाना।

गुजारे (की) अवल बचगी की बादशाही;

होनारत[७] दरद (दर्द) देवे जमकी गवाही।

बेताका (क) त की (कि) स राह उठाना सोलाना (सुलाना);

अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना ।

न दुनिया में तेरा हुवा को (कोई) न होगा,

न तुं (तु) तेरा होवे हसेगा वा रोगा (रोयेगा),

सिवा पाक दादार[८] सबकोइ (कोई) बेगाना;

अरे दोस्त दाना, तुं (तू) होगा दिवाना।

---

१. उर्दू-हिंदी पद्यौं के शब्द अशुद्ध या गुजराती रूप में हैं। उनके वही रूप रहने दिये गये हैं और शुद्ध रूप कोष्ठ में दे दिये गये हैं।

२. बुद्धिमान, ३. बलवान, ४. फिलासफर, तत्ववेत्ता; ५. बल, ६. हार; पराजय; ७. होने वाली पीड़ा; ८. परमेश्वर ।

३. नीतियुक्त काम कौनसा ?

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुकत है? यह सवाल करने में नीतिवाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं, उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों में खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करें तो अन्धाधुंधी चलने लगे और दुनिया का कार-बार बंद हो जाय, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने की नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए, जो हमारा अपना है यानि जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जबतक हम मशीन के पुरजे की तरह काम करते हों तबतक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुरजे की तरह काम करना हमपर फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुकत है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों में जो भेद है, वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ कर दे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफी की चिट्ठी ले जानेवाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य में यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझकर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है वह नीति को कैसे समझेगा ? कितनी ही बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर परमार्थ करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स ऐसा ही पुरुष था। उसने एक बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, “जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तबतक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिंता नहीं है।” यह स्थिति हमें तबतक प्राप्त नहीं होने की, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अंतर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वत: अच्छा हो, इतना ही काफी नहीं है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है, अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना न होना, करनेवाले के इरादे पर अवलंबित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुकत माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अंतर है, वह यहां पाठकों को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फलपर हमारा बस नहीं, फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है। शहंशाह सिकंदर को इतिहासकारों ने महान् माना है। वह जहां-जहां गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं। पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पान था, अत: कौन कह सकेगा कि उसके काम में नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नहीं कहा जा सकता।

ऊपर प्रकट किये हुए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दवाब के भी किया हुआ होना चाहिए। मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है। इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिंदगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आसपास दरिद्रता और दु:ख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी। इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायंगे इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनखाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थ-बुद्धि है। मैं उनका भला चाहूं, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंगलैंड़ के राजा दूसरे रिचर्ड के पास जब आंखें लाल किये

हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिखकर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है। पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी पालिसी (व्यवहारनीति) है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्सपियर कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं ।[१]

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझकर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान जेवियर ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि वह मनुष्य का कर्तव्य है। महान भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मशाल और बाएं हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मशाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोजख की आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोजख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बांधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना, और दुश्मन से दगाबाजी करना यह नामर्दी का काम है। डर-डरकर भले काम करनेवाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया। एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते। इसी प्रकार इस प्रकरण के

आरंभ में नीतियुक्त काम कौन है यह जो प्रश्न किया गया है, उसका जवाब भी हमें मिल चुका। कैसे आदमी नीति का पालन कर सकते हैं यह हमने अनायास ही देख लिया।

ऊपर के विषय से मेल रखनेवाली कविता :

हरिनो मारग छे शूरानो कायरनुं नहि काम जोने,
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वलती लेबुं नाम जोने।
सुत वित दारा शीश समर्पे ते पामे रस पीवा जोने;
सिधु मध्ये मोती लेवा, मांहि पडया मरजीवा जोने।
मरण आग में ते भरे मूठी, दिलनी दुग्धा वामे जोने;
तीरे उभा ते जुए तमाशो, ते कौडी नव पामे जोने;
प्रेम पंथ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने;
मांहि पंडया ते महासुखमाणे, देखनारा दाझे जोने।
माथा सरि मोंधी वस्तु, सांपडवी नहिं सहेल जोने;
महापद पाम्या ते नर जीव्या, मूकी मननो मेल जोने।

भावार्थ-हरि का मार्ग शूर-वीर के लिए है, उसमें कायर का काम नहीं। उसपर चलनेवाला पहले अपना सिर दे, उसके बाद उसका नाम ले। जो धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और अंत में अपना शीश भी सर्मपण कर दे, वही उसका रस पी सकता है। मरजीवा मोती पाने के लिए समुद्र के भीतर पैठता है। जो मौत के मुंह में पैठे वही मोतियों से अपनी मुट्ठी भर और हृदय की पीड़ा मेट सकता है। किनारे खड़ा रहनेवाला तमाशा भर देखता है, उसके हाथ एक कौड़ी भी नहीं लगती। प्रेम का पंथ पावक की ज्वाला है। जो उसके भीतर घुसता है वह महासुख अनुभव करता है। देखकर भागने और दूर खड़ा रहनेवाला उसकी आंच से जलता है। सिर देकर उसके बदले दुर्लभ वस्तु का पाना सरल नहीं है। ऐसे लोग अपने मन का मैल त्याग करके महापद को प्राप्त कर अमर होते हैं।

---

१. एक उर्दू कवि ने भी यही बात कही हे--“दोस्ती और किसी गरज़ के लिए, यह तिजारत है, दोस्ती ही नहीं।"-अनु.

४. अच्छा नियम कौनसा है ?

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारे में हम सदा मत प्रकट किया करते हैं। कुछ कामों से हमें संतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते हैं। कार्यविशेष के भले या बुरे होने का आधार इस बात पर नहीं होता कि वह काम हमारे लिए लाभजनक है यो हानिकारक; पर उसकी तुलना करने में हम जुदे ही पैमाने से काम लिया करते हैं। हमारे मन में कुछ विचार रम रहे होते हैं, उन्हींके आधार पर हम दूसरे आदमियों के कामों की परीक्षा किया करते हैं। एक आदमी ने दूसरे आदमी का कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो उस काम को हम खराब मानते हैं। कितनी ही बार नुकसान करनेवाले की ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमें तनिक भी हिचक नहीं होती । यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्यों का हेतु हम सदा देख नहीं सकते, इससे हम गलत परीक्षा किया करते हैं। फिर भी हेतु के प्रमाण में काम की परीक्षा करने में बाधा नहीं होती। कुछ बुरे कामों से हमें लाभ होता है, फिर भी हम मन में तो समझते ही हैं कि वे बुरे हैं।

अत: यह सिद्ध हुआ कि किसी काम के भले या बुरे होने का आधार मनुष्य का स्वार्थ नहीं होता। उसकी इच्छाएं भी इसका आधार नही होतीं। नीति और मन की वृत्ति के बीच सदा संबंध देखने में नहीं आता। बच्चे पर ममता होने के कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते हैं; पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते हैं कि उसे देने में अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी बात है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। हमारी आंखें खुली हों तो हमें सूरज दिखाई देता है, बंद हों तो नहीं दिखाई देता। इसमें हमारी निगाह में हेर-फेर हुआ, न कि सूरज के होने में । नीति के नियमों के बारे में भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान दशा में हम नीति को न समझ सकें। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमें समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। मनुष्य सदा भले की ओर ही निगाह रखे, ऐसा कदाचित ही होता है। इससे अकसर स्वार्थ की दृष्टि से देखकर अनीति को नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आने को है। जब

मनुष्य स्वार्थ का विचार त्यागकर नीति-अनीति की ओर ही ध्यान देगा। नीति की शिक्षा अभी बिलकुल बचपन की अवस्था में है। बेकन और डार्विन के पहले शास्त्र की जो स्थिति थी वही आज नीति की है। लोग सच्च क्या है उसे देखने को उत्सुक थे। नीति के विषय को समझने के बदले वे पृथ्वी आदि के नियमों की खोज में लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान आपको दिखाई दिये हैं, जिन्होंने लगन के साथ कष्ट सहकर पिछले वहमों को एक ओर रखकर नीति की खोज में जिंदगी बिताई हो ? जब प्राकृतिक रहस्यों की खोज करनेवाले आदमियों की तरह वे नीति की खोज करने में तल्लीन रहें तब हम यह मानें कि अब नीतिविषय के विचार इकट्ठे किये जा सकते हैं। शास्त्र या विज्ञान के विचारों के विषय में आज भी विद्वानों में जितना मतभेद रहता है उतना नीति के नियमों के विषय में होना मुमकिन नहीं। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसे तक हम नीति के नियमों के विषय में एक राय न रख सकें; पर उसका अर्थ यह नहीं है कि हम खरे-खोटे का भेद नहीं समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्यों की इच्छा से अलग नीति का कोई नियम है, जिसे हम नीति का नियम कह सकते हैं। जब राजनैतिक विषयों में हमें नियम-कानून दरकार हैं तब क्या हमें नीति के नियमों का प्रयोजन नहीं है, भले ही वे नियम मनुष्य-लिखत न हों ? वह मनुष्य-लिखित होना भी न चाहिए। और अगर हम नीति-नियमों का अस्तित्व स्वीकार करें तो जैसे हमें राजनैतिक नियमों के अधीन रहना पड़ता है वैसे ही नीति के नियमों के अधीन रहना भी हमारा कर्तव्य है। नीति के नियम रातनैतिक और व्यावसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। मुझसे या दूसरे किसी से यह नहीं बन सकता कि व्यावसायिक नियमों के अनुसार न चलकर मैं गरीब बना रहुँ तो क्या हुआ ?

यों नीति के नियम और दुनियादारी नियम के बीच भारी भेद है, क्योंकि नीति का वास हमारे हृदय में है। अनीति का आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा—झूठा सच्चा कभी नहीं हो सकता। और जहां जन-समाज कभी दुष्ट हो वहां भी लोग नीति के नियमों का पालन न करते हों तो भी पालन का ढोंग करेंग, अर्थात् नीति का पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियों को भी कबूल करनी पड़ती है। ऐसी नीति की महिमा है। इस प्रकार की नीति रीति-रिवाज या लोकमत की परवा नहीं करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहांतक नीति के नियम का अनुसरण करता दिखाई दे वहीं तक नीतिमान पुरुष को वह बंधनकारक है।

ऐसा नीति का नियम कहाँ से आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढ़ता नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यों में जुदा-जुदा कानून-कायदे देखने में आते हैं। सुकरात के जमाने में, जिस नीति का अनुसरण वह करता था, बहुत-से लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनिया मे द्वेष और झूठ की दुहाई फिरा दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपर से यह कह सकते हैं कि नीति के नियम सर्वोपरि हैं और ईश्वरीय हैं।

ऐसे नियम का भंग कोई प्रजा या मनुष्य अंततक नहीं कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अंत में उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान पुरुष का भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोम ने जब अनीति का रास्ता पकड़ा तब उसके महान पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीस की जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीति को टिका न सकी। फ्रांस में जब विप्लव हुआ, वह भी अनीति के ही विराध में । वैसे ही अमरीका में भला वेंडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दी पर बैठी हो तो भी टिकने की नहीं। नीति के इस अद्भुत नियम का जो मनुष्य पालन करता है वह ऊपर उठता है; जो कुटुंब पालन करता है वह बना रह सकता है, और जिस समाज में उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है; जो प्रजा इस उत्तम नियम का पालन करती है वह सुख, स्वतंत्रता और शांति को भोगती है।

ऊपर के विषय से मेल खानेवाली कविता :

मन तुहिं तुहिं बोले रे, आसुपना जेवु तल तारूं ;
अचानक उड़ी जाशे रे, जेम देवतामां दारू।
झाकल जलपलमां वलीजाशे, जेम कागलने पाणी ;
काया वाडी तारी एम करमाशे, थइ जाशे धूलधाणी,
पाछलथी पस्ताशेरे, मिथ्या करी मारूं मारूं।
काचनो कुंपो काया तारी, वण्सतां न लागे वार।
जीव कायाने सगाई केटली, मूकी चाले बनमोझार,
फोकट पुल्यां फरवुरे, ओचिन्तु थाशे अंधारूं।
जायुं ते तो सर्वे जवानुं, उगरवानो उद्यारो;

देव, गांधर्व, राक्षसने माणस सउने मरणानो वारो।
आशानो महेल उंचोरे, नीचुं आ काचुं कारभारूं।
चंचल चित्तमां चेतीने चालो, भालो हरिनुं नाम,
परमारथ जे हाथे ते साथे करो रहेवानो विश्राम।
धीरो धराधरथीरे कोई न थी रहेनारूं...मन.

- काव्यदोहन

भावार्थ-मन, यह जो तु अपना-अपना कहता है तेरा सपने के-जैसा है अचानक इस तरह उड़ जायगा जैसे आग में डाली हुई शराब। ओस का पानी पल में उड़ जायेगा कागज पर पानी के समान | उसी प्रकार तेरी कायारूप बाड़ी सूखकर नष्ट हो जायगी। पीछे पछतायगा। तु व्यर्थ 'मेरा' 'मेरा' करता है। तेरी काया शीशे की कुप्पी जैसी है, उसके नष्ट होते देर न लगेगी। जीव और देह का नाता ही कितना? एक दिन जीव उसे तजकर चल देगा। इस जीवन पर तेरा इतराना व्यर्थ है, अचानक एक दिन अंधकार हो जायगा। जो जन्मा है वह सभी जाने वाला है, इसमें से बचना कठिन है। देवता, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य सबके मरण का दिन नियत है। आशा का महल ऊंचा और इस दुनिया का कच्चा कारोबार नीचा है। तू चंचल चित्त में चेतकर चल और भगवान का नाम ले। जो परमार्थ कमा लेगा वही साथ जायगा। ऐसा ठिकाना पाने का उपाय कर, जहां तेरी आत्मा को विश्राम मिले। 'धीरो' (भगत) कहता है कि इस पृथ्वी के ऊपर कोई नहीं रहने वाला है।

५. नीति में धर्म का समावेश है?

इस प्रकार का विषय कुछ विचित्र माना जायगा। आम खयाल यह है कि नीति और धर्म दो अलग चीजें हैं। फिर भी इस प्रकरण का उद्देश्य नीति को धर्म मानकर विचार करना है। इसमें कितने ही पाठक ग्रंथकार को उलझन में पड़ा हुआ मानेंगे। जो मानते हैं कि नीति में धर्म का समावेश नहीं होता और जो यह मानते हैं कि नीति हो तो धर्म की आवश्यकता नहीं है, दोनों पक्ष यह आरोप करेंगे। फिर भी नीति और धर्म में निकट संबंध हैं, यह दिखाना ग्रंथकार का निश्चय है। नीतिधर्म या धर्मनीति का प्रसार करने वाले मंडल भी धर्म को नीति द्वारा मानते हैं।

यह बात स्वीकार करनी होगी कि सामान्य विचार में नीति के बिना धर्म की स्थिति संभव है। ऐसे बहुतेरे दुराचारणी पुरुष देखने में आते हैं जो अधोर कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का गर्व रखते हैं। इसके विपरीत स्व० मि० ब्रेडला जैसे नीतिमान पुरुष पड़े हैं, जो अपने-आपको नास्तिक कहने में गर्व अनुभव करते हैं। और धर्म का नाम सुनकर भागते हैं। ये दोनों मतवाले मनुष्य भूल करते हैं और पहले मतवाले तो भूले ही नहीं हैं, धर्म के बहाने अनीति का आचरण कर खतरनाक भी हो गये हैं। इसलिए इस प्रकरण में मैं यह दिखाऊंगा कि बुद्धि और शास्त्र दोनों के द्वारा देखने से नीति और धर्म एकही दिखाई देते हैं और उन्हें एक जगह रहना भी चाहिए।

पुरानी नीति केवल संसारी थी, यानी लोग यह सोचकर व्यवहार करते थे कि हम इकट्ठे रहकर कैसे निभा सकते हैं। यों करते-करते जो भली रीति थी वह कायम रही और बुरी रीति नष्ट हो गई। बुरी नीति नष्ट न होती तो उसके अनुसार चलनेवालों ही का नाश हो जाता। ऐसा होना हम आज भी देख रहे हैं। जो अच्छे रिवाज आदमी जाने अनजाने चलाया करता है वह न नीति है और न धर्म । फिर भी दुनिया में जो काम नीति के अन्दर आते हैं वे ऊपर बतलाये हुए भले रिवाज ही हैं।

फिर धर्म की कल्पना भी अकसर मनुष्य के मनेमें महज ऊपर-ऊपर से ही रहती है। कितने ही समय हम अपने ऊपर आते हुए खतरों को दूर करने के लिए कोई धर्म मानते हैं। यों भय से या प्रीति से किये गये कार्य को धर्म मानना भूल है।

पर अंत में ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य संकल्पपूर्वक सोच-विचारकर नफा हो या नुकसान, वह मरे या जिये, दृढ़ निश्चय के साथ अपना सर्वस्व होमने को तैयार रहकर नीति के रास्ते पर चलता और बिना मुँह पीछे किये कदम बढ़ाता जाता है। तब माना जायगा कि उस पर नीति का रंग चढ़ा।

ऐसी नीति धर्म के सहारे के बिना कैसे टिकेगी ? दूसरे आदमी का थोड़ा-सा नुकसान करके अपना कुछ लाभ कर सकूं तो मैं वह नुकसान क्यों न करूं ? दूसरे की हानि करके होनेवाला लाभ, लाभ नहीं हानि है, यह घूंट मेरे गले से कैसे उतरे ? बिस्मार्क ने ऊपर से देखने में जर्मनी का हित करने के लिए अति भयानक कर्म किये। उसकी शिक्षा कहां चली गई ? सामान्य समय में बच्चों के साथ वह नीति के वचनों की जो बकवास करता था वे वचन कहां गुम हो गये ? उनको याद करके उसने नीति का पालन क्यों नहीं किया ? इन सारे प्रश्नों का उत्तर स्पष्ट रीति से दिया जा सकता है। ये सारी अड़चनें आईं और नीति नहीं पाली गई, इसका कारण यही है कि इस नीति में धर्म नहीं समाया हुआ था। नीतिरूपी बीज को जबतक धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तबतक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना यह बीज सूखा ही रहता है और लंबे अरसे तक पानी न पाये तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्मरूप में करना चाहिए।

फिर हम यह भी देखते हैं कि दुनिया के बड़े धर्मों में जो नीति के नियम बताये गये हैं वे अधिकांश में एक ही हैं और उन धर्मों के प्रचारकों ने यह भी कहा है कि धर्म की बुनियाद नीति है। नींव को खोद डालिये तो घर अपने-आप ढह जायगा। वैसे ही नीति रूपी नींव टूट जाय तो धर्मरूपी इमारत भी दो-चार दिन में ही भूमिसात हो जायगी।

ग्रंथकार यह भी बताता है कि धर्म और नीति को एक कहने में कोई अड़चन नहीं है। डाक्टर क्वाइट इबादत में यह कहता है-"या खुदा, नीति के सिवा मुझे दूसरा खुदा न चाहिए।" हम जरा सोचें तो देखेंगे कि हम मुंह से तो खुदा या ईश्वर को पुकारें और बगल में खंजर छिपाये रखें- 'मुख में राम बगल में छुरी' को चरितार्थ करें तो क्या खुदा या ईश्वर हमारी फरियाद सुनेगा ? एक आदमी मानता है कि ईश्वर है, फिर भी उसकी सभी आज्ञाओं को तोड़ता है, दूसरा नाम से ईश्वर को नहीं पहचानता, पर

अपने काम से उसको भजता है और ईश्वरीय नियमों में उनके कर्त्ता को देखता है और उसके कानूनों का पालन करता है – इन दोनों में हम किसे धर्मवान और नितिमान मानें ? इस सवाल का जवाब देने में हम क्षणभर भी सोचे-विचारे बिना पक्के तौर पर कह सकते हैं कि दूसरा आदमी धर्मवान् और नीतिमान माना जायगा।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

प्रभु प्रभु पूछत भवगयो भई नहि प्रभु पिछान (पहचान);
खोजत सारा जग फीरो (फिर्यो) मिले न श्री भगवान ।
सहस्त्र (स) नाम से सोचकी एक न मिलो जवाब,
जप तप कि (की) ना जन्म तक (भर) हरी हरी (हरि हरि)-
गी (गि) ने हिसाब।
साधु-संतो (संत) को संग किनो बेद-पुरान अभ्यास;
फिर बी (भी) कछु दर्शन नहि (नहीं), पायो प्राण उदास ।
कहोजी प्रभु अब क्युं (क्यों) मिले सोचुं (चूं) जीकु (को)आज;
जन्म जुदाई यह भई कछु नहिं सुझत इलाज।
अंतर्यामी तब कहे "क्युं तुं (क्यों तू) होवे कृतार्थ ?
प्रभु बकवत[१] फोकट[२] फिरे निसि-दिन ढुंढ़त (ढूंढत)
स्वार्थ ।"

मुख 'प्रभु' नाम पुकारता, अंतर में अहंकार;
दंभी ऐसे दंभ से, दि (दी) नानाथ मिलानार[३] ?
ठगविद्या मं (में) निंपुण भयो, प्रथम ठगे मा-बाप;
सकल जगत कुं (को) ठगत तुं (तू), अंत ठग रहो आप।
सुनते शुद्ध बुद्ध (सुध बुध) खुल गई, प्रकट्यो पश्चाताप;
उलट पुलट करीने (करके) गयो, आपहि खायो थाप।[४]
-बहरामजी मलवारी

---

१. प्रभु के नाम का बकवास रटता हुआ; २. व्यर्थ ३. मिलनेवाले; ४. थप्पड़; गुजराती में इस शब्द का अर्थ धोखा भी होता है।

६. नीति के विषय में डार्विन[१] के विचार

जो भला और सच्चा है उसे अपनी इच्छा से ही करना, इसी में हमारी भलमनसी है । आदमी की शराफत की सच्ची पहचान यह है कि वह पवन के प्रवाह से इधर-उधर भटकते हुए बादलों की तरह धक्का खाने के बजाय अपनी जगह पर अचल रहे और जो उसे उचित जान पड़े, वह करे और कर सके।

यह होते हुए भी हमारी वृत्ति किस रास्ते जाना चाहती है, यह हमें जान लेना चाहिए। हम जानते हैं कि हम हर तरह से अपने मालिक खुद नहीं हैं। हमसे बाहर की कितनी ही स्थितियां हैं, जिनका अनुसरण करते हुए हमें चलना होता है। जैसे जिस देश में हिमप्रदेश की-सी ठंड पड़ती है, वहां हमारी इच्छा हो या न हो, फिर भी शरीर को गर्म रखने के लिए हमें कायदे से कपड़े पहनने ही पड़ते हैं, यानी हमें समझदारी के साथ व्यवहार करना पड़ता है।

तब सवाल यह उठता है कि अपनी बाहर की और आस-पास की परिस्थिति को देखते हुए हमें नीति के अनुसार आचरण करना पड़ता है या नहीं, अथवा हम इस बात की कोई परवा नहीं कर पा रहे हैं कि हमारे बरताव में नीति है या अनीति।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए डार्विन के मत की जांच-पड़ताल करना जरूरी होता है। डार्विन यद्यपि नीति के विषय पर लिखनेवाला पुरुष न था, फिर भी उसने बता दिया है कि बाहर की वस्तुओं के साथ नीति का लगाव कितना गहरा है। जो लोग यह सोचते हैं कि मनुष्य नीति का पालन करते हैं या नहीं इसकी परवा हमें नहीं करनी है और दुनिया में केवल शारीरिक तथा मानसिक बल ही काम आता है, उन्हें डार्विन के ग्रंथ पढ़ने चाहिए। डार्विन के कथनानुसार मनुष्यों और दूसरे प्राणियों में भी जीते रहने का लोभ रहता है। वह यह भी कहता है कि जो इस संघर्ष में जीवित रह सकता है, वही विजयी माना जाता है और जो योग्य नहीं है, वह जड़मूल से नष्ट हो जाता है; पर इस संघर्ष के मुकाबले में हम केवल शरीर-बल से टिक नहीं सकते।

हम आदमी, भैंस और रीछ की तुलना करें तो मालूम होगा कि शरीर-बल में रीछ या भैंस आदमी से बढ़े हुए हैं और आदमी उनमें से किसी के साथ कुश्ती लड़े तो हार जाएगा; पर यह बात होते हुए भी अपनी बुद्धि की बदौलत वह उनसे अधिक बली है। ऐसी ही तुलना हम मानव-जाति की जुदा-जुदा

कौमों के बीच कर सकते हैं । युद्धकाल में जिसके पास अधिक बल या अधिक संख्यावाले आदमी हों वही जीते, ऐसा नहीं होता; बल्कि जिसके पास कला-कौशल का बल और अच्छे नेता होते हैं, वह जाति अल्पसंख्यक या शरीर-बल में कम हो तो भी विजयी होती है, यह दृष्टांत हमने बुद्धिबल का देखा।

डार्विन हमें यह बताता है कि नीति-बल, शरीर-बल और बुद्धि-बल दोनों से बढ़कर है और योग्य मनुष्य अयोग्य से अधिक टिक सकता है। इस बात की सचाई हम अनेक रूपों में देख सकते हैं। कितने ही लोग यह मानते हैं कि डार्विन ने तो हमें यही सिखाया है कि जो शूर है और शरीर-बल में भरपूर है, वही अंत में पार लगता है। यों ऊपर-ऊपर से ही विचार करने वाले लेभग्गू आदमी मान लेते हैं कि नीति हमारे लिए बेकार चीज है। पर डार्विन का यह विचार बिलकुल न था। प्राचीन इतिहास तथा दंतकथाओं से यह देखा गया है कि जो जातियां अनीतिमान थीं, वे आज नामशेष हो गई हैं। सोडम और गमोरा के लोग बड़े दुराचारी थे। इससे ये देश मिट गये। आज भी हम देख सकते हैं कि जो जाति या राष्ट्र अनीतिमान है, उसका नाश होता जा रहा है।

अब हम कुछ मामूली मिसालें लेकर देखें कि साधारण नीति भी मानव-जाति की सलामती के लिए कितनी जरूरी है। शांत स्वभाव नीति का एक अंग है। ऊपर से देखने से ऐसा जान पड़ेगा कि घमंडी मनुष्य आगे बढ़ सकता है; पर थोड़ा विचार करके भी हम देख सकते हैं कि मनुष्य की गर्वरूपी तलवार अंत में अपने ही गले के ऊपर गिरती है। मनुष्य नशे का सेवन न करे, यह नीति का दूसरा विषय है। आंकड़े देखने से विलायत में यह देखने में आया है कि तीस वर्ष की उम्र वाले शराबी तेरह या चौदह बरस से अधिक नहीं जीते; पर निर्व्यसन मनुष्य ७० बरस की आयु भोगता है। व्यभिचार न करना नीति का तीसरा विषय है। डार्विन ने बताया है कि व्यभिचारी मनुष्य जल्दी नाश को प्राप्त होता है। उसके संतान पहले तो होती ही नहीं और हो तो मरियल-सी दिखाई देती है। व्यभिचारी मनुष्य का मन हीन हो जाता है और ज्यों-ज्यों दिन बीतते हैं उसकी शक्ल पागल की-सी होती जाती है।

जातियों की नीति का विचार करने पर भी हमें यही स्थिति दिखाई देगी। अंडमन टापू के पुरुष अपनी स्त्रियों को, ज्योंही बच्चे चलने-फिरने लायक हुए, त्याग देते हैं । अर्थात परमार्थ बुद्धि दिखाने के बदले अत्यंत स्वार्थ-बुद्धि का परिचय देते हैं। नतीजा यह हुआ है कि उस जाति का धीरे-धीरे नाश होता जा रहा है। डार्विन बताता है कि पशुओं में भी एक हदतक परमार्थ बुद्धि देखने में आती है। भीरु स्वभाव

वाले पक्षी भी अपने बच्चों की रक्षा करने के समय बलवान बन जाते हैं। वह कहता है कि प्राणिमात्र में परमार्थ बुद्धि थोड़ी-बहुत भी न होती तो आज दुनिया में घासपात और जहरीली वनस्पतियों के सिवा शायद ही कोई जीवधारी होता। मनुष्य और दूसरे प्राणियों में सबसे बड़ा अंतर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। दूसरों के लिए अर्थात अपनी नीति के प्रमाण में अपने बच्चों के लिए, अपने देश के लिए, अपनी जान कुरबान करता आया है।

इस प्रकार डार्विन स्पष्ट रीति से बताता है कि नीति-बल सर्वोपरि है। ग्रीस की जनता यूरोप की आज की जनता से अधिक बुद्धिशाली थी, फिर भी जब उस जनता ने नीति का त्याग किया तब उसकी बुद्धि उसकी दुश्मन हो गई और आज वह जाति देखने में भी नहीं आती। जातियां, प्रजाएं न पैसे से टिकती हैं, न सेना से। वे एकमात्र नीति की नींव पर ही टिक सकती हैं। अत: मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है कि इस विचार को सदा मन में रखकर परमार्थरूपी परम नीति का आचरण करे।

---

१. डार्विन पिछली सदी में एक महान् यूरोपीय हो गया है। उसने शास्त्र की महती खोजें की हैं। उसकी स्मरणशक्ति और अवलोकन शक्ति बड़ी जबर्दस्त थी। उसने कितनी ही पुस्तकें लिखी हैं, जो अति पठनीय और माननीय हैं। उसने बहुत-सी मिसालों और दलीलों से यह दिखाया है कि आदमी की आकृति की उत्पत्ति एक तरह के बंदरों से हुई है, यानी बहुत तरह के प्रयोग और बहुत-सी जांच-पड़ताल करते हुए उसे यह दिखाई दिया कि आदमी की शक्ल और बंदर की शक्ल में बहुत फर्क नहीं है। यह खयाल सही है या नहीं, इससे नीति के विषय का कुछ बहुत नजदीक का संबंध नहीं है। पर डार्विन ने ऊपर लिखा विचार प्रकट करने के साथ-साथ यह भी जताया है कि नीति के विचार मानव-जाति पर क्या असर डालते हैं। और डार्विन ने जो कुछ लिखा है, उसपरे बहुतेरे विद्वानों की श्रद्धा है, इसलिए डार्विन के विचारों पर यह प्रकरण लिखा है।

७. नीति में सार्वजनिक कल्याण

अक्सर यह कहा जाता है कि संपूर्ण नीति में सार्वजनिक कल्याण समाया हुआ है। यह बात सही है। न्यायाधीश में अगर न्याय-बुद्धि हो तो जिन लोगों को उसकी न्यायी अदालत में जाना पड़े वे सुखी होते हैं। वैसे ही प्रीति, स्नेह, उदारता आदि गुण दूसरों के साथ होने पर ही प्रकट किये जा सकते हैं। वफादारी का बल भी हम एक-दूसरे से संबंध होने पर ही दिखा सकते हैं। स्वदेशाभिमान के विषय में तो कहना ही क्या ! वास्तविक स्थिति को देखने से यह दिखाई देगा कि नीति का एक भी विषय ऐसा नहीं है, जिसका फल अकेले नीति का पालन करनेवाले को ही मिलता है। अक्सर यह कहा जाता है कि सच्चाई आदि गुणों का सामनेवाले मनुष्य, विपक्षी के साथ कोई लगाव नहीं होता। पर हम झूठ बोलकर किसी को ठगें तो उससे विपक्षी की हानि होगी, यह बात हमें कबूल करनी होगी, तो फिर यह बात भी कबूल करनी ही होगी कि हमारे सच बोलने से उसकी हानि होना रुकेगा।

वैसे ही जब कोई आदमी किसी खास कानून या रिवाज को नापसंद करके उसके बाहर रहता है तब भी उसके कार्य का असर जन-समाज पर होता है। ऐसा मनुष्य विचार-लोक में रहता है और विचारों की दुनिया अभी पैदा होने को है। उसकी वह परवा नहीं करता। ऐसे आदमी के लिए प्रचलित व्यवहार नीतिविशेष का अनादर करने के लिए यह खयाल भर होना काफी है कि उक्त नीति अच्छी नहीं है। ऐसा आदमी सदा दूसरों को अपने विचार के अनुसार आचरण कराने के यत्न में लगा रहेगा। ऐसे ही पैगंबरों ने दुनिया के चक्रों की गति फेरी है।

मनुष्य जबतक स्वार्थी है अर्थात् वह दूसरों के सुख की परवा नहीं करता तबतक वह पशु-सदृश, बल्कि उससे भी गयाबीता है। मनुष्य पशु से श्रेष्ठ है, यह हम देख सकते हैं; पर यह तभी होता है जब हम उसे अपने कुटुंब का बचाव करते देखते हैं। वह उस वक्त मानव-जाति में और ऊँचा स्थान पाता है जब अपने देश या अपनी जाति को अपना कुटुंब मानता है। जब सारी मानव-जाति को वैसा मानता है तब उससे भी ऊंचे सोपान पर चढ़ता है, अर्थात् मनुष्य मानव-जाति की सेवा में जितना पीछे रहता है उस दर्जे तक वह पशु है अथवा अपूर्ण है। अपनी स्त्री के लिए, अपने बेटे के लिए मुझे दर्द हो, पर उससे बाहर के आदमी के लिए मेरे दिल में दर्द न हो तो स्पष्ट है कि मुझे मानव-जाति के दु:ख की अनुभूति

नहीं है, पर स्त्री, बच्चे-या कौम, जिसको मैंने अपना मान रखा है, उनके लिए भेद-बुद्धि या स्वार्थ-बुद्धि से कुछ दर्द होता है।

अत: जबतक हमारे मन में हरएक मानव-संतान के लिए दया न हो तबतक हमने नीति-धर्म का पालन नहीं किया और न उसे जाना। अब हम देख रहे हैं कि ऊंची नीति सार्वजनिक होनी चाहिए। हमसे संबंध रखनेवाला हर आदमी हमारे ऊपर ऐसा हक रखता है यानि हम सदा उसकी सेवा करते रहें, यह हमारा फर्ज है। हमें यह सोचकर व्यवहार करना चाहिए कि हमारा हक किसी के ऊपर नहीं है। कोई यह कह सकता है कि ऐसा करने वाला आदमी इस दुनिया के रेले में पड़कर पिस जायगा, पर ऐसा कहना निरा अज्ञान है; क्योंकि यह जगत्-प्रसिद्ध अनुभव है कि ऐसी एक-निष्ठा से सेवा करनेवाले आदमी को खुदा ने हमेशा बचा लिया है।

इस नीति के पैमाने से मनुष्य-मात्र समान हैं। इसका अर्थ कोई यह न करे कि हर आदमी समान पद-अधिकार भोगता है, या एक ही तरह का काम करता है। उसका अर्थ यह है कि अगर मैं ऊंचा पदाअधिकार भोगता हूं तो उस पद की जिम्मेदारी उठाने की मुझमें शक्ति है। इससे मुझे गर्व से इतराना न चाहिए और न यह मानना चाहिए कि दूसरे लोग, जो छोटी जिम्मेदारी उठाते हैं, मुझसे हेठे हैं। पूर्ण साम्य तो हमारे मन की स्थिति पर अवलंबित होता है। जबतक हमारे मन की यह स्थिति नहीं होती तबतक हम पिछड़े हुए हैं। |

इस नियम के अनुसार एक जाति या राष्ट्र अपने स्वार्थ के लिए दूसरी जाति या राष्ट्र पर राज्य नहीं कर सकता । अमरीका की गोरी जनता का वहां के मूल निवासियों को दबाकर उनपर हुकूमत करना, यह नीति-विरुद्ध है। ऊंची शिक्षा-संस्कार वाली जाति का नीची जाति से साबका पड़े, तो उसका यह कर्त्तव्य होता है कि उसको उठा कर अपने बराबर कर ले। इस नियम के अनुसार राजा प्रजा पर हुकूमत करने वाला नहीं, बल्कि उसका नौकर होता है। अधिकारी अधिकार भोगने के लिए नहीं, बल्कि प्रजा को सुखी करने के लिए होता है। प्रजातंत्र राज्य में लोग स्वार्थी हों तो वह राज्य निकम्मा है।

फिर इस नियम के अनुसार एक राज्य में बसने वाले या एक कौम के आदमियों में जो बलवान हों उनका काम है दुर्बलों की रक्षा करना, न कि उनको कुचलना, उनका दलन करना। ऐसी राज्य-

व्यवस्था में भूखों मरने वाले नहीं हो सकते, और न यही हो सकता है कि कुछ लोगों के पास बेहद दौलत इकट्ठी हो जाय, इसलिए कि हम अपने पड़ोसी का दुःख देखते रहें और सुखी रहें, हो नहीं सकता। परम नीति का अनुसरण करने वाले आदमी से धन बटोरने का काम होने वाला नहीं। ऐसी नीति दुनिया में थोड़ी दिखाई देती है, यह सोच कर नीतिमान को घबराना न चाहिए, क्योंकि वह अपनी नीति का मालिक है, उसके नतीजे का नहीं। नीति का आचरण न करने से वह दोषी माना जायगा; पर उसका असर जन-समाज़ पर न हो तो कोई उसको दोष नहीं हो सकता।

८. समाप्ति

"मैं जिम्मेदार हूँ," "यह मेरा फर्ज है," यह विचार मनुष्य को हिला देता है और अचंभे में डाल देता है। गैबी आवाज की प्रतिध्वनि सदा हमारे कान में पड़ा करंती है-"मानव, यह काम तेरा है। तुझे खुद हारना या जीतना है। तुझ जैसा तु ही है, क्योंकि प्रकृति ने दो समान वस्तुएं कहीं बनाई ही नहीं। जो फर्ज़ तुझको अदा करना है वह तूने अदा न किया तो दुनिया के सलाना चिट्ठे में घाटा रहा ही करेगा।"

यह फर्ज, जो मुझे अदा करना है, क्या है? कोई कहेगा कि-आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।

लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।

और कहेगा कि इस पद्य के अनुसार मुझे यह मानकर कि मैं खुदा का नूर हूं, चुपचाप बैठे रहना चाहिए। दूसरा आदमी कहेगा कि मुझे अपने आसपास के लोगों के साथ हमदर्दी दिखाना, भाईचारा रखना चाहिए। तीसरा कहेगा कि मां-बाप की सेवा, बीवी-बच्चों का भरण-पोषण और भाई-बहन-मित्रों के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए। पर इन सभी गुणों में मैं खुद अपने प्रति भी उसी रीति से व्यवहार करूं, यह मेरे समस्त कर्त्तव्य का अंग है। जबतक मैं अपने आपको न पहचानूं तबतक दूसरे को कैसे पहचान सकूंगा ? और जबतक पहचानूंगा नहीं तब तक उनका सम्मान कैसे कर सकूंगा ? बहुतेरे यह मानने लगे हैं कि जिन बातों का दूसरों से संबंध होता हो उनमें तो हमें कायदे से व्यवहार करना चाहिए; पर जबतक हमारे कामों का दूसरों से संबंध न हो तबतक हम अपनी मर्जी के मुताबिक जैसे चाहें वैसे व्यवहार कर सकते हैं। जो आदमी ऐसा मानता हो, वह बिना समझे बोलता है। दुनिया में रहकर कोई भी आदमी बिना अपनी हानि किये खुदमुख्तार या स्वछंद होकर व्यवहार नहीं कर सकता।

अब हमने देखा कि हमारा फर्ज खुद हमारी अपनी तरफ क्या है अव्वल तो हमारे एकांत के आचरण की खबर खुद हमारे सिवा दूसरों को होती नहीं, ऐसे आचरण का असर दूसरों पर होता है, इसलिए हम जिम्मेदार होते हैं, इतना ही सोचना काफी नहीं है। उसका असर दूसरों पर होता है, इसलिए भी हम उसके जवाबदेह हैं। हर आदमी को चाहिए कि अपने उत्साह को काबू में रखे। एक महान् पुरुष का कहना है कि किसी भी आदमी का खानगी चाल-चलन मुझको बता दो, मैं तुरन्त बता सकता हूं कि

वह आदमी कैसा होगा और है। ऐसे ही कारणों से हमारे लिए उचित है कि अपनी इच्छाओं को लगाम देकर रखें। यानी हमें शराब नहीं पीना चाहिए, पेटू की तरह ठूंस-ठूंस कर नहीं खाना चाहिए, नहीं तो अन्त में शक्तिहीन होकर हमें अपनी आबरू गंवानी होगी। जो आदमी विषयमार्ग से दूर रहकर अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्राण की रखवाली नहीं करता वह बाहर के कार्यों में सफलता नहीं पा सकता।

यों विचार करते हुए मनुष्य अपनी अंतर्वृत्तियों को स्वच्छ रखकर सोचता है कि इन वृत्तियों का क्या उपयोग करूं। जीवन में कोई निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। हम जीवन के कर्त्तव्यों को खोज करके उनके पालन की ओर मन का झुकाव न रखें तो हम बिना पतवार की नाव कि तरह भरे दरिया में डूबते-उतरते रहेंगे। हमारा ऊंचे-से-ऊंचा कर्त्तव्य यह है कि हम मानव-जाति की सेवा करें और उसकी स्थिति सुधारने के यत्न में योग दें। इसमें सच्ची ईश्वर-स्तुति, सच्ची बंदगी आ जाती है। जो आदमी भगवान का काम करता है, वह भगवान का जन है, खुदा का बंदा है। खुदा का नाम लेने वाले ढोंगी, धूर्त बहुतेरे दुनिया में विचरा करते हैं। तोता 'राम-राम' कहना भी सीख लेता है, इससे उसे कोई राम का भक्त, सेवक नहीं कहता। मनुष्य-जाति को यथायोग्य स्थिति प्राप्त कराने का उद्देश्य हर आदमी अपने सामने रख और उसका अनुसरण कर सकता है। वकील ऐसे उद्देश्य से वकालत कर सकता है, व्यापारी व्यापार कर सकता है। जो आदमी इस व्रत का पालन करता है, वह कभी नीति-धर्म से डिगता नहीं। उससे विचलित होकर मानव जाति को ऊपर उठाने का उद्देश्य पूरा किया ही नहीं जा सका।

अब हम ब्योरेवार विचार करें। हमें सदा यह देखते रहना पड़ता है कि हमारा आचरण सुधार की ओर जा रहा है या बिगाड़ की ओर। बनिज-व्यापार करने वाला हरएक सौदा करते हुए इस बात का विचार करेगा कि मैं अपने आपको या दूसरे को ठग तो नहीं रहा हूं। वकील और वैद्य ऊपर बताई हुई नीति का अनुसरण करते हुए मुवक्किल और रोगी के हिताहित को अधिक सोचेगा। मां बच्चे का पालन करते हुए सदा यह डर मन में रखकर चलेगी कि कहीं झूठे स्नेह या अपने दूसरे स्वार्थ से वह बिगड़ न जाय। ऐसा विचार रखकर मजदूरी करने वाला मजदूर भी अपने कर्त्तव्य का खयाल रखकर कार्य करेगा। इस सारे विवेचन का निचोड़ यह निकला कि मजदूर अगर नीतिनियम का पालन करते हुए अपने कत्तर्व्य का पालन करें तो वह अपने आचार-व्यवहार में अपने आपको खुद-मुख्तार मानने वाले धनी, व्यापारी, वैद्य या वकील से श्रेष्ठ माना जायगा। मजदूर खरा सिक्का है और व्यापारी, वकील आदि अधिक बुद्धि

या अधिक पैसे वाले होते हुए भी खोटे सिक्के जैसे हैं। इस प्रकार हम फिर यह देख रहे हैं कि हर आदमी उपर्युक्त नियम निभाने में समर्थ है, चाहे वह किसी भी स्थिति में क्यों न हो। मनुष्य का मूल्य उसके चरित्र, उसके चाल-चलन पर आश्रित होता है, उसके पद-दरजे पर नहीं। उसके चरित्र की परख उसके बाहर के कामों से नहीं होती, उसकी अन्तर्वृत्ति जान कर की जा सकती है। एक आदमी एक गरीब को अपनी नजर से दूर करने के लिए एक डालर देता है, दूसरा उस पर तरस खाकर, स्नेह के आधा डालर देता है। इनमें आधा डालर देने वाला नीतिमान है और पूरा डालर देने वाला पापी है।

इस सारे विवेचन का सार यह निकला कि जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से नाजायज फायदा नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रख कर व्यवहार करता है, वही आदमी धार्मिक है, वही सुखी है और वही पैसे वाला है। मानव-जाति की सेवा उसीसे बन सकती है। खुद दियासिलाई में आग न हो तो दूसरी लकड़ी को कैसे सुलगायेगी ? जो आदमी खुद नीति का पालन नहीं करता वह दूसरे को क्या सिखायगा ? जो खुद डूब रहा हो वह दूसरों को कैसे पार उतारेगा ? नीति का आचरण करने वाला दुनिया की सेवा किस तरह करनी होगी, यह सवाल कभी उठाता ही नहीं, क्योंकि उसके लिए यह सवाल पैदा ही नहीं होता. मैथ्यू आरनोल्ड कहता है, “एक वक्त था जब मैं अपने मित्र के लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति चाहा करता था। अब मैं वैसी कामना नहीं करता। इसलिए कि मेरे मित्र का सुखदुख उनके होने न होने पर अवलंबित नहीं। इससे अब मैं सदा यही मनाता हूं कि उसकी नीति सर्वदा अचल रहे ।” इमसन कहता है कि भले आदमी का दुःख भी उसका सुख है और बुरे का तो पैसा, उसकी कीर्ति भी उसके और दुनिया के लिए दुःखरूप है।

ऊपर के विषय से मेल खाने वाली कविता :

गर पादशाह[१] होकर अमल[२] मुल्कों हुआ तो क्या हुआ ?
दो दिन का नरसिंगा बजा, भों भों हुआ तो क्या हुआ ?
गुलशोर मुल्क व माल[३] का कोसों हुआ तो क्या हुआ ?
या हो फ़क़ीर आजाद के रंगों हुआ तो क्या हुआ ?
गर यूं हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ || १ ||
दो दिन तो यह चर्चा हुआ, हाथी मिला हाथी मिला,

बैठा अगर होदे उपर[४] या पालकी में जा चढ़ा,
आगे नक्कारा और निशां, पीछे को खोजों का परा[५];
देखा तो फिर इक आन में, हाथी न घोड़ा न गधा।
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || २ ||
अब देख किसको शाद[६] हो और किस पै आँखें नम करे?
यह दिल बिचारा एक है, किस-किसका अब मातम करे ?
या दिल को रोवे बैठकर, या दर्द दुःख में कम करे ?
यां का यही तूफान है अब किसकी जूती ग़म करे ?
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ३ ||
गर तू 'नज़ीर' अब मर्द है तो जाल में भी शाद हो,
दस्तार[७] में भी हो खुशी, रूमाल में भी शाद हो,
आजादगी भी देख ले, जंजाल में भी शाद हो,
इस हाल में भी शाद हो और उस हाल में भी शाद हो,
गर यूँ हुआ तो क्या हुआ और वूँ हुआ तो क्या हुआ ? || ४ ||

- नज़ीर

१. बादशाह; २. हुकुमत; ३. देश और धन ४. ऊपर ५. बेगमों की पालकियों की रक्षा के लिए हिजड़े सिपाहियों की कतार; ६. .....; ७. .....

सर्वोदय

रस्किन की 'अन्टू दिस लास्ट' पुस्तक का सारांश

प्रस्तावना

पश्चिम के देशों में साधारणत: यह माना जाता है कि बहुसंख्यक लोगों का सुख-उनका अभ्युदय-बढ़ाना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये-पैसे का सुख किया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने में नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवा नहीं की जाती। इसी तरह बहुसंख्यक लोगों को सुख देने का उद्देश्य रखने के कारण पश्चिम के लोग थोड़ों को दु:ख पहुंचाकर भी बहुतों को सुख दिलाने में कोई बुराई नहीं मानते। इसका फल हम पश्चिम के सभी देशों में देख रहे हैं।

किन्तु पश्चिम के कितने ही विचारवानों का कहना है कि बहुसंख्यक मनुष्यों के शारीरिक और अर्थिक सुख के लिए यत्न करना ही ईश्वर का नियम नहीं है और केवल इतने ही के लिए यत्न करें और उसमें नैतिक नियमों को भंग किया जाय, यह ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण है। ऐसे लोगों में अंग्रेज विद्वान् स्वर्गीय जान रस्किन मुख्य थे। उन्होंने कला, चित्रकारी आदि विषयों पर अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी हैं नीति के विषयों पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। उसमें से एक छोटी-सी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' है। इसे उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचना माना है। जहां-जहां अंग्रेजी बोली जाती है, वहां-वहां इस पुस्तक का बहुत प्रचार है। इसमें ऊपर बताये विचारों का जोरों से खंडन किया गया है और दिखाया गया है कि नैतिक नियमों के पालन में ही मनुष्य-जाति का कल्याण है।

आजकल भारत में हम पश्चिम वालों की बहुत नकल कर रहे हैं। कितनी ही बातों में हम इसकी जरूरत भी समझते हैं; पर इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम की बहुत-सी रीतियां खराब हैं। और यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि जो खराब है, उनसे दूर रहना उचित है।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों की अवस्था बहुत ही कहणाजनक है। हम धन के लिए विदेश जाते हैं। उसकी धुन में नीति को, ईश्वर को भूल जाते हैं। स्वार्थ में सन जाते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि हमें विदेशों में रहने से लाभ के बदले उलटे बहुत हानि होती है अथवा विदेश-यात्रा का पूरा-पूरा लाभ नहीं मिलता। सभी धर्मों में नीति का अंश तो रहता ही है, पर साधारण बुद्धि से देखा जाय तो भी नीति का पालन आवश्यक है। जॉन रस्किन ने सिद्ध किया है कि सुख इसी में है। उन्होंने पश्चिमवालों की आंखें खोल दी हैं और आज यूरोप और अमरीका के भी कितने ही लोग उनकी शिक्षा के अनुसार चलते हैं।

भारतीय जनता भी उनके विचारों से लाभ उठा सके, इस उद्देश्य से हमने उक्त पुस्तक का इस ढंग से सारांश देने का विचार किया है कि जिससे अंग्रेजी न जानने वाले भी उसे समझ लें।

सुकरात ने; मनुष्य को क्या करना उचित है, इसे संक्षेप में समझाया है। कह नहीं सकते कि उसने कुछ कहा है, रस्किन ने उसीका विस्तार कर दिया है। रस्किन के विचार सुकरात के ही विचारों का विस्तृत रूप हैं। सुकरात के विचारों के अनुसार चलने की इच्छा रखने वालों को भिन्न-भिन्न व्यवसायों में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, रस्किन ने इसे बहुत अच्छी तरह बता दिया है। हम उनकी पुस्तक का सार दे रहे हैं, उलथा नहीं कर रहे हैं। उल्था कर देने से संभव है कि बाइबिल आदि ग्रंथों के कितने ही दृष्टांत पाठक न समझ पायें। हमने पुस्तक के नाम का भी उल्था नहीं किया है; क्योंकि उसका मतलब भी वही पा सकते हैं जिन्होंने अंग्रेजी में बाइबिल पढ़ी है; परन्तु उसके लिखे जाने का उद्देश्य सबका कल्याण, सबका (केवल अधिकांश का नहीं) उदय, उत्कर्ष होने के कारण हमने इसका नाम 'सर्वोदय' रखा है।

- मो. क. गांधी

सर्वोदय

१. सचाई की जड़

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना-स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किये बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मानकर उनके व्यवहार के गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखाई देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जाजनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखाई देता है वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखाई देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गतिमें बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए; परंतु लोभ और आगे बढ़नेकी इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बातपर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाय।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेन-देन के नियम-जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनुष्य की भावना उसके अंदर का बल है और लेन-देन का कायदा एक सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उसपर एक ओर से स्थायी शक्ति, लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्ति का अंदाजा लगायेंगे, बाद को आकस्मिक का। दोनोंका अंदाजा मिल जानेपर हम उस वस्तुकी गति का निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियां एक प्रकार की हैं; परंतु मानव-व्यवहार में लेन-देन स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावनारूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तु विशेष की गति पर पड़नेवाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़ बाकी के नियमसे

लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जांच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या मांग और उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, यह कहने का कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षा यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थिपंजर नहीं है और फिर नियम बनायें तो उसके नियम ठीक भले ही हों; पर वे अस्थि-पंजरवाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होनेपर भी भावना से बंधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्य का मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींचकर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस मांस में पुनः अस्थिपंजर घुसा देने में क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे; क्योंकि अस्थिपंजर से मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायं तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढ़ंग पर चलाते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर केवल कल है और इसी धारण के अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव हैं, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकार के नियम मनुष्य पर जिसमें जीव-आत्मा-रूह की प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं ?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-तक हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार हैं। उस वक्त मालिक कुछ सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है परंतु इस समय में वे कुछ नहीं समझते । सच तो यह है कि एक-दूसरे का सांसारिक स्वार्थ – पैसे का – एक न होने पर भी एक दूसरे का विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं। घर में माता और उसके बच्चे हैं। दोनों को भूख लगी है। खाने में दोनों के – माता और बच्चे के – स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भखों मरते हैं और बच्चे खाते है तो मां भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। ठीक यही बात मनुष्य के परस्पर के संबंध के विषय में भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशु में कोई अंतर नहीं है। हमें पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहए। तब भी यह बात नियम रूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है; परंतु नफे के बंटवारें की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहां एक का लाभ हो वहां दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनखाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साह रह, मालिक का स्वार्थ नहीं सधता। इसी तरह कारखाना भली भांति न चल सकता हो तो भी ऊंची तनखाह मांगना नौकर के स्वार्थ का साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत करने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊंची तनखाह मांगना स्पष्टत: अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता; परंतु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्राय: सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथपर चलनेका फल अच्छा ही होना चाहिए। हां, वह फल कया होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का संबंध अवलंबित होता हैं। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह है कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीर में रख सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकरने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतंत्रता है। इसी को लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना

है कि इस तरह कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अंत में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन था कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था; परंतु यहां तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थशास्त्रियों के सारे नियमों पर हड़ताल फेर देता है – उन्हें गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक-से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकता है जब उसकी सहानुभूति जगाई जाय। नौकर और मालिक के बीच धनका नहीं, प्रीति का बंधन होना चाहिए।

प्राय: देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और मुस्तैद होता है तब नौकर अधिकतर दबाव के कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिये जायं तो हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूतिरहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं; क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर चढ़ जाता है; पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिक के साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने के परिणाम अच्छा ही होता है। यहां हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मानकर ही उस पर विचार कर रह हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए-यह बिलकुल जुदी बात है और यहां हम उसपर विचार नहीं कर रह हैं। यहां तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेही सहानुभूति रूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार

की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्याय नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक कांटे के तौल का हिसाब रक्खे और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना मांगे अपने आप ही मिल जाता है। कहते हैं जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्टता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है – सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहां सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहां युद्ध में कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरों के दलों में भी पाई जाती है। डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है; लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की घनिष्टता नहीं दिखलाई देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरोंकी तनखाह का आधार लेन-देन के, मांग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबंध में विरोध, प्रतिद्वंद्विता-सी दिखाई देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नोंपर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि मांग का और प्राप्ति का विचार किए बिना नौकरों की तनखाह किस हदतक स्थिर की जा सकती है?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरोंका या सेनापति और सिपाहियों का स्थायी संबंध होता है, उसी तरह कारखानों में बराबर कैसा ही समय आने पर भी नौकरी की नियत संख्या कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करें। आश्चर्य की बात है कि अर्थशास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखानेके मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाय। फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैंड के प्रधानमंत्री का पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पदपर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप) के पदपर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणत: इस तरह का संबंध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरण में हम बंधी उजरत ही देते हैं । इसपर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर की उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील-डाक्टरों के ही पास जाते हैं, उसी तरह सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर हम लोग अच्छे राज और बढ़ई से ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसंद किया जाय। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहां अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकता है वहां अंत में बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें। वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने आदमियों को आरंभ में रक्खा हो उतने को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम मिलता है तब उन्हें ऊंची तनखाह मांगनी ही पड़ती है; किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाय कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाह में भी काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अंत में लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। ऐसे कारखानों में ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नहीं ले सकते। भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते । सिपाही सेनापति की खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गई है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं; बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरी के संबंध में भी मानते हैं, इसलिए उन्हें आदर की दृष्टिसे देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्यको अनेक संकट भी अपने रोगी

का उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते; पर अपने समुदायवालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता ? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्यका संबंध मान लेने का क्या कारण है ? विचार करने से दिखाई देता है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है; पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गई है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहांतक हो सके अधिक मांगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना-धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को व्यापार न कहकर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गँवा देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिए। सभी राज्यों में–

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है;
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है;
और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्-

पैर पीछे हठाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाय तो भी चिकित्सक को वहां मौजूद रहकर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दमतक धर्मोपदेशक को झूठके बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशेवालों के लिए मरने का उपर्युक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनखाह लेना नहीं; बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोजी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाते हैं, पर दोनों में से एक का भी काम तनखाह या नफेपर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊंचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुंचाना है। इस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उसपर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह भिखारी हो जाय, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहां काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमें से कितनों को अक्सर घरबार छोड़कर दूर जाना होता है। वहां तो मालिक को ही उनके मां-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना मां-बाप के हो जाते हैं। इसलिए पद-पद पर व्यापारी या मालिक को अपने-आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि “मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूं वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूं या नहीं ?”

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहां अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना होगा। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज

से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्त्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार संभव हैं कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है; क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलाई गई है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती । अंग्रेज जाति आज तक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है; बल्कि यह है कि थोड़े से लोगों ने उन नियमों का भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसी से यह नीति अब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमों को भंग करनेसे कैसी हानियां होती हैं और किस तरह समाज को पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चलकर करेंगे।

हम सचाई के मूल के संबंध में पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है--"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थशास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है ? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धांत प्रभावकारी पाये गए हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलीलें उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं; पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ या नहीं। 'धनवान' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहां धनवान होंगे वहां गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएं के रहट-जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उसपर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है।

आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपसे पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहां गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है, ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएं उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोईघर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। यह लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ानेवाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करनेवाला यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे, अपने को उतना ही पैसेवाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमीके पास सोना-चांदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परंतु यदि इसके पड़ोसियों से किसी को सोना-चांदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे नौकर मिलना कठिन होगा। अत: उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सीने का मूल्य उसके खेतके पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जायेगा क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चांदी एकत्र करना पसन्द न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आरामके लिए नौकर, व्यापार या कारीगरकी मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेनेकी इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहां अधिक मजदूरी मिलेगी वहां जायगा। निचोड़ यह निकला कि

धनवान होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायं, यह तो हो नहीं सकता; परंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दु:खी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो तो राष्ट्र सुखी होता है।

२. दौलत की नसें

इसी प्रकार किसी विशेष राष्ट्र में रुपये-पैसे का चक्कर शरीर में रक्त-संचार के समान हैं। तेजी के साथ रक्त का संचार होना या तो स्वास्थ्य और व्यायाम का सूचक होता है, या लज्जा अथवा ज्वर का। शरीर पर एक प्रकार की लालिमा स्वास्थ्य सूचित करती है। दूसरे प्रकार की रक्तपित्त रोग का चिन्ह है। फिर एक स्थान में खून का जमा हो जाना जिस तरह शरीर को हानि पहुंचता है उसी तरह एक स्थान में धन का संचित होना भी राष्ट्र की हानि का कारण हो जाता है।

मान लीजिए कि जहाज के टुटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाने से दो खलासी एक निर्जन किनारे आ पड़े हैं। वहां उन्हें खुद मेहनत करके अपने लिए खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने पड़ते हैं। यदि दोनों स्वस्थ रहकर एक साथ काम करते रहें तो अच्छा मकान बना सकते हैं, खेत तैयार कर खेती कर सकते हैं और भविष्य के लिए कुछ बचा भी सकते हैं। इसे हम सच्ची संपत्ति कह सकते हैं और यदि दोनों अच्छी तरह काम करें तो उसमें दोनों का हिस्सा बराबर माना जायेगा। इस तरह इन पर जो शास्त्र लागू होता है वह यह कि उन्हें अपने परिश्रमका फल बांटने का अधिकार है। अब मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद इनमें से एक आदमी को असंतोष हुआ, इसलिए उन्होंने खेत बांट लिये और अलग-अलग अपने-अपने लिए काम करने लगे। फिर मान लीजिए कि कभी एन मौके पर एक आदमी बीमार पड़ गया। ऐसी दशा में वह स्वभावत: दूसरे को मदद के लिए बुलायगा। उस समय दूसरा कह सकता है कि मैं तुम्हारा इतना काम करने को तैयार हूं; पर शर्त यह है कि मुझे आवश्यकता पड़े तो तुम्हें भी मेरा इतना ही काम कर देना होगा। तुम्हें यह भी लिख देना होगा कि तुम्हारे खेत में मैं जितने घंटे काम करूंगा उतने ही घंटे जरूरत पड़ने पर, तुम मेरे खेत में काम कर दोगे। यह भी मान लीजिए कि बीमार की बीमारी लंबी चली और हर बार उसे उस आदमी को उसी तरह का इकरारनामा लिखकर देना पड़ा। अब जब बीमार आदमी अच्छा होगा तब उन दोनों की स्थिति क्या होगी ? हम देखेंगे कि दोनों ही पहले से गरीब हो गए हैं; क्योंकि बीमार आदमी जब तक खाटपर पड़ा रहा तब तक उसे अपने काम का लाभ नहीं मिला। यदि हम मान लें कि दूसरा आदमी खूब परिश्रमी है तब भी उतनी बात तो पक्की ठहरी कि उसने अपना जितना समय बीमार के खेत में लगाया उतना अपने खेत में लगाने से उसे वंचित रहना पड़ा। फल यह हुआ कि जितनी संपत्ति दोनों की मिलकर होनी चाहिए थी उसमें कमी हो गई।

इतना ही नहीं, दोनों का सम्बन्ध भी बदल गया। बीमार आदमी दूसरे आदमी का कर्जदार हो गया। अब वह अपनी मेहनत देने के बाद ही, मजदूरी करके ही, अपना अनाज ले सकता है। अब मान लीजिए कि उस चंगे आदमी ने बीमार आदमी से लिखाए हुए इकरारनामे का उपयोग करने का निश्चय किया। यदि वह ऐसा करता है तो वह पूर्ण रूप से विश्राम ले सकता है –आलसी बन सकता है। वह चाहे तो बीमारी से उठे हुए आदमी से दूसरे इकरारनामे भी लिखवा सकता है। यह कोई नहीं कह सकेगा कि इसमें कोई बेकायदा बात हुई। अब यदि कोई परदेशी वहां आए तो वह देखेगा कि एक आदमी धनी हो गया है और दूसरा बीमार पड़ा है। एक ऐश-आराम करता है, आलस्य में दिन बिताता है और दूसरा मजदूरी करता हुआ भी कष्ट से निर्वाह कर रहा है। इस उदाहरण से पाठक देख सकेंगे कि दूसरे से काम लेने का फल यह होता है कि वास्तविक संपत्ति घट जाती है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। तीन आदमियों ने मिलकर एक राज्य की स्थापना की और तीनों अलग-अलग रहने लगे। हरेक ने अलग-अलग ऐसी फसल पैदा की जो सबके काम आ सके। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी सबका समय बचाने के लिए एक्का माल दूसरेके पास पहुंचाने का जिम्मा ले लेता है और इसके बदले में अन्न लेता है। अगर यह आदमी ठीक तौर से माल लाए व ले जाए तो सबको लाभ होगा। पर मान लीजिए कि यह आदमी माल ले जाने में चोरी करता है और बाद को सख्त जरूरत के समय यह दलाल वही चुराया हुआ अन्न बहुत ही महंगे भाव उनके हाथ बेचता है। इस तरह करते-करते यह आदमी दोनों किसानों को भिखारी बना देता है और अंत में अपना मजदूर बना लेता है।

ऊपर के दृष्टांत में स्पष्ट अन्याय है; पर आज के व्यापारियों का यही हाल है। हम यह भी देख मकेंगे कि इस चोरी की कार्रवाई के बाद तीनों आदमियों की संपत्ति इकट्ठी करने पर उससे कम ठहरेगी जितनी उस आदमी के ईमानदार बने रहने पर होती। दोनों किसानों का काम कम हुआ। आवश्यक चीजें न मिलनेसे अपने परिश्रम का पूरा फल वे न पा सके। साथ ही उस चोर दलालके हाथ चोरी का जो माल लगा उसका भी पूरा और अच्छा उपयोग नहीं हुआ।

इस तरह हम (बीज) गणित का-सा स्पष्ट हिसाब लगाकर राष्ट्र विशेष की संपत्ति की जांच कर सकते हैं। उस संपत्ति की प्राप्ति के साधनों पर उसे धनवान मानने या न मानने का आधार है। किसी

राष्ट्र के पास इतने पैसे हैं, इसलिए वह इतना धनवान है यह नहीं कहा जा सकता। किसी आदमी के पास धन का होना जिस तरह उसके अध्यवसाय, चातुर्य और उन्नतिशीलता का लक्षण हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास हो सकता है, उसी तरह वह हानिकर भोग-विलास, अत्याचार और जाल-फरेब का-सूचक भी हो सकता है। केवल नीति ही हमें इस तरह हिसाब लगाना सिखाती है। एक धन ऐसा होता है जो दस गुना हो जाता है दूसरा ऐसा होता है कि आदमी के हाथ में आते हुए दस गुने धन का नाशकर देता है।

तात्पर्य यह कि नीति-अनीति का विचार किए बिना धन बटोरने के नियम बनाना केवल मनुष्य की घमंड दिखाने वाली बात है। सस्ते-से-सस्ता खरीदकर महंगे-से-महंगा बेचने के नियम के समान लज्जाजनक बात मनुष्य के लिए दूसरी नहीं है। 'सस्ते-से-सस्ता लेना' तो ठीक है, पर भाव घटा किस तरह ? आग लगने पर लकड़ियाँ जल जाने से जो कोयला बन गया है वह सस्ता हो सकता है। भूकंप के कारण धराशायी हो जानेवाले मकानों की ईंटें सस्ती हो सकती हैं; किन्तु इससे कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आग और भूकंप की दुर्घटनाएं जनता के लाभ के लिए हुई थीं। इसी तरह महंगा-से-महंगा बेचना भी ठीक है, पर महंगी हुई कैसे ? आज आपको रोटी के अच्छे दाम मिले । पर क्या आपने दाम किसी मरणासन्न मनुष्य की अंतिम कौड़ियां लेकर खड़े किए हैं ? या आपने वे रोटियां किसी ऐसे महाजन को दी हैं जो कल आपका सर्वस्व हड़प लेगा ? या किसी ऐसे सिपाही को दीं जो आपके बैंक पर धावा बोलने वाला है ? संभव है कि इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर आप अभी न दे सकें, क्योंकि आपको इनका ज्ञान नहीं है; पर आपने अपनी रोटी उचित मूल्य पर, नीतिपूर्वक बेची है या नहीं यह आप बतला सकते हैं। ठीक न्याय होने की ही चिंता रखना आवश्यक भी है। आपके काम से किसी को दुःख न हो, इतना जानना और उसके अनुसार चलना आपका कर्त्तव्य है।

हम देख चुके कि धन का मूल्य उसके द्वारा लोगों का परिश्रम प्राप्त करने पर निर्भर है। यदि मेहनत मुफ्त में मिल सके तो पैसे की जरूरत नहीं रहती। पैसे बिना भी लोगों की मेहनत मिल सकती है, इसके उदाहरण मिलते हैं और इसके उदाहरण तो हम पहले ही देख चुके हैं कि धन-बल से नीति-बल से अधिक काम करता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जहां धन काम नहीं देता वहां सद्गुण काम देता है। इंग्लैण्ड में अनेक स्थानों में लोग धन से भुलावे में नहीं डाले जा सकते।

यदि हम मान लें कि आदमियों से काम लेने की शक्ति ही धन है तो हम यह भी देख सकते हैं कि वे आदमी जिस परिमाण में चतुर और नीतिमान होंगे उसी परिमाण में दौलत बढ़ेगीं इस तरह विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सच्ची दौलत सोना-चांदी नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य ही है। धन की खोज धरती के भीतर नहीं, मनुष्य के हृदय में ही करनी है। यह ठीक हो तो अर्थशास्त्र का सच्चा नियम यह हुआ कि जिस तरह बने उस तरह लोगों को तन, मन और मान से स्वस्थ रखा जाय। कोई समय ऐसा भी आ सकता है जब इंग्लैण्ड गोलकुंडे के हीरों से गुलामों को सजाकर अपने वैभव का प्रदर्शन करने के बदले यूनान के एक सुप्रसिद्ध मनुष्य के कथनानुसार, अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखाकर कहे कि – “यह मेरा धन है।“

३. अदल इंसाफ

ईसवी सन् की कुछ शताब्दियों पहले एक यहूदी व्यापारी हुआ था। उसका नाम सोलोमन था। उसने धन और यश दोनों भरपूर कमाए थे। उसकी कहावतों का आज भी यूरोप में प्रचार है। वेनिस के लोग उसे इतना मानते थे कि उन्होंने उसकी मूर्ति स्थापित की | उसकी कहावतें आजकल याद तो रखी जाती हैं; परन्तु ऐसे आदमी बहुत कम हैं जो उनके अनुसार आचरण करते हों। वह कहता है, "जो लोग झूठ बोलकर पैसा कमाते हैं वे घमंडी हैं और यही उनकी मौत की निशानी है।" दूसरी जगह उसने कहा है, "हराम की दौलत से कोई लाभ नहीं होता। सत्य मौत से बचाता है।" इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने बतलाया है कि अन्याय से पैदा किये हुए धन का परिणाम मृत्यु है। इस जमाने में इतना झूठ बोला और इतना अन्याय किया जा रहा है कि साधारणत: हम उसे झूठ और अन्याय कह ही नहीं सकते जैसे कि झूठे विज्ञापन देना, अपने माल पर लोगों को भुलावे में डालनेवाले लेबिल लगाना, इत्यादि ।

इसके बाद वह बुद्धिमान कहता है, "जो धन बढ़ाने के लिए गरीबों को दु:ख देता है वह अंत में दर-दर भीख माँगेगा।" इसके बाद कहता है, "गरीबों को न सताओ, क्योंकि वे गरीब हैं। व्यापार में दुखियों पर जुल्म न करो, क्योंकि जो गरीब को सताएगा खुदा उसे सताएगा।" लेकिन आजकल तो व्यापार में मरे हुए आदमी को ही ठोकर मारी जाती है। यदि कोई संकट में पड़ जाता है तो हम उसके संकट से लाभ उठाने को तैयार हो जाते हैं। डकैत तो मालदार के यहां डाका डालते हैं, परन्तु व्यापार में तो गरीबों को ही लूटा जाता है।

फिर सोलोमन कहता है, "अमीर और गरीब दोनों समान हैं खुदा उनको उत्पन्न करनेवाला है। खुदा उन्हें ज्ञान देता है।" अमीर का गरीब के बिना और गरीब का अमीर के बिना काम नहीं चलता। एकसे दूसरे का काम सदा ही पड़ता रहता है, इसलिए कोई किसी को ऊंचा या नीचा नहीं कह सकता। परन्तु अब ये दोनों अपनी समानता को भूल जाते हैं। और जब उन्हें इस बात का होश नहीं रहता कि खुदा उन्हें ज्ञान देनेवाला है तब विपरीत परिणाम होता है।

धन नदी के समान है। नदी सदा समुद्र की ओर अर्थात् नीचे की ओर बहती है। इसी तह धन को भी जहां आवश्यकता हो वहीं जाना चाहिए; परन्तु जैसे नदी की गति बदल सकती है। वैसे ही धन की

गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कितनी ही नदियां इधर-उधर बहने लगती हैं और उनके आस-पास बहुत सा पानी जमा हो जाने से जहरीली हवा पैदा होती है। इन्हीं नदियों में बांध बांधकर जिधर आवश्यकता हो उधर उनका पानी ले जाने से वही पानी जमीन को उपजाऊ और आस-पास की वायु को उत्तम बनाता है । इसी तरह धन का मनमपना व्यवहार होने से बुराई बढ़ती है, गरीबी बढ़ती है। सारांश यह है कि वह धन विषतुल्य हो जाता है; पर यदि उसी धन की गति निश्चित कर दी जाय, उसका नियमपूर्वक व्यवहार किया जाय, तो बांधी हुई नदी की तरह वह सुखप्रद बन जाता है।

अर्थशास्त्री धन की गति के नियंत्रण के नियम को एकदम भूल जाते हैं। उनका शास्त्र केवल धन प्राप्त करने का शास्त्र है; परन्तु धन तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है। एक जमाना ऐसा था जब यूरोप में धनिक को विष देकर लोग उसके धन से स्वयं धनी बन जाते थे। आजकल गरीब लोगों के लिए जो खाद्य पदार्थ तैया र किये जाते हैं उनमें व्यापारी मिलावट कर देते हैं। जैसे दूध में सुहागा, आटे में आलू, कहवे में चीकरी', मक्खन में चरबी इत्यादि । यह भी विष देकर धनवान होने के समान ही है। क्या इसे हम धनवान होने की कला या विज्ञान कह सकते हैं ?

परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री निरा लूट से ही धनी होने की बात कहते हैं। उनकी ओर से यह कहना ठीक होगा कि उनका शास्त्र कानून संगत और न्याय-युक्त उपायों से धनवान होने का है। पर इस ज़माने में यह भी होता है कि अनेक बातें जायज होते हुए भी न्यायबुद्धि से विपरीत होती हैं। इसलिए न्यायपूर्वक धन अर्जन करना ही सच्चा रास्ता कहा जा सकता है। और यदि न्याय से ही पैसा कमाने की बात ठीक हो तो न्याय-अन्याय का विवेक उत्पन्न करना मनुष्य का पहला काम होना चाहिए। केवल लेनदेन के व्यायसायिक नियम से काम लेना या व्यापार करना ही काफी नहीं है। यह तो मछलियां, भेडिये और चूहे भी करते हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, चूहा छोटे जीव-जंतुओं को खा जाता है और भेड़िया आदमी तक को खा डालता है। उनका यही नियम है, उन्हें दूसरा ज्ञान नहीं है; परंतु ईश्वर ने मनुष्य को समझ दी है, न्याय-बुद्धि दी है। उसके द्वारा दूसरों को भक्षण कर, उन्हें ठगकर, उन्हें भिखारी बनाकर उसे धनवान न होना चाहिए।

ऐसी अवस्था में अब हमें देखना है कि मजदूरों को मजदूरी देने का न्याय क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि मजदूर का उचित पारिश्रमिक तो यही हो सकता है कि उसने जितनी मेहनत हमारे लिए की हो उतनी ही मेहनत जब उसे आवश्यकता हो हम भी उसके लिए कर दें। यदि उसे कम मेहनत, कम काम मिलता है तो हम उसे उसकी मेहनत का कम बदला देते हैं, ज्यादा मिले तो ज्यादा देते हैं।

एक आदमी को एक मजदूर की आवश्यकता है; पर दो आदमी उसका काम करने को तैयार हो जाते हैं। अब जो आदमी कम मजदूरी माँगे उससे काम लिया जाय तो उसे कम मजदूरी मिलेगी। यदि अधिक आदमियों को मजदूरी की आवश्यकता हो और मजदूर एक ही हो तो उसे मुंह मांगी उजरत मिल जाएगी और यह प्राय: जितनी होनी चाहिए उससे अधिक होगी। इन दोनों के बीच की दर उचित मजदूरी कही जायगी।

कोई आदमी मुझे कुछ रुपया उधार दे और मैं किसी विशेष अवधि के बाद लौटाना चाहूं तो मुझे उस आदमी को ब्याज देना होगा। इसी तरह आज कोई मेरे लिए मेहनत करे तो मुझे उस आदमी को उतना ही नहीं, बल्कि ब्याज के तौर पर, कुछ अधिक परिश्रम देना चाहिए। आज मेरे लिए कोई एक घंटा काम कर दे तो मुझे उसके लिए एक घंटा पांच मिनट या इससे अधिक का काम कर देने का वचन देना चाहिए। यही बात प्रत्येक मजदूर के विषय में समझनी चाहिए।

अब अगर मेरे पास दो मजदूर आएं और उनमें से जो कम ले उसे मैं काम पर लगाऊं तो फल यह होगा कि जिससे मैं काम लूंगा उसे तो आधे पेट रहना होगा और जो बेरोजगार रहेगा वह पूरा उपवास करेगा। मैं जिस मजदूर को रखूं उसे पूरी मजदूरी दूं तब भी दूसरा मजदूर तो बेकार ही रहेगा, फिर भी जिसे मैं काम में लगाऊंगा उसे भूखों न मरना होगा और यह समझा जायगा कि मैंने अपने रुपये का उचित उपयोग किया। सच पूछिए तो लोगों के भूखों मरने की स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब मजदूरों को कम मजदूरी दी जाती है। मैं मजदूरी दूं तो मेरे पास व्यर्थ का धन इकट्ठा न होगा, मैं भोग-विलास में रुपया खर्च न करूंगा और मेरे द्वारा गरीबी न बढ़ेगी। जिसे मैं उचित दाम दूंगा वह दूसरों को उचित दाम देना सीखेगा। इस तरह न्यायका सोता सूखने के बदले ज्यों-ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों उसका जोर बढ़ता जाएगा और जिस राष्ट्र में इस प्रकार की न्याय-बुद्धि होगी वह सुखी होगा और उचित रूप से फूले-फलेगा।

इस विचार के अनुसार अर्थशास्त्री झूठे ठहरते हैं। उनका कथन है कि ज्यों-ज्यों प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है त्यों-त्यों राष्ट्र समृद्ध होता है। वास्तव में यह विचार भ्रांत है। प्रतिस्पर्द्धा का उद्देश्य है मजदूरी की दर घटना।

इससे धनवान अधिक धन इकट्ठा करता है और गरीब अधिक गरीब हो जाता है। ऐसी प्रतिस्पर्द्धा (चढ़ा-ऊपरी) से अंत में राष्ट्र का नाश होने की संभावना रहती है। नियम तो यह होना चाहिए कि हरेक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार मजदूरी मिला करे। इसमें भी प्रतिस्पर्द्धा होगी, पर इस प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप लोग सुखी और चतुर होंगे; क्योंकि फिर काम पाने के लिए अपनी दर घटाने की जरूरत न होगी, बल्कि अपनी कार्यकुशलता बढ़ानी होगी। इसलिए लोग सरकारी नौकरी पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। वहां दर्जे के अनुसार तनखाह स्थिर होती है, प्रतिस्पर्द्धा केवल कुशलता में रहती है। नौकरी के लिए दरखास्त देनेवाला कभी तनखाह लेने की बात नहीं कहता, किंतु यह दिखाता है कि उसमें दूसरों की अपेक्षा अधिक कुशलता है। फौज और जल-सेना की नौकरियों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है। और इसलिए प्राय: ऐसे विभागों में गड़बड़ और अनीति कम दिखाई देती है। व्यापारियों में ही दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फलस्वरूप धोखेबाजी, दागा, फरेब, चोरी आदि अनीतियां बढ़ गई हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊं, मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूं और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमा लूं ! इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं; ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अंत में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सभी दु:ख भोगते और नष्ट होते हैं। जिस राष्ट्र में ऐसी प्रथाएं प्रचलित होती हैं वह अंत में दु:ख पाता है और उसका धन ही विष-सा हो जाता है –

इसलिए ज्ञानियों ने कह रखा है-

“जहां धन ही परमेश्वर है वहां सच्चे परमेश्वर को कोई नहीं पूजता।”

अंग्रेज मुंह से तो कहते हैं कि धन ईश्वर में परस्पर विरोध है, गरीब ही के घर में ईश्वर वास करता है, पर व्यवहार में वे धन को सर्वोच्च पद देते हैं। अपने धनी आदमियों की गिनती करके अपने को सुखी

मानते हैं और अर्थशास्त्री शीघ्र धनोपार्जन करने के नियम बनाते हैं जिन्हें सीखवकर लोग धनवान हो जायं। सच्चा शास्त्र न्यायबुद्धि का है। प्रत्येक प्रकार की स्थिति में न्याय किस प्रकार किया जाय, नीति किस प्रकार निबाही जाय-जो राष्ट्र इस शास्त्र को सीखता है वही सुखी होता है, बाकि सब बातें वृथा प्रयास हैं, 'विनाशकाले विपरीतबुद्धि:' के समान हैं। लोगों को जैसे भी हो सके पैसा पैदा करने की शिक्षा देना उन्हें उलटी अकल सिखाने-जैसा ही है।

४. सत्य क्या है ?

पिछले तीन प्रकरणों में हम देख चुके कि अर्थशास्त्रियों के जो साधारण नियम माने जाते हैं वे ठीक नहीं हैं। उन नियमों के अनुसार आचरण करने पर व्यक्ति और समाज दोनों दुखी होते हैं, गरीब अधिक गरीब बनता है और पैसे वाले के पास अधिक पैसा जमा होता है फिर भी दोनों में से एक भी सुखी होता या रहता नहीं।

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुखका आधार केवल धन को बताते हैं। इसलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना अधिक धन इकट्ठा हो सके उतना ही अच्छा है। इस तरह के विचारों के प्रचार के कारण इंग्लैण्ड और दूसरे देशों में कारखाने बढ़ गए हैं। बहुत से आदमी शहरों में जमा होते हैं और खेती बाड़ी छोड़ देते हैं। बाहर की सुंदर स्वच्छ वायु को छोड़कर करखानों की गंदी हवा में रात-दिन सांस लेने में सुख मानते हैं। लोभ बढ़ता जा रहा है और अनीति फैलती जा रही है। और जब हम अनीति को दूर करने की बात उठाते हैं तब बुद्धिमान कहलाने वाले लोग कहते हैं कि अनीति दूर नहीं हो सकती, अज्ञानियों को एकदम ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए जैसा चल रहा है वैसा ही चलने देना चाहिए। यह दलील देते हुए वे यह बात भूल जाते हैं कि गरीबों की अनीति का कारण धनवान हैं। उनके भोग-विलास का सामान जुटाने के लिए गरीब रात-भर मजदूरी करते हैं, उन्हें कुछ सीखने या कोई अच्छा काम करने के लिए एक पल भी नहीं मिलता। धनिकों को देखकर वे भी धनी होना चाहते हैं। धनी न हो पाने पर खिन्न होते हैं, झुंझलाते हैं। पीछे विवेक खोकर अच्छे रास्ते से धन न मिलता देख दगा-फरेब से पैसा कमाने का वृथा प्रयास करते हैं। इस तरह पैसा और मेहनत दोनों बर्बाद हो जाते हैं, या दगा-फरेब फैलाने में उनका उपयोग होता है।

वास्तव में सच्चा श्रम वही है जिससे कोई उपयोगी वस्तु उत्पन्न हो। उपयोगी वह है जिससे मानवजाति का भरण-पोषण हो । भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थिर रहकर आजीवन सत्कर्म करता रहे। इस दृष्टि से विचार करने से बड़े-बड़े आयोजन बेकार माने जायंगे। संभव है कि कल कारखाने खोलकर धनवान होने का मार्ग ग्रहण

करना पापकर्म मालूम हो। पैसा पैदा करने वाले बहुतेरे मिलते हैं, पर उसका यथाविधि उपयोग करने वाले कम पाये जाते हैं। जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखाई देता है।

लोग कहते हुए दिखाई देते हैं कि दूसरों को सुधारना, ज्ञान देना असंभव है, इसलिए जिस तरह ठीक मालूम हो उस तरह रहना और धन बटोरना चाहिए। ऐसा कहने वाले स्वयं नीति का पालन नहीं करते; क्योंकि जो आदमी नीति का पालन करता है और लोभ में नहीं पड़ता वह पहले तो अपने मन को स्थिर रखता है, वह स्वयं सन्मार्ग से विचलित नहीं होता और अपने कार्य से ही दूसरों पर प्रभाव डालता है। जिनसे समाज बना है वे स्वयं जब तक नैतिक नियमों का पालन न करें तब तक समाज नीतिवान कैसे हो सकता है ? हम खुद तो मनमाना आचरण करें और पड़ोसी की अनीति के कारण उसके दोष निकालें तो इसका अच्छा परिणाम कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार विचार करने से हम देख सकते हैं कि धन साधनमात्र है और उससे सुख तथा दु:ख दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनाने वाला राष्ट्र और जिसपर इनका प्रयोग होता है वे दोनों हानि उठाते और दु:ख पाते हैं।

इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही धन है। जिस राष्ट्र में नीति है वह धनसंपन्न है। यह जमाना भोग-विलास का नहीं है। हरेक आदमी को जितनी मेहनत-मजदूरी हो सके उतनी करनी चाहिए। पिछले उदाहरण में हम देख चुके हैं कि जहां एक आदमी आलसी रहता है वहां दूसरे को दूनी मेहनत करनी पड़ती है। इंग्लैण्ड में जो बेकारी फैली हुई है उसका यही कारण है। कितने ही लोग धन पास हो जाने पर कोई उपयोगी काम नहीं करते, अत: उनके लिए दूसरे आदमियों को परिश्रम करना पड़ता है। यह परिश्रम उपयोगी न होने के कारण काम करने वाले का इसमें लाभ नहीं होता। ऐसा होने से राष्ट्र की पूंजी चट जाती है। इसलिए ऊपर से यद्यपि यही मालूम होता है कि लोगों को काम मिल रहा है, परन्तु भीतर से जांच करने पर मालूम होता है कि अनेक आदमियों को बेकार बैठना पड़ रहा है।

पीछे ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है, असंतोष की जड़ जमती है और अंत में मालदार-गरीब, मालिक-मजदूर दोनों अपनी मर्यादा त्याग देते हैं। जिस तरह बिल्ली और चूहे में सदा अनबन रहती है उसी तरह अमीर और गरीब, मालिक और मजदूर में दुश्मनी हो जाती है और मनुष्य मनुष्य न रहकर पशु की अवस्था में पहुंच जाता है।

५. सारांश

महान् रस्किन के लेखों का खुलासा हम दे चुके। ये लेख यद्यपि कितने ही पाठकों को नीरस मालूम होंगे, तथापि जिन्होंने इन्हें एक बार पढ़ लिया हो उनसे हम फिर पढ़ने की सिफारिश करते हैं। 'इंडियन ओपीनियन'[१] के सब पाठकों से यह आशा रखना कि वे इनपर विचार कर इनके अनुसार आचरण करेंगे शायद बहुत बड़ी अभिलाषा कही जाय। पर यदि थेड़े पाठक भी इनका अध्ययन कर इनके सार को ग्रहण करेंगे तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे। ऐसा न हो सके तो भी रस्किन के अंतिम परिच्छेद के अनुसार हमने अपना जो फर्ज अदा कर लिया, उसी में फल का समावेश हो जाता है। इसलिए हमें तो सदा ही संतोष मानना उचित है।

रस्किन ने जो बातें अपने भाइयों-अंग्रेजों के लिए लिखी हैं वे अंग्रेजों के लिए यदि एक हिस्सा लागू होती हैं तो भारतवासियों के लिए हजार हिस्से लागू होती हैं। हिन्दुस्तान में नए विचार फैल रहे हैं। आजकल के पाश्चात्य शिक्षा पाए हुए युवकों में जोश आया है, यह तो ठीक है; पर जोश का अच्छा उपयोग होने से अच्छा और बुरा होने पर बुरा परिणाम होता है। एक ओर से यह आवाज उठ रही है कि स्वराज प्राप्त करना चाहिए और दूसरी ओर से यह आवाज आ रही है कि विलायत-जैसे कारखाने खोलकर तेजी के साथ धन बटोरना चाहिए।

स्वराज क्या है, इसे हम शायद ही समझते हों, नेटालमें स्वराज है, पर हम कहते हैं कि नेटाल में जो हो रहा है हम भी वही करना चाहते हों तो ऐसा स्वराज नरक-राज है। नेटाल वाले काफिरों को कुचलते हैं, भारतीयों के प्राण हरण करते हैं। स्वार्थ में अंधे होकर स्वार्थराज भोग रहे हैं। यदि काफिर और भारतीय नेटाल से चले जायं तो वे आपस ही में कट मरें।

तब क्या हम ट्रांसवाल-जैसा स्वराज प्राप्त करेंगे ? जनरल स्मट्स उसके नायकों में से एक हैं। वह अपने लिखित या जबानी दिए हुए वचनों का पालन नहीं करते। कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। अंग्रेज उनसे ऊब उठे हैं। रुपया बचाने के बहाने उन्होंने अंग्रेज सैनिकों की लगी रोजी छीनकर उनके स्थान में डच लोगों को रखा है। हम नहीं मानते के इससे अंत में डच भी सुखी होंगे। जो लोग स्वार्थ पर

दृष्टि रखते हैं वे पराई जनता को लूटने के बाद अपनी जनता को लूटने के लिए सहज ही तैयार हो जायंगे।

संसार के समस्त भागों पर दृष्टि डालनें से हम देख सकते हैं कि जो राज स्वराज के नाम से पुकारा जाता है, वह जनता की उन्नति और सुख के लिए पर्याप्त नहीं है। एक सीधा उदाहरण लेकर हम आसानी से इस बात को देख सकते हैं। लुटेरों के दल में स्वराज हो जाने से क्या फल होगा, यह सभी जान सकते हैं। उनपर किसी ऐसे मनुष्य का अधिकार हो जो स्वयं लुटेरा न हो, तभी वे अंत में सुखी हो सकते हैं। अमरीका, फ्रांस, इंग्लैण्ड सभी बड़े-बड़े राज्य हैं, पर यह मानने के लिए कोई आधार नहीं कि वे सचमुच सुखी हैं।

स्वराज का वास्तविक अर्थ है अपने ऊपर काबू रख सकना। यह वही मनुष्य कर सकता है जो स्वयं नीतिका पालन करता है, दूसरों को धोखा नहीं देता, माता-पिता, स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर, पड़ौसी सबके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। ऐसा मनुष्य चाहे जिस देश में हो, फिर भी स्वराज भोग रहा है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्यों की संख्या अधिक हो उसे स्वराज मिला हुआ ही समझना चाहिए।

एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर शासन करना साधारणतः बुरा कहा जा सकता है। अंग्रेजों का हमपर राज करना एक उल्टी बात है, परन्तु यदि अंग्रेज भारत से कूच कर जायं तो मानना चाहिए कि भारतीयों ने कोई बहुत बड़ा काम कर लिया। वे हमपर राज्य करते हैं, इसका कारण खुद हम ही हैं। हमारी फूट, हमारी अनीति और हमारा अज्ञान इसका कारण है। ये तीन बातें दूर हो जायं तो हमें एक उंगली भी न उठानी होगी और अंग्रेज चुपचाप भारत से चले जायंगे। यही नहीं, हम भी सच्चे स्वराज को भोग सकते हैं।

बमबाजी से बहुत से लोग खुश होते दिखाई देते हैं। यह केवल अज्ञान और नासमझी की निशानी है। यदि सब अंग्रेज मार डाले जा सकें तो उन्हें मारने वाले ही भारत के मालिक बनेंगे। अर्थात् भारत दास ही रहेगा। अंग्रेजों का नाश करने वाले बम अंग्रेजों के चले जानेपर भारतीयों पर बरसेंगे। फ्रांस के प्रजातंत्र के अध्यक्ष--राष्ट्रपति--को मारने वाला फ्रेंच ही था। अमरीका के राष्ट्रपति क्लीवलैंड को मारने

वाला एक अमरीकन ही था। इसलिए हमें उचित है कि हम लोग उतावली करके बिना विचारे पाश्चात्य राष्ट्रों का अंधानुकरण कदापि न करें।

जिस तरह पापकर्म से-अंग्रेजों को मारकर सच्चा स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता, उसी तरह भारतमें कारखाने खोलने से भी स्वराज नहीं मिलने का। रस्किन ने इस बात को पूरी तरह साबित कर दिया है कि सोना-चांदी एकत्र हो जानेसे कुछ राज्य नहीं मिल जाता। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिम में सुधार हुए अभी सौ ही वर्ष हुए हैं। बल्कि सच पूछिए तो पचास ही कहे जाने चाहिए। इतने ही दिनों में पश्चिम की जनता वर्णसंकर-सी होती दिखाई देने लगी है। हमारी यही प्रार्थना है कि यूरोपकी-सी अवस्था भारत की कदापि न हो। यूरोप के राष्ट्र एक-दूसरे पर घात लगाए बैठे हैं। केवल अपनी तैयारी में लगे होनेके ही कारण सब शांत हैं। किसी समय जब जोरोंकी आग लगेगी तब यूरोप में नरक ही दिखाई देगा। यूरोप का प्रत्येक राज्य काले आदमियों को अपना भक्ष्य मान बैठा है जहां केवल धन का ही लोभ है वहां कुछ और हो ही कैसे सकता है ? उन्हें यदि एक भी देश दिखाई देता है तो वह उसी तरह उसपर टूट पढ़ते हैं जिस तरह चील और कौवे मांसपर टूटते हैं। इस प्रकार सब उनके कारखानों के ही कारण होता है, यह मानने के लिए हमारे पास कारण है।

अंत में भारत को स्वराज मिले, यह समस्त भारतवासियों की पुकार है और यह उचित ही है; परन्तु स्वराज हमें नीति-मार्गसे प्राप्त करना है। वह नामका नहीं, वास्तविक स्वराज होना चाहिए। ऐसा स्वराज नाशकारी उपायों से नहीं मिल सकता। उद्योग की आवश्यकता है; पर उद्योग सच्चे रास्ते से होना चाहिए; भारतभूमि एक दिन स्वर्णभूमि कहलाती थी, इसलिए कि भारतवासी स्वर्णरूप-से थे। भूमि तो वही है, पर आदमी बदल गए हैं, इसलिए यह भूमि उजाड़-सी हो गई है। इसे पुन: सुवर्ण बनाने के लिए हमें सद्गुणों द्वारा स्वर्णरूप बनना है । हमें स्वर्ण बनाने वाला पारसमणि दो अक्षरों में अंतर्निहित है और वह है 'सत्य' । इसलिए यदि प्रत्येक भारतवासी 'सत्य' का ही आग्रह करेगा तो भारत को घर बैठे स्वराज मिल जायगा।

---

१. इस नामका गुजराती-अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र महात्माजीने दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय डरबन से निकाला था। अब भी निकल रहा है।

मंगल प्रभात

(व्रत-विचार)

मंगल प्रभात

१. सत्य

प्रात: काल की प्रार्थना के बाद

२२-७-३०

हमारी संस्था का मूल ही 'सत्य' का आग्रह है, इसलिए पहले सत्य को ही लेता हूं।

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्तिसत्य अर्थात् अस्तित्व । सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है, यह कहने की अपेक्षा 'सत्य' ही परमेश्वर है कहना अधिक योग्य है। हमारा काम राजकर्त्ता के बिना, सरदार के बिना नहीं चलता। इस कारण परमेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन विचारने पर तो लगेगा कि 'सत' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करनेवाला है।

सत्य के साथ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान-अवश्यंभावी है। जहां सत्य नहीं है और शुद्ध ज्ञान की संभावना नहीं है। इससे ईश्वर नाम के साथ चित् अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। सत्य के शाश्वत होने के कारण आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण ईश्वर को हम सच्चिदानन्द के नाम से भी पहचानते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छवास होना चाहिए। ऐसा करना सीख जाने पर दूसरे सब नियम सहज में हमारे हाथ लग सकते हैं। उनका पालन भी सरल हो जा सकता है। सत्य के बिना किसी भी नियम का शुद्ध पालन अशक्य है।

साधारणत: सत्य का अर्थ सच बोलनामात्र ही समझा जाता है; लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है इस सत्य को संपूर्णत: समझनेवाले के लिए जगत में और कुछ जानना बाकी नहीं रहता; क्योंकि हम ऊपर विचार कर आए हैं कि सारा ज्ञान उसमें समाया हुआ है। उसमें जो न समाय, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है। तब फिर उससे सच्चा आनन्द तो हो ही कहाँ से सकता है ? यदि हम इस कसौटी का उपयोग करना

सीख जायँ तो हमें यह जानने में देर न लगे कि कौन प्रवृत्ति उचित है, कौन त्याज्य ? क्या देखने योग्य है, क्या नहीं ? क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारसमणि-रूप, कामधेनुरूप सत्य पाया कैसे जाय? इसका जवाब भगवान ने दिया है--अभ्यास और वैराग्य से। सत्य की ही घालमेल अभ्यास है। उसके सिवा अन्य सब वस्तुओं में आत्यंतिक उदासीनता वैराग्य है। फिर भी हम पायेंगें कि एक के लिए जो सत्य है, दूसरे के लिए वह असत्य हो सकता है| इसमें घबराने की बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न जाने पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर ही क्या हर आदमी को भिन्न दिखाई नहीं देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, अत: जिसे जो सत्य लगे तदनुसार वह बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। फिर उसमें भूल होगी भी तो वह अवश्य सुधर जायगी; क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है अर्थात् आत्मकष्ट - सहन की बात होती है। उसके पीछे मर-मिटना होता है, अत: उसमें स्वार्थ की तो गंध तक भी नहीं होती। ऐसी नि:स्वार्थ खोज में लगा हुआ आज तक कोई अंत पर्यंत गलत रास्ते पर नहीं गया। भटकते ही वह ठोकर खाता है और फिर सीधे रास्ते चलने लगता है।

सत्य की आराधना भक्ति है और भक्ति 'सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा' है, अथवा वह 'हरि का मार्ग' है जिसमें कायरता की गुंजाइश नहीं है, जिसमें हार नाम की कोई चीज है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीने का मंत्र' है। पर अब हम लगभग अहिंसा के किनारे आ पहुंचे हैं। उसपर अगले सप्ताह विचार करूंगा।

इस प्रसंग के साथ हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन-हुसेन, ईसाई संतों आदि के दृष्टांत विचारने योग्य हैं। चाहिए कि अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, खेलते-कूदते-- सारे काम करते हुए यह रटन लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष निद्रा लिया करें तो कितना अच्छा हो ? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए रत्नचिंतामणि सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हुआ है। हम सभी के लिए वैसा ही सिद्ध हो।

२. अहिंसा

मंगल-प्रभात

२९-७-३०

सत्य का, अहिंसा का मार्ग जितना सीधा है उतना ही तंग भी, खांडे की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नज़र रखकर चल सकता है, सत्य और अंहिसा की डोर उससे भी पतली है। ज़रा चूके कि नीचे गिरे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असंम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार संभव नहीं होता। अत: अन्त में श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रह ही जाती है।

इसी से अहिंसा जिज्ञासु के पल्ले पड़ी। जिज्ञासु के सामने यह सवाल पैदा हुआ कि अपने मार्ग में आने वाले संकटों को सहे यह उनके निमित्त जो नाश करना पड़े वह करता जाय और आगे बढ़े? उसने देखा कि नाश करते चलने पर वह आगे नहीं बढ़ता, दर-का-दर पर ही रह जाता है। संकट सहकर तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं है, बल्कि भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे वह पीछे रहता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

चोर हमें सताता है, उससे बचने को हमने उसे दंड दिया उस वक्त के लिए तो वह भाग गया जरूर लेकिन उसने दूसरी जगह जाकर सेंध लगाई ; पर वह दूसरी जगह भी हमारी ही है। अत: हमने अँधेरी गली में ठोकर खाई। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को कर्त्तव्य मान रखा है। इससे अच्छा तो हम यह ही पाते हैं कि चोर का उपद्रव सह लें, इससे चोर को समझ आयेगी। इस सहन से हम देखते हैं कि चोर कोई हमसे भिन्न नहीं है। हमारे लिए तो सब सगे हैं, मित्र हैं, उन्हें सजा देने की जरूरत नहीं ; लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है इससे तो कायरता पैदा होती है। अत: हमारा दूसरा विशेष धर्म सामने आया। यदि चोर अपना भाई-बिरादर है तो उसमें वह भावना पैदा करनी चाहिए। हमें उसे अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है इसमें उत्तरोत्तर दु:ख उठाने की ही बात आती है, अटूट धैर्य-शिक्षा की बात आती है। यदि यह हो जाय

तो अन्त में चोर साहुकार बन जाता है और हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। ऐसा करते हुए हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शान्ति-सुख बढ़ता है; हममें साहस, हिम्मत बढ़ती है; हम शाश्वत-आशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, हमें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक हो जाता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह के अन्दर भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जो आज हमारी दृष्टि के सामने है। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। पर हम जो कुछ खाते हैं वो जगत के लिए आवश्यक है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। फिर क्या आत्महत्या कर लें ? तो भी निस्तार नहीं है। विचार में देह के साथ संसर्ग छोड़ दें तो अंत में देह हमें छोड़ देगी । यह मोहरहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह समझकर कि देह हमारी नहीं है, वह हमें मिली हुई धरोहर है, इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मैं सरल चीज लिखना चाहता था; पर हो गई कठिन | फिर भी जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना तो सबको समझ लेना चाहिए कि अंहिसा के बिना सत्य की खोज असंभव है। अहिंसा और सत्य ऐसे ओतप्रोत हैं जैसे सिक्के के दोनों रुख, या चिकनी चकती के दो पहलू। उसमें किसे उलटा कहें, किसे सीधा ? फिर भी अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन अपने हाथ की बात है। इससे अहिंसा परम-धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिंता करते रहने पर साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय करना, जग जीत लेना है। हमारे मार्ग में चाहे जो संकट आयें बाह्य दृष्टि से देखने पर हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मंत्र जपना चाहिए-- सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग है, एक ही साधन अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ेंगे। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम पर यह प्रतिज्ञा की है, वह हमें इसके पालन का बल दे।

३. ब्रह्मचर्य

मंगल-प्रभात

५.८.३०

हमारे व्रतों में तीसरा ब्रह्मचर्य-व्रत है, वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसी के लिए उनका अस्तित्व है। जिस मनुश्य ने सत्य को वरा है उसी की उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है। फिर विकार की आराधना की तो बात ही कहां उठ सकती है ? जिसकी कुल प्रवृत्तियां सत्य के दर्शन के लिए हैं, वह संतानोत्पति के काम में या घर-गृहस्थी चलाने के झगड़े में पड़ ही कैसे सकता है ? भोगविलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आज तक हमारे सामने एक भी मिसाल नहीं है।

अथवा अहिंसा के पालने को लें तो उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम । जहां पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया वहां उसके पास दूसरे के लिए क्या बच रहा ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नी-व्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्त्र होने को तैयार होगा। अत: यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन नहीं हो सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्ब नहीं बना सकता, क्योंकि उसके पास 'अपना' माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। उसकी जितनी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेय होता है। इसके उदाहरण हम सारे संसार में देख रहे हैं। इसलिए अहिंसा-व्रत का पालन करनेवाले से विवाह नहीं बन सकता, विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

फिर जो विवाह कर चुके हैं उनकी क्या गति होगी? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नहीं रख सकते ? हमने तो इसका रास्ता निकाल ही रखा है--विवाहित का अविवाहित की भांति हो जाना। इस दिशा में इससे बढ़कर मैंने दूसरी बात नहीं देखी। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को भाई-बहन मानने लग जायं तो सारे झगड़ों से वे मुक्त हो जाते हैं। संसार भर

की सारी स्त्रियां बहनें हैं, माताएं हैं, लड़कियां हैं-यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊंचे ले जानेवाला, बंधन में से मुक्ति देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, वरन् अपनी पूंजी में वृद्धि करते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं विकाररूपी मैल निकालने से प्रेम भी बढ़ता है। विकारों के जाने से एक-दूसरे की सेवा अधिक अच्छी हो सकती है, एक-दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहां स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुंजाइश रहती है।

इस प्रधान विचार के समझ लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ वीर्यलाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। जान-बूझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है ? वीर्य का उपयोग दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाने के लिए है। उसका विषय-भोग में उपयोग करना, यह उसका अति दुरुपयोग है। इस दुरुपयोग के कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और कर्म तीनों से होना चाहिए। व्रतमात्र के विषय में यही बात समझनी चाहिए। हम गीता में पढ़ते हैं कि जो शरीर को तो वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबका यह अनुभव है कि मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करने में हानि ही है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरुरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अंत में जीत ही है । हमारा प्रतिफल का यह अनुभव है कि शरीर काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तो तुरंत ही वंश में करने का हम सत्त प्रयत्न करते रहें तो हमने अपना कर्त्तव्यपालन कर लिया। हमारे, मन के अधीन होते ही, शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर जहाँ तक मनोविकार को दबाते ही रहते हैं वहाँ तक दोनों साथ जानेवाले हैं, ऐसा कह सकते हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन करीब-करीब असंभव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य को संकुचित अर्थ में लिया गया है। जननेंद्रिय-विकार के निरोधभर को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरे खयाल में यह व्याख्या अधुरी और गलत है। विषयमात्र

का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सन्देह, जो अन्य इन्द्रियों को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इंद्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारने वाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करने वाले के लिए इंद्रियमात्र का, उनके विकारों से रोकने का, निश्चय होना ही चाहिए। यह मुझे हमेशा लगता रहा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुकसान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत और अनुभव है कि यदि हम सब इंद्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास डालें तो जननेंद्रिय को वंश में रखने का प्रयत्न तुरंत सफल हो सकता है। इसमें मुख्य स्वादेंद्रिय है और इसलिए व्रतों में उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उसपर अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की--सत्य की--शोध में चर्या, अर्थात् तत्-सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ में से सर्वेन्द्रियसंयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेंद्रियसंयमरूपी अधूरे अर्थ को तो हमें भूल जाना चाहिए।

४. अस्वाद

मंगल-प्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्य के साथ यह व्रत बहुत निकट संबंध रखनेवाला है। मेरे अनुभव के अनुसार इसे व्रत का पालन करने में समर्थ होने पर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेंद्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाता है । साधारणतया इसे व्रतों में पृथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिए इस व्रत को पृथक् स्थान न मिला; पर यह केवल मेरा अनुमान मात्र है। ऐसा हो या न हो, हमने इस व्रत को पृथक स्थान दिया है। इसलिए इसका स्वतंत्ररूप से विचार कर लेना उचित है।

अस्वाद का अर्थ होता है स्वाद न लेना। स्वाद मानी रस। जैसे दवा के खाने में हम इसका विचार न रखते हुए कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीर को उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाण में ही सेवन करते हैं, वही बात अन्न के विषय में समझनी चाहिए। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है। इसलिए दूध-फल भी उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाण में खाने से हानि होती हैं, वही बात अन्न के बारे में है। इसलिए किसी भी वस्तु को स्वाद लेने के लिए चखना व्रत का भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तु का अधिक परिमाण में लेना तो अनायास व्रत का भंग हो गया | इससे यह समझ में आ सकता है कि किसी चीज का स्वाद बढ़ाने या बदलने के लिए अथवा उसका स्वाद-अस्वाद मिटाने को नमक मिलाना यह व्रत-भंग है। पर अमुक परिमाण में नमक की जरूरत है, यह हम जानते हों और इस वजह से उसमें नमक मिलावें तो इससे व्रत-भंग नहीं है। शरीर पोषण के लिए आवश्यकता न होने पर भी मन को ठगने के लिए आवश्यकता का आरोप करके किसी चीज का बढ़ा लेना तो मिथ्याचार माना जायगा।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम पायेंगे कि कितनी ही चीजें हम ऐसी लेते हैं जो हमारी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक न होने के कारण त्याज्य-श्रेणी में हैं और इस प्रकार अगणित वस्तुओं का अनायास त्याग हो जाने से उस मनुष्य के विकारमात्र शांत हो जायंगे। “एक हांडी तेरह व्यंजन मांगती है,” “पेट तरह-तरह के नाच नचाता है, स्वांग भरवाता है,” इन सब वचनों में बड़ा अर्थ समाया हुआ है।

इस विषय पर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से आहार का चुनाव प्राय: आशक्य हो गया है। बचपन से ही माँ-बाप झूठा लाड-चाव करके अनेक प्रकार के स्वाद करा-कराकर शरीर को बिगाड़ देते हैं और जीभ को कुतिया बना देते हैं, जिससे बड़े होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महाविकारी देखने में आते हैं। इसका कटु फल हम पद-पद पर अनुभव करते हैं। फजूल-खर्चियों में पड़ते हैं, वैद्य-डाक्टरों की खुशामदें करते हैं और शरीर तथा इंद्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बनकर अपंग की भाँति जीते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि संसार में मैने एक भी निरोगी पुरुष नहीं देखा। जरा भी स्वाद के फेर में पड़ने से शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है।

इस विचारधारा से किसी को घबराने की जरूरत नहीं है। अस्वाद-व्रत की भयंकरता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। कोई व्रत लेने का अर्थ यह नहीं होता कि हम समय से उसका पूर्णछप से पालन करने लग गए। व्रत लेने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ़ प्रयत्न मन-वचन-कर्म से, जीवन पर्यन्त करना। किसी व्रत के कठिन होने के कारण उसकी परिभाषा ढीली करके मन को धोखा नहीं देना चाहिए। अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतन्त्र रूप से जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, तथापि उसे प्राप्त करने का जी-जान से प्रयत्न करना परम अर्थ है--पुरुषार्थ है। पुरुष शब्द का अर्थ केवल नर न लेकर मूल अर्थ लेना चाहिए। पुर में अर्थात शरीर में जो रहें वह पुरुष । यह अर्थ लेने से पुरुषार्थ शब्द का प्रयोग स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हो सकता है। जो तीनों काल में सम्पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है उसे इस जगत में कुछ भी करने को नहीं है। वह भगवान है, वह मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्य का आग्रह रखनेवाले, उसकी खोज करने वाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में, धीरे-धीरे, किन्तु अतंद्रित रहकर हमें प्रयत्न करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु-प्रसाद के योग्य हो जायंगे और तब हमारे रसमात्र भस्म हो जायंगे।

अस्वाद व्रत का महत्व समझ लेने पर हमें उसके पालन के लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों धंटे खाने के बारे में ही सोचते रहने की जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानी की, जागृति की पूरी आवश्यकता रहती है ऐसा करने से थोड़े ही समय में हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वाद के फेर में

पड़ते हैं और कब शरीर-पोषण के लिए खाते हैं। वह मालूम हो जाने पर हमें दृढ़तापूर्वक स्वाद को घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर अस्वाद-वृत्ति से बनानेवाली शामिल-रसोई बहुत सहायक है। वहां हमें रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता कि क्या पकायंगे, क्या खायंगे, बल्कि जो बना और जो अपने लिए त्याज्य न हो? उसे ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसकी टीका किये बिना, संतोषपूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो उतना खाकर उठ जायं। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वादव्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा भार हल्का कर देते हैं, हमारे व्रत के रक्षक बनते हैं। स्वाद करने की दृष्टि से उन्हें कुछ न बनाना चाहिए, केवल समाज के शरीर का पोषण करने के लिए रसोई बनायें | वास्तव में तो आदर्श स्थिति में अग्नि की आवश्यकता कम-से-कम या बिल्कुल ही नहीं है। सूर्यरूपी महाअग्नि जिन चीजों को पकाती है उन्हींमें से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। इन विचारों से सिद्ध होता है कि मनुष्यों को केवल फलाहारी होना चाहिए, परन्तु यहां इतनी गहराई में उतरने की जरूरत नहीं है। यहां तो केवल इतना ही विचार करना है कि अस्वाद-व्रत क्या है, उसमें कौन-कौन-सी कठिनाइयां हैं, या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य-पालन के साथ कितना अधिक निकट संबंध है। इतना समझ, सबको यथाशक्ति इस व्रत के पालन का शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

५. अस्तेय

मंगल-प्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेय व्रत पर आते हैं। गम्भीरता से विचारने पर सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्य के गर्भ में स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं :

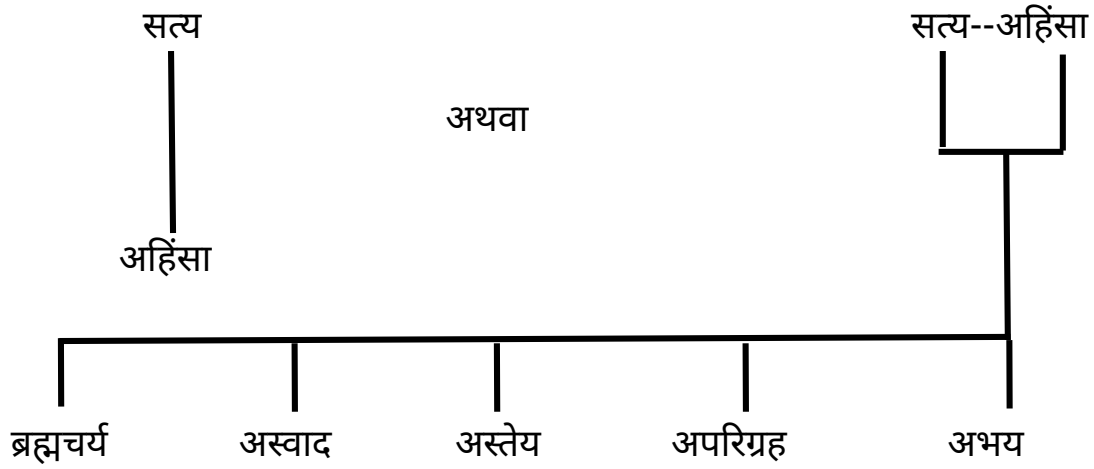

इत्यादि। चाहें तो हम इस क्रम को बढ़ा सकते हैं।

सत्य में से अहिंसा की उत्पत्ति अथवा सत्य और अहिंसा का जोड़ा मान सकते हैं। दोनों वस्तुएं एक ही हैं, तथापि मेरा मन पहले की ओर झुकता है। अंतिम स्थिति जोड़े से--द्वंद्व से-अतीत है। परम सत्य अकेला स्थित रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसा को हम जानते हैं, यद्यपि पालन कठिन है। सत्य का तो केवल अंश ही जानते हैं, पूर्णरूप से उसका जानना देही के लिए कठिन है, वैसे ही जैसे कि देही के लिए अहिंसा का पूर्ण पालन।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। चोर का सत्य को जानना या प्रेम-धर्म का पालन संभव नहीं है तथापि हम सब, थोड़ा-बहुत चोरी का दोष जाने- अनजाने करते हैं। दूसरे की चीज को उसकी आज्ञा के बिना लेना तो चोरी है ही; पर मनुष्य अपनी मानी जानेवाली चीज की भी चोरी करता है--जैसे, एक बाप अपने बच्चों को जनाये बिना, उनसे छिपाने की नीयत रखकर गुपचुप कोई चीज खा ले। आश्रम का भंड़ार हम सभी का कहलायेगा; पर उसमें से चुपके से गुड़ की एक डली भी खानेवाला चोर है।

दूसरे लड़के की कलम लेनेवाला लड़का भी चोरी करता है। सामनेवाला जानता हो तो भी, कोई चीज उसकी आज्ञा के बिना लेना चोरी है। लावारिस समझकर कोई चीज लेने में भी चोरी है। पडुआ (राह में पड़ी चीज) के मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेश का राज्य या वहां की सरकार है। आश्रम के नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रम के मंत्री को सौंपनी चाहिए। आश्रम की न होने पर मंत्री उसे पुलिस के हवाले करेगा।

यहांतक समझना तो अपेक्षाकृत सरल है; पर अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। एक चीज की जरूरत न होते हुए, जिसके अधिकार में वह है उससे, चाहे उसकी आज्ञा लेकर ही लें, तो वह भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में ज्यादा-से-ज्यादा खाने की चीजों के संबंध में होती है। मुझे अमुक फल की जरूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे खाता हूं या जरूरत से ज़्यादा खाता हूं तो यह चोरी है। वस्तुत: अपनी आवश्यकता की मात्रा को मनुष्य हमेशा जानता नहीं है और प्राय: हम सब, अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताते और इससे अनजाने चोर बन जाते हैं। विचारने पर मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी जरूरतों को घटा सकते हैं। अस्तेय-व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएं कम करता जायगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय के भंग से पैदा हुई है।

ऊपर बताई गई सब चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इसमें सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना या उसपर झूठी नज़र डालना चोरी है। सयाने या बच्चे का, किसी अच्छी चीज को देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। उपवासी व्यक्ति शरीर से तो नहीं खाता पर दूसरों को खाते देख कर यदि वह मनसे स्वाद लेता है तो चोरी करता और अपना उपवास भंग करता है। जो उपवासी मन से उपवास के बदले भोजन के मनसूबे करता रहता है, उसके लिए कहेंगे कि वह अस्तेय और उपवास का भंग करता है। अस्तेयव्रत का पालनकर्त्ता भविष्य में मिलनेवाली चीजों के चक्कर में नहीं पड़ता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा पाई जायगी। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है, कल उसे पाने को हम भले-बुरे तरीके काम में लाते हैं।

वस्तु की भांति ही विचारों की चोरी भी होती है। अमुक उत्तम विचार हमें नहीं सूझता, पर अहंकारपूर्वक यह कहना कि हमें ही वह पहले सूझा, विचार की चोरी करना है। संसार के इतिहास में ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी की और आज भी कर रहे हैं। मान लीजिये कि मैंने आंध्र में नए ढंग का एक चरखा देखा, वैसा चरखा मैं आश्रम में बनाऊं और फिर कहूं कि यह तो मेरा आविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से दूसरे के अकविष्कारकी चोरी करता हूं और इसमें असत्य का आसरा तो लेता ही हूं। अत: अस्तेयव्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बड़ी सादगी से रहने की जरूरत पड़ती है।

६. अपरिग्रह

मंगल-प्रभात

२६-८-३०

अपरिग्रह को अस्तेय से संबंधित समझना चाहिए। वास्तव में चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का-सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-की-रोज पैदा करता है। अत: यदि हमारा उसपर विश्वास है तो हमें समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-की-रोज देता है, देगा। औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है। रोज के कामभर का रोज पैदा करने के ईश्वरीय नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अत: जगत में विषमता और उससे होनेवाले दु:ख भोगते हैं। धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकताभर को ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरनेभर को ही पाकर सन्तोष होता दिखाई नहीं देता; परंतु कंगाल को पेटभर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अत: उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के कामभर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। आदर्श, आत्यंतिक अपरिग्रह तो उसीका कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहांतक कि वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है। अन्न तो उसे रोज की जरूरत भर को भगवान देता रहेगा। इस अवधूत स्थिति को तो बिरले ही पहुंच सकते हैं। हम मामूली दर्जे के सत्याग्रह के जिज्ञासुओं को तो चाहिए कि आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जांच करते रहें और जहांतक बने उसे घटाते रहें। सच्चे सुधार का; सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवा-शक्ति बढ़ती है। इस दृष्टि से विचारने और बरतने

पर हमें मालूम होगा कि आश्रम में हम लोग बहुत-सा संग्रह ऐसा करते हैं कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पड़ोसी को चोरी करने के लालच में फंसाते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचारिये तो शरीर भी परिग्रह है। भोग की इच्छा के कारण हमने शरीर का आवरण ले लिया और उसे कायम रखा है। भोगेच्छा के अत्यंत क्षीण हो जाने पर शरीर की जरूरत नहीं रह जाती। सर्वव्यापक आत्मा शरीररूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकती है ? यह पिंजड़ा बनाये रखने को अनर्थ कैसे कर सकता है ? दूसरे को कैसे मार सकता है ? यों विचार करते हुए हम आत्यंतिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर की स्थितिपर्यंत उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहांतक कि सेवा ही उसकी वास्तविक खुराक हो जाती है। उसका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-ऊंधना सब सेवा के लिए ही होता है। इससे उत्पन्न सुख ही सच्चा सुख है। इस प्रकार बरतनेवाला मनुष्य अन्त में सत्य की झांकी करेगा। इस दृष्टि से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार कर लेना चाहिए।

यह याद रखें कि वस्तुओं की भांति विचार का भी परिग्रह होना चाहिए। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भर लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हों अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों वे सब परिग्रह के अन्दर आते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। भगवान की तेरहवें अध्याय में दी हुई ज्ञान की यह परिभाषा हमें ख्याल में लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि गिनाकर कहा गया कि उससे भिन्न सब अज्ञान है। यदि यह वचन सत्य हो और सत्य है ही--तो हम आज जो बहुत-कुछ ज्ञान के नाम से संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बदले हानि होती है; दिमाग फिर जाता है, अंत में खाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ बढ़ते हैं। इससे यह मतलब नहीं कि मंदता अभीष्ट है। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए; पर वह प्रवृत्ति होनी चाहिए सात्विक, सत्य की ओर ले जानेवाली। जिसने सेवा-धर्म स्वीकार किया है, वह क्षणभर भी सुस्त नहीं रह सकता। यहां तो सारासार का विवेक सीखने की बात है। सेवा-परायण को यह विवेक सहज प्राप्त होता है।

७. अभय

मंगल-प्रभात

२-९-३०

सोलहवें अध्याय में दैवी संपद् का वर्णन करते हुए भगवान ने इसकी गिनती सबसे पहले की है। इस विवाद में मैं नहीं पड़ता कि ऐसा श्लोक की संगति के सुविधार्थ या अभय को प्रथम स्थान देने के औचित्य की दृष्टि से है। न यह निर्णय करने की मुझमें योग्यता है। मेरी समझ में अभय को अनायास प्रथम स्थान मिल गया हो तो भी वह उसके योग्य है। अभय के बिना दूसरी संपत्तियां नहीं मिल सकतीं | अभय के बिना सत्य की खोज कैसे हो सकती है ? अभय के बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है, वहां कायर का काम नहीं है। सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक । वीर के मानी हैं भयमुक्त, तलवार आदि लटकानेवाला नहीं। तलवार शूरता का चिन्ह नहीं; बल्कि भीरूता की निशानी है।

भय के मानी हैं बाहरी भयमात्र से मुक्ति-मौत का भय, धन-दौलते लूट जाने का भय, कुटुम्ब-परिवार-विषयक भय, रोग भय, शस्त्र-प्रहार का भय। प्रतिष्ठा का भय, किसी का बुरा मानने का भय। भय की यह पीढ़ी चाहे जितनी लम्बी बढ़ाई जा सकती है। साधारणत: कहा जाता है कि सिर्फ एक मृत्यु-भय को जीत लिया तो सब भयों को जीत लिया; परंतु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, तथापि अन्य प्रकार के दु:खों से भागते हैं। कुछ मरने को तैयार होने पर भी सगे-सबंधियों का वियोग सहन नहीं कर सकते। कोई कंजूस इनकी परवा नहीं करेगा, देह छोड़ देगा; पर बटोरा हुआ धन छोड़ते घबरायेगा। कोई होगा जो अपनी कल्पित मान-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने को तैयार हो जायगा और कर डालेगा। कोई संसार की निन्दा के भय से, जानते हुए भी, सीधा मार्ग ग्रहण करने में हिचकिचायेगा। सत्य की खोज करनेवाला तो समस्त भयों को तिलांजलि दिये बिना ही निस्तार है। उसकी हरिश्चन्द्र की भांति मिट जाने की तैयारी होनी चाहिए। भले ही हरिश्चन्द्र की कथा कल्पित हो; पर आत्मार्थी मात्र का यह अनुभव है। अत: उस कथा की कीमत किसी भी ऐतिहासिक कथा से अनंत गुनी अधिक है और वह सबके लिए संग्रहणीय तथा माननीय है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो वही पा सकता है जिसे आत्म-साक्षात्कार हो गया हो। अभय मोह-रहित स्थित की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से, सतत प्रयत्न से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भ में ही कहा है कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति पानी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरकर ही चलना है। काम-क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। इसे जीत लेने से बाहरी भयों का उपद्रव अपने-आप मिट जाता है। भयमात्र देह के कारण है। देहविषयक राग दूर हो जाने से अभय सहज में प्राप्त हो सकता है। इस दृष्टि से मालूम होता है कि भयमात्र हमारी कल्पना की उपज है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहां ? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'-यह रामबाण वचन है। कुटुंब, धन, देह ज्यों-के त्यों रहें, कोई आपत्ति नहीं, इनके बारे में अपनी कल्पना बदल देनी है। यह 'हमारे' नहीं, वह 'मेरे' नहीं है; यह ईश्वर के हैं, 'मैं' उसीका हूं: 'मेरी' कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं है, फिर मुझे भय किसके लिए हो सकता है ? इसलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने भर की ताकत और सामग्री दे देगा। इस प्रकार स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायं, शून्यवत् होकर रहें तो सहज में भयमात्र को जीत लें, सहज में शांति पा जायं, सत्यनारायण के दर्शन प्राप्त कर लें।

८. अस्पृश्यता-निवारण

मंगल-प्रभात

९-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रत की भांति नया है और कुछ विचित्र भी लगता है; पर जितना विचित्र है उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता यानी छुआ-छूत। यह चीज जहां-तहां धर्म में, धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती है और धर्म को कलुषित करती रहती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है तो अछूत कोई नहीं। जैसे भंगी, चमार अछूत माने जाते हैं; पर अछूत नहीं है, वैसे मृतक (लाश)भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मुर्दे को छूने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने-बनवाने के बाद हमारा नहाना सिर्फ स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है मुर्दे को छूकर या तेल लगाकर न नहानेवाले को गंदा भले ही कहिये, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चे का मैला उठाने पर माता जबतक न नहाये या हाथ-पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छू ले तो वह छुआता नहीं, न उसकी आत्मा मलिन हो जाती। पर भंगी, चमार आदि नाम ही तिरस्कार-सूचक हो गये हैं और वह जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने चाहे मानों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, चाहे वैष्णव का-सा भेस रखता हो, माला-कंठी धारण करता हो, चाहे वह नित्य गीतापाठ करता हो और लेखक का पेशा करता हो, तथापि है अछूत। इसे धर्म मानना या ऐसा बर्ताव होना धर्म नहीं है, यह अधर्म है और नाश के योग्य है। हम अस्पृश्यता-निवारण को व्रत में स्थान देकर यह मानते हैं कि अस्पृश्यता-छुआछूत हिन्दू-धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, उसका परम कर्त्तव्य है। अत: उसे पाप माननेवालों को चाहिए कि उसका प्रायश्चित करें। अधिक कुछ न हो तो प्रायश्चित रूप से भी धर्म समझकर हिन्दू को चाहिए कि प्रत्येक अछूत माने जानेवाले भाई-बहन को अपनावे, प्रेमपूर्वक सेवाभाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपनेको पवित्र हुआ समझें । अछूत के दुख: दूर करें। कुचले जाने के कारण उसमें पैठे हुए अज्ञानादि दोषों को धैर्यपूर्वक दूर करने में उन्हे सहायता दें और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा करने को राजी करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता को इस दृष्टि से देखते हुए उसे दूर करने में होनेवाले ऐहिक या राजनैतिक परिणामों को व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम हों या न हों,

तथापि अस्पृश्यता-निवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला व्यक्ति धर्म समझकर अछूत गिने जानेवालों को अपनायेगा। सत्यादि का आचरण करते हुए हमें ऐहिक फल का विचार नहीं करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारी के लिए कोई युक्ति नहीं है। वह तो उसके शरीर से लगी हुई वस्तु है; उसका स्वभाव है। इसी तरह अस्पृश्यता की बुराई समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी चमार कहलानेवाले लोगों तक ही सीमित रही हो सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि पहले राई के दाने के बराबर लगती है, फिर पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अंत में जिसमें प्रवेश करती है उसका नाश करती रहती है। यही बात छुआछत के सम्बंध में भी हैं। यह छुआछूत विधर्मियों के प्रति आई है, अन्य सम्प्रदायों के प्रति आई है, एक ही सम्प्रदायवालों के बीच भी घुस गई है, और यहांतक कि कुछ लोग तो छुआछूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भाररूप हो गये हैं। वे अपने-आपको संभालने, पालने-पोसने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपने को पूजने लग गये हैं। अतः अस्पृश्यता-निवारण करनेवाला भंगी, चमार को अपनाकर ही संतोष न मानेगा, वह जीवमात्र को अपने में न देखने तक और अपने को जीवमात्र में न होने तक शांत न होगा। अस्पृश्यता दूर करने का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से अस्पृश्यता-निवारण अंहियस का जोड़ा बन जाता है और वास्तव में है भी। अहिंसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम | अस्पृश्यता-निवारण का यही अर्थ है । जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यता-निवारण हैं। अस्पृश्यता को यों देखने पर अवश्य यह दोष थोड़े-बहुत अंशों में संसार-भर में फैला हुआ है; पर यहां हमने, उसका हिन्दूधर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है, क्योंकि हिन्दूधर्म में उसने धर्म का स्थान ले लिया है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की स्थिति गुलामों-सरीखी कर डाली है।

९. कायिक श्रम

मंगल-प्रभात

१६-९-३०

कायिक श्रम के मनुष्य-मात्र के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। कायिक श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दष: अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किये बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो भी हो हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है ? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसीके खाना डाल देने पर खाय तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर । तो फिर यह प्रश्न अपने-आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभीको अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। और संसार के अरबो नब्बे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शांति और कितना अरोग्य फैले ! यदि खेतों के साथ बुद्धिका मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं । इसके सिवा यदि कायिक श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चता की गंध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गई हैं। मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक

हो गया है और गरीब अमीर से इर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनीवर्ग रह जायगा वह अपनेको मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यत: केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है उसके लिए तो कायिक श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम, वास्तव में देखा जाय तो, खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगीरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है। मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया। ठहरानेवाले ने हमपर उपकार तो नहीं ही किया हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे कायिक श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रुप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने । बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो जो बूढ़े, अपंग न होंगे और रोग के होने की बात ही कया है ?

१०. सर्वधर्म-समभाव-१

मंगल-प्रभात

२३-९-३०

हमारे व्रतों में सहिष्णुता के नाम से परिचित व्रत को यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसंद था, पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काका साहब को भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जंचा। दूसरे धर्मों को सहने की भावना में उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अंहिसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म का अपूर्णता-स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते; क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उनका आग्रह करतें है। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गई है। यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नही है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लेते हैं तो फिर किसी को ऊंच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें; बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ग्राह्य अंश को अपने धर्म में लेते संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि वैसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ मनुष्य लगाता है। किस का अर्थ सच्चा माना जाय ? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक वह दृष्टि बनी है तब-तक, सच्चे

हैं। पर झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती, बल्कि स्वधर्मविशयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हेसारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं | धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराल मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहां धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहां तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धांत एक ही हैं। सभी में सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में, और धर्मियों--मनुष्य के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें, कुछ अन्तर है। मनुष्यमात्र--दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति वह कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है ? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है पर मनुष्य-देह अगणित हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का; पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

११. सर्वधर्म-समभाव-२

मंगल-प्रभात

३०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहां और विस्तार से लिखना चाहता हूं। अपना कुछ अनुभव लिख दूं तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहां की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहां हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्राय: उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को 'मनेवालुं-वहालुं दादा रामजी नुं नाम' (मुझे रामनाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम-सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लास में बोल उठे, "'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न।" गवाने और गाने वालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानों वह बिलकुल स्वाभाविक हो । और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और वह न होते तब भी, कभी-कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्व. दाऊद सेठ का पुत्र हुसैन तो आश्रम में बहुत बार रहता। वह प्रार्थना में उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग-दुनिया चंद रोज' गाया करता और वह भजन हम-सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थना में गाया जाता था। हमारे यहां की आश्रम-भजनावली में उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेन की स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परता से सत्य का आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रम में अकसर आते-जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव-जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव-जन' के स्थान पर 'क्रिश्चियन जन तो तेने कहिए' अलाप दिया सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफ के आनन्द का पारावार न रहा। आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मपुस्तकें उलट रहा था तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्ती, यहूदी और हिन्दू, इतनों की पुस्तकों का अपने संतोष भर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूं कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में सामभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा; परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियां ताजी करता हूं तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-

टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन् उनके ग्रन्थों को धर्म-ग्रन्थ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सबमें मूल नैतिक सिद्धांत एक-जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दु-धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता; पर अनुभव से देखता हूं कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है, यह मानने की जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं, वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियां अपने आप सुलझ जाती हैं। और जहां हमें दोष ही दिखाई दें, वहां उन्हें दरसाने में भा नम्रता और विवेक होने के कारण किसी को दु:ख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेख में मैंने कहा है कि धर्म-धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहां उद्देश्य नहीं है । यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की श्रृंखला नहीं टूट जाती ? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी संभव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे । परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं; क्योंकि अधर्म देखते हुए भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेमभाव ही होगा। इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमारी भूल हमें दिखाएगा। या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे। अन्त में विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। तो भी हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को अवश्य दूर कर देगी। दूसरे को, भूल के लिए भी, हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है। हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण-नियम का पालन करनेवाला सभी संकटों में से बच जाता है।

१२. नम्रता

मंगल-प्रभात

७-१०-३०

इसका व्रतों में पृथक् स्थान नहीं है और हो भी नहीं सकता। अहिंसा का यह अर्थ है, अथवा यों कहिये कि उसके अंतर्गत है; परन्तु नम्रता अभ्यास से प्राप्त नही होती है, वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले-पहल बनी तब मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा गया था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान देने की सूचना की थी और तब भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने वही कारण बतलाया था जो यहां लिख रहा हूं। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं है तथापि वह व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है। आवश्यक तो है ही; परन्तु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्य का अभ्यास किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बंध में, कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दम्भ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक-दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके सम्बंध में तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं लुच्चई है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनि सरीखा बनकर समाज में बैठे, पर भीतर स्वार्थ भरा हो, तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं । स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, तथापि नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विष रूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का आत्यंतिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं, अर्थात्

'कुछ नहीं' हो जायं, तो हम सब-कुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से--परमात्मा से--सत्य से--पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्यों ही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिश्योक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता-शून्यता-अभ्यास से कैसे आ सकती है ? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अंहकारी कैसे हो सकता है ? दूसरे के लिए प्राण न्यौछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायगा? उसने तो जब प्राण न्यौछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता न कहलाएगी ? हिन्दू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह आलस्य को, पाखंड को स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परंतु वह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है, अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अतंद्रित हो गया-हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्र में रहने वाले बिंदु के लिए अराम कहां ? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बंध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया; आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महाअशांति में शांति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवनमात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखता है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार । इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभवगम्य है वह। जिसने सर्वार्पण किया है, उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करने के उद्देश्य से ही हम लोग आश्रम में एकत्र हुए हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियां यह अनुभव करने के लिए ही हैं । यह-वह करते-करते किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। केवल उसीको खोजने जाने से वह प्राप्त नहीं है।

१३. स्वदेशी

प्रवचनों में 'स्वदेशी' पर लिखने का विचारत्याग ही दूंगा; क्योंकि इससे, मैंने राजनैतिक विषयों को न छेड़ने का जो संकल्प किया है उसमें कुछ बाधा पड़ सकती है। स्वदेशी पर केवल धार्मिक दृष्टि से लिखते भी कुछ ऐसी बातें लिखनी होंगी कि जिनका राजनैतिक विषयों से परोक्ष सम्बन्ध है।

१४. स्वदेशी व्रत

स्वदेशीव्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या अन्य कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा, उसके पालने के लिए व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। जो स्वभावत: निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती, बल्कि आमिष देखकर उसे उलटी आवेगी।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत रहती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अंतिम अर्थ सारे स्थूल संबंधों से आत्यंतिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए परदेशी है; क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होती है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जाने और पालनेवाला देह का भी त्याग करता है

यह अर्थ सत्य हो तो हम अनायास समझ सकतें हैं कि अपने पास रहनेवालों की सेवा में ओतप्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। यह सेवा करते हुए ऐसा आभासित होना संभव है कि दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है; पर वह केवल आभास ही होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती ही है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह हो नहीं पाती और पड़ोसी की सेवा छूट जाती है | यों इधर-उधर दोनों बिगड़ते हैं। मुझपर आधार रखनेवाले कुटुंबीजन अथवा ग्रामवासियों को मैंने छोड़ा तो मुझपर उनका जो आधार था वह चला गया। सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगड़ा और अपना तो बिगड कर चला ही था। यों हर तरह से उसने नुकसान ही किया। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रखकर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसी से, 'स्वधर्म निधन श्रेय: परधर्मो भयावह:' वाक्य की उत्पति हुई है । इसका अर्थ इस प्रकार अवश्य किया जा सकता है कि 'स्वदेशी' पालते हुए मौत हो तो भी अच्छा है, परदेशी तो भयानक ही है।' स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी को समझ न पाने से ही गड़बड़ी होती है। कुटुंब पर मोह रख कर मैं उसे पोसुं, उसके लिए धन चुराऊं, दूसरे प्रपंच रचूं तो यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्वव्यापी धर्म मिल जाता है। स्वधर्म के पालने से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुंचनी चाहिए । पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं; बल्कि स्वाभिमान है, अत: वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुंब का बलिदान भी देना पड़ता है; पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुंब की सेवा होनी चाहिए। यह संभव है कि हम जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुंब को खोकर कुटुंब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गांव में महामारी हो गई। इस बीमारी के चंगुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊं और इस रोग में फंस कर मौत के मुंह में चले जायें तो मैंने कूटुंब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ मानी परमार्थ, शुद्ध स्वदेशी यानी परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचारधारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सबकी समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालने की इस युग में, इस देश में भारी आवश्यकता हो, ऐसा कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जिसके अनायास पालने से भी हिंदुस्तान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है ऐसा कौन-सा स्वदेशी धर्म हो सकता है ? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे तलवार को या अफीम के दुकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। अयोग्य रीति से जो अर्थ साधते हों उनके उस अर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे-तैसे सूत कात कर, खादी पहन-पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी

धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं जो अन्य सब सामान परदेशी भरे रहते हैं। वे स्वदेशी का पालन नहीं करते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं । स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला हमेशा अपने आस-पास निरीक्षण करेगा और जहां-जहां पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहां-जहां उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां-वहां वह दूसरा छोड़कर उसे लेगा, फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कम दर्जे की ही क्यों न हो । इसे व्रतधारी सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर, स्वदेशी खराब है इससे, परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कुएं में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महाकष्ट से ही बन सकती है वह परदेश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालनेवाला परदेशी का कभी द्वेष नहीं करेगा। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसीका द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से, अहिंसा में से पैदा हुआ सुंदर धर्म है

१५. व्रत की आवश्यकता

मंगल-प्रभात

१४-१०-३०

व्रत के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं जहां-तहां इस लेख में लिख गया होऊंगा; परन्तु व्रत जीवन के गठन के लिए कितने आवश्यक हैं, यहां इसपर विचार करना उचित प्रतीत होता है। व्रतों के संबंध में लिख चुकने के बाद अब उन व्रतों की आवश्यकता पर विचार करेंगे।

ऐसा एक सम्प्रदाय है, और वह प्रबल है, जो कहता है कि 'अमुक नियमों का पालन करना उचित है, पर उनके सम्बन्ध में व्रत लेने की आवश्यकता नहीं, इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना मन की निर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। इसके सिवा व्रत लेने के बाद यह नियम अड़चन करनेवाला या पापरूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्या है।' वे कहते हैं कि 'उदाहरण के लिए, शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए, पर कभी पी ली गई तो क्या हुआ ? दवा की भांति तो उसे पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत, यह तो गले में फंदा डालने के समान है। और जो बात शसब के बारे में है वही बात दूसरी चीजों के बारे में है। झूठ भी भलाई के लिए क्यों न बोला जाय ?' मुझे इन दलीलों में तत्त्व नहीं दिखाई देता। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिए ही तो व्रत की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता । वह राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो तो उसे त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है; पर ऐसी वस्तु के लिए कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, पर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसके संबंध में व्रत होना चाहिए। ऊपर दृष्टांत में तो पाप का आभासमात्र संभव है। सत्य कहने से किसी की हानि हो जायगी तो ? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता, उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि सत्य से इस संसार में किसी की हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्य-पान के विषय में भी यही बात है। या तो इस व्रत में दवा के लिए अपवाद रहने देना चाहिए या व्रत के पीछे शरीर के

लिए जोखिम उठाने का भी निश्चय रहना चाहिए। दवा के तौरपर भी शराब न पीने से शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीने से शरीर रहेगा ही इसका पट्टा कौन लिख सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारण से न रहा तो उसकी जवाबदेही किसके सिर होगी ? इसके विपरीत शरीर-रक्षा के लिए भी शराब न पीने के दृष्टांत का चमत्कारिक प्रभाव शराब की लत में फंसे हुए लोगों पर पड़े तो संसार का कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्म का पालन करना ही है-ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर की झांकी कर सकते हैं । व्रत लेना निर्बलता का सूचक नहीं, वरन् बल का सूचक है। अमुक बात का करना उचित है तो फिर करनी ही चाहिए, इसका नाम व्रत है और इसमें बल है। फिर इसे व्रत न कहकर किसी दूसरे नाम से पुकारें तो उसमें हर्ज नहीं है; परन्तु 'जहां तक हो सकेगा करूंगा' ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी या अभिमान का परिचय देता है भले ही उसे खुद वह नम्रता कहे । इसमें नम्रता की गंध तक नहीं है। मैंने अपने और बहुतों के जीवन में देखा है कि 'जहांतक हो सकेगा," वहां जक करने के मानी हैं पहले ही अड़चन के सामने गिर पड़ना। 'सत्य का पालन जहांतक हो सकेगा करूंगा', इस वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यथासंभव अमुक तारीख को अमुक रकम चुका दी जायंगी इस तरह की चिट्ठी, चेक या हुंडी के रूप में स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहांतक हो सकेगा वहांतक सत्य-पालन करनेवाले की हुंडी भगवान ही दुकान में नहीं भुनाई जा सकती।

ईश्वर स्वंय निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्त्ति है। उसके नियमों से एक अणु इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय। सुर्य महाव्रतधारी है, उससे संसार का काल-निर्माण होता है और शुद्ध पंचांगों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी ऐसी साख सिद्ध की है कि वह सदा उदय हुआ है, सदा उदय होता रहेगा और इसीसे हम लोग अपने को सुरक्षित पाते हैं। व्यापार मात्र एक-दुसरे के प्रति वायदे से बंधे न हों हो तो व्यापार चले ही न। इस प्रकार व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां हमारे अपने जीवन के गठन का प्रश्न उपस्थित हो, ईश्वर-दर्शन करने का प्रश्न हो, वहां व्रत के बिना कैसे काम चल सकता है ? इसलिए व्रत की आवश्यकता विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

आश्रमवासियों से

आश्रम-विषयक जीवन-संबंधी नीति-नियम

निवेदन

गांधीजी के और हमारे राष्ट्रीय जीवन के अपूर्व अवसर पर उनके पत्रों का यह संग्रह प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि ये पत्र आश्रमवासियों को ही संबोधित किये गए हैं, तथापि जो अपने को आश्रमवासी मानते हैं या आश्रमजीवन का सद्भाव से अभ्यास करते हैं उनको भी ये बोधप्रद होंगे, इस मान्यता से यह पत्र-संग्रह प्रकाशित किया गया है।

गत वर्ष के जेलवास के समान इस बार भी गांधीजी ने आश्रमवासियों के नाम साप्ताहिक प्रवचन लिख भेजने का नियम जारी रखा। उसके अनुसार आजतक जितने प्रवचन आ गये हैं, उनका यह संग्रह है।

पिछले वर्ष उन्होंने एक विषय का ही लगातार सिलसिलेवार विवेचन किया था। इसके परिणामस्वरूप 'व्रतविचार' या 'मंगलप्रभात' और 'गीताबोध' के १० अध्याय तैयार हो गये थे। इस बार शुरू में उन्होंने 'गीता बोध' के बाकी के अध्यायों को पूरा किया। इसके बाद किसी एक विषय पर सिलसिलेवार पत्र लिखने के बजाय आश्रम-जीवन विषयक छुटपुट विचारों को एक दूसरी तरह लिख भेजते रहे। इस प्रकार से अलग-अलग दिखाई देने पर भी इन प्रवचनों में एक ही विषय पर अनेक पहलुओं से चर्चा की गई है। विलक्षण वाचक को इनमें यह मालूम हुए बिना नहीं रहेगा।

हरिजनोद्धार के लिए की गई अनशनव्रत की भीष्म प्रतिज्ञा के आरम्भ के समय तक के प्रवचनों का इस संग्रह में समावेश हुआ है।

चरखा द्वादशी सं० १९८८

सत्याग्रहाश्रम — नाराणदास खु. गांधी

साबरमती — मंत्री, उद्योग मंदिर

अहिंसा प्रतिक्षण काम करने वाली प्रचंड शक्ति है । उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है । जो कौड़ी की फिक्र करेगा, उसकी कौड़ी सलामत ही है, पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की, उसने कौड़ी भी खोई, और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं ।

आश्रमवासियों से

१. मृत्युमित्र

यरवदा-मन्दिर

२९-२-३२

साक्रेटिस (सुकरात) एथेंस (यूनान) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नये, पर नीतिवर्धक विचार राजशक्तिधारियों को न रुचे। इससे उसे मौत की सजा मिली। उस जमाने में उस देश में विषपान करके मर जाने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटिस को मीराबाई की तरह जहर का प्याला पीना था। उसपर मुकदमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटिस ने जो अन्तिम वचन कहे उसके सार पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटिस को हम सुकरात कहते हैं, अरब भी इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं । भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता । फिर मैं तो यह भी मानता हूं कि मेरी या किसी की भी मौत अचानक नहीं आती । मृत्युदंड़ मेरे लिए सजा नहीं है । मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आ गया है । इसीसे आपने मुझे जहर का प्याला दिया है । इसी में मेरी भलाई होगी और इससे मुझपर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देने वालों के प्रति मेरे मन में क्रोध नहीं है । उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके ।

"महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है : मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जायं और धन के लोभी हो जायं तो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें । वे दंभी हो जायं, जैसे न हों । वैसे दिखाने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें । आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया ।"

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह मांग अद्भुत है । जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था । वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था । इससे सुकरात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की अपनी संतान को चेताया और उससे क्या आशा रखी थी यह बताया । महाजनों को मीठी

फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमनसी के लिए सजा दी थी । सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया, वह उसके लड़कों के लिए भी है। और वह यहांतक कि अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो वे दंड के योग्य समझे जाय।

२. शिक्षा के विषय में कुछ विचार

यरवदा-मंदिर

२८-३-३२

जॉन रस्किन उत्तम प्रकार का लेखक, अध्यापक और धर्मज्ञ था। उसका देहान्त १८८०[१] के आसपास हुआ। अधिकांश आश्रमवासियों को यह बात तो मालूम होनी ही चाहिए कि उसकी एक पुस्तक का मुझपर बहुत ही गहरा असर हुआ और उससे ही प्रेरणा प्राप्त कर मैंने अपने जीवन में महत्त्व का परिवर्तन एक क्षण में कर डाला । सन् १८७१ में उसने केवल श्रमिक वर्ग को सामने रखकर मासिक रूप में पत्र या लेखमाला लिखना आरंभ किया था। इन पत्रों की प्रशंसा मैंने टाल्स्टाय के किसी निबन्ध में पढ़ी; पर अबतक मैं उसके अंकों को प्राप्त न कर सका था। रस्किन की प्रवृत्ति और रचनात्मक कार्य के विषय पर एक पुस्तक मेरे हाथ आई थी, वह मैंने यहां पढ़ी । इसमें भी इन पत्रों का उल्लेख हुआ है। उसे देखकर मैंने विलायत में रस्किन की एक शिष्या को लिखा। वही उक्त पुस्तक की लेखिका है। वह बेचारी गरीब ठहरी। अत: ये पुस्तकें कहां से भेजती ? मूर्खता या मिथ्या विनयवश मैंने उसे यह न लिखा कि आश्रम से पैसे मंगा लेना। उस भली महिला ने मेरा पत्र अपने एक अपेक्षाकृत समर्थ मित्र के पास भेज दिया। वह 'स्पेक्टेटर' पत्र के संपादक थे। उनसे मैं विलायत में मिल भी चुका था। रस्किन के उक्त पत्र पुस्तकाकार चार खंडों में प्रकाशित हुए हैं। वह उन्होंने भेज दिये। उनमें का पहला भाग मैं पढ़ रहा हूं। उसके विचार उत्तम हैं और हमारे बहुत-से विचारों से मिलते हैं। यह मेल इतना है कि अनजान आदमी तो यही मान लेगा कि मैंने जो कुछ लिखा है और आश्रम में जो कुछ हम आचरण करतें हैं वह सब रस्किन के इन निबन्धों से चुराया हुआ है। 'चुराया हुआ' शब्द का अर्थ तो समझ में आया ही होगा। जो विचार या आचार जिसके पास से लिया गया हो उसका नाम छिपाकर अपनी कृति है यह दिखाया जाय तो वह चुराया हुआ कहा जायगा।

रस्किन ने बहुत लिखा है। उसमें से थोड़ा ही इस वक्त देना चाहता हूं। रस्किन का कहना है कि यह जो कहा जाता है कि बिल्कुल अक्षरज्ञान न होने से कुछ भी होना अच्छा है, उसमें गंभीर भूल है । उसका स्पष्ट मत है कि जो शिक्षा सच्ची है, जो आत्मा की पहचान करानेवाली है, वही शिक्षा है और वही ग्रहण करनी चाहिए। अनन्तर उसने कहा है कि इसी जगत् में मनुष्यमात्र को तीन पदार्थों और तीन

गुणों की आवश्यकता है। जो इन्हें पनपाना नहीं जानता वह जीने का मंत्र ही नहीं जानता। अत: ये छ: चीजें ही शिक्षा की नींवरूप होनी चाहिए। इसलिए मनुष्यमात्र को बचपन से--वह लड़का हो या लड़की--यह जान लेना ही चाहिए कि साफ हवा, साफ पानी और साफ मिट्टी किसे कहना चाहिए, उन्हें किस तरह रखना होता है और उनका क्या उपयोग है। वैसे ही तीन गुणों में उसने गुणज्ञता, आशा और प्रेम को गिनाया है। जिसको सत्यादि गुणों की कदर नहीं है, जो सुन्दर वस्तु को पहचान नहीं सकता, वह अपने घमंड में भटकता है और आत्मानंद नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार जिसमें आशावाद नहीं है, अर्थात जो ईश्वरीय न्याय के विषय में शंकित रहता है, उसका हृदय कभी प्रफुलित नहीं रह सकता, और जिसमें प्रेम नहीं यानि अहिंसा नहीं, जो जीवमात्र को अपना कुटुम्बी नहीं मान सकता, वह जीने का मंत्र कभी साध नहीं सकता।

इस विषय पर रस्किन ने अपनी चमत्कारभरी भाषा में बहुत विस्तार से लिखा है। इसे तो किसी वक्त अपने समाज के समझने लायक रूप में लिख सकूं तो अच्छा ही है। आज तो इतने से ही संतोष कर लेता हूं। साथ ही यह कह देना चाहता हूं कि जिन बातों को हम अपने गंवारू शब्दों में सोचते आये हैं और जिन्हें आचार में उतारने का यत्न कर रहे हैं लगभग उन्हीं सबको रस्किन ने अपनी प्रौढ़ और सुसंकृत भाषा में, अंग्रेजी-भाषी जनता समझ सके इस रीति से, प्रकट किया है। यहां मैंने तुलना दो भिन्न भाषाओं की नहीं की है, बल्कि दो भाषाशास्त्रियों की की है। रस्किन के भाषाशास्त्र के ज्ञान का मुकाबला मुझ-जैसा आदमी नहीं कर सकता। पर ऐसा समय अवश्य आयेगा जबकि मातृभाषा का प्रेम बढ़ेगा, उस समय भाषा के पीछे मेहनत करनेवाले विद्वान रस्किन की प्रभावशाली अंग्रेजी जैसा जोरदार गुजराती लिख सकेंगे।

---

१. जान रस्किन का जन्म १८९९ ई० में और मृत्यु १९०० ई. में हुई!

३. आकाश-दर्शन-१

यरवदा-मन्दिर

११-४-३२

सत्य के पुजारी का रस अनन्त होता है। सत्यनारायण की झांकी के लिए वह अपने-आपको कभी बूढ़ा नहीं मानता। जो हर काम सत्यरूप ईश्वर के ही प्रीत्यर्थ करता है, जो सर्वत्र सत्य को ही देखता है, उसके लिए बुढ़ापा विघ्नरूप नहीं होता। सत्यार्थी अपने ध्येय को ढूंढने के लिए अमर है, अजर है।

यह सुन्दर स्थिति मैं तो बरसों से भोग रहा हूँ। जिस ज्ञान से जान पड़े कि मैं सत्यदेव के अधिक पास पहुंच रहा हूं, उसके पीछे जाने में बुढ़ापा मुझे बाधक नहीं हुआ। इसकी ताजा मिसाल मेरे लिए आकाशदर्शन है। आकाश का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो अन्तर में अनेक बार उपजी, पर मैंने यह मान लिया था कि मेरे और काम मुझे इस ओर लगने की इजाजत न देंगे। यह खयाल गलत भले ही हो, पर जबतक मेरा मन अपनी भूल न देख ले तबतक तो वह मेरे लिए रुकावट बनेगी ही। सन '२२ के कारावास में भाई शंकरलाल को प्रेरणा करनेवाला बहुत करके मैं ही था। उस विषय की पुस्तकें मगाई गईं। भाई शंकरलाल ने तो इतनी जानकारी कर ली कि जितने से उन्हें संतोष हो जाय। मुझे फुर्सत न मिली।

सन ३०-३१ में काकासाहब का सत्संग मिला। उन्हें इस विषय का अच्छा ज्ञान है। पर मैंने उनसे उसे न पाया। इसलिए कि उस वक्त मुझे सच्ची जिज्ञासा न थी। १९३१ में कारावास के आखिरी महीने में यकायक शौक जगा। बाह्य दृष्टि से जहां सहज ही ईश्वर रहता हो उसका निरीक्षण मैं क्यों न करूं? पशु की तरह आंखें महज देखा करें, पर जिसे देखें वह विशाल दृश्य ज्ञानतन्तु तक न पहुंचे, यह कैसा दयनीय है? ईश्वर की महान् लीला के निखरने का यह सुयोग कैसे जाने दिया जाता? यों आकाश को पहचान लेने की जो तीव्र इच्छा उपजी उसे अब छिपा रहा हूं और यहांतक आया हूं कि आश्रमवासियों को मेरे मन में उठनेवाली तरंगों में साझी बनाये बिना अब नहीं रहा जाता।

हमें बचपन से यह सिखाया गया है कि हमारा शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, तेज और वायु नाम के पंचमहाभूत का बना हुआ है। इन सभी के विषय में हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान होना ही चाहिए, फिर भी

इन तत्वों के विषय में हमें बहुत थोड़ी जानकारी है। इस समय तो हमें आकाश के विषय में ही विचार करना है।

आकाश के मानी हैं अवकाश-खाली जगह। हमारे शरीर में अवकाश न हो तो हम क्षणभर भी न जी सकें। जो बात शरीर के विषय में है वही जगत् के विषय में भी समझनी चाहिए। पृथ्वी अनन्त आकाश से घिरी हुई है, हम अपने चारों ओर जो आसमानी रंग की चीज देखते हैं वह आकाश है। पृथ्वी के छोर-सीमा है। वह ठोस गोला है। उसकी धुरी ७९०० मील लम्बी है, पर आकाश पीला है। उसकी धुरी माने तो उसका कोई ओर-छोर न होगा। इस अनन्त आकाश में पृथ्वी एक रजकण के समान है और उस रजकण पर हम तो रजकण के भी ऐसे तुच्छ रजकण हैं कि उसकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। इस प्रकार शरीर-रूप से हम शून्य हैं, यह कहने में तनिक भी अतिश्योक्ति या अल्पोक्ति नहीं। हमारे शरीर के साथ तुलना करते हुए चींटी का शरीर जितना तुच्छ है पृथ्वी के साथ तुलना करने में हमारा शरीर उससे हजारों गुना तुच्छ है, तब उसका मोह क्यों हो? वह छूट जाय तो शोक क्यों करें?

पर इतना तुच्छ होते हुए भी इस शरीर की भारी कीमत है, क्योंकि वह आत्मा का और हम समझें तो परमात्मा का - सत्यनारायण का - निवासस्थान है।

यह विचार अगर हमारे दिल में बसे तो हम शरीर को विकार का भाजन बनाना भूल जायं: पर अगर हम आकाश के साथ ओतप्रोत हो जायं और उसकी महिमा तथा अपनी अधिकाधिक तुच्छता को समझ लें तो हमारा सारा घमंड चूर हो जाय। आकाश में जिन असंख्य दिव्य गणों के दर्शन होते हैं वे न हों तो हम भी न हों। खगोल वेत्ताओं ने बहुत खोज की है, फिर भी हमारा आकाश विषयक ज्ञान नहीं के बराबर है। जितना है वह हमें स्पष्ट रीति से बताता है कि आकाश में सूर्यनारायण एक दिन के लिए भी अतंद्रित तमश्यचर्या बंद कर दें तो हमारा नाश हो जाय । वैसे ही चंद्र अपनी शीत किरणें लौटा ले तो भी हमारा यही हाल होगा और अनुमान से हम कह सकते हैं कि रात्रि के आकाश में जो असंख्य तारागण हमें दिखाई देते हैं उन सबका इस जगत् को बनाये रखने में स्थान है। इस प्रकार इस विश्व में संपूर्ण प्राणियों के साथ, संपूर्ण दृश्यों के साथ हमारा बहुत घना संबंध है और हम एक-दूसरे के सहारे टिक रहे हैं। अत: हमें अपने आश्रयदाता आकाश में विचरनेवाले दिव्य गणों का थोड़ा परिचय कर ही लेना चाहिए।

इस परिचय का एक विशेष कारण भी है। हमारे यहां कहावत है-"दूर के ढोल सुहावने। " इसमें बहुत सचाई है। जो सूर्य हमसे इतनी दूर रहकर हमारा रक्षण करता है उसी सूर्य के पास जाकर हम बैठें तो उसी क्षण भस्म हो जायं। यही बात आकाश में बसनेवाले दूसरे गणों की भी है। अपने पास रहनेवाली अनेक वस्तुओं के गुण-दोष हम जानते हैं, इससे कभी-कभी हमें उनसे विरक्ति होती है, दोषों के स्पर्श से हम दूषित भी होते हैं, आकाश के देवगण के हम गुण ही जानते हैं, उनको निहारते हम थकते ही नहीं, उनका परिचय हमारे लिए हानिकर हो ही नहीं सकता और इन देवों का ध्यान करते हुए हम अपनी कल्पनाशक्ति को नीतिपोषक विचारों से जितनी दूर ले जाना हो उतनी दूर ले जा सकते हैं।

इसमें तो शंका ही नहीं कि आकाश के और अपने बीच हम जितना पर्दा खड़ा करते हैं उतने ही अंश में अपनी देह, मन और आत्मा की हानि पहुंचाते हैं, हम स्वाभाविक रीति से रहते हों तो चौबीसों घंटे आसमान के नीचे ही रहें | यह न हो सके तो जितने समय रह सकते हों उतने समय रहें | आकाश-दर्शन अर्थात् अर्थात् तारादर्शन तो रात में ही हो सकता है और सबसे अच्छा तो सोते समय हो सकता है। अत: जो इस दर्शन का पूरा लाभ उठाना चाहें उसे तो सीधे आकाश के नीचे ही सोना चाहिए। आसमान ऊंचे मकान या पेड़ हों तो वे इस दर्शन में विघ्न डालते हैं।

बच्चों को और बड़ों को भी नाटक और उनमें दिखाये जानेवाले दृश्य बहुत रुचते हैं; पर जिस नाटक की योजना प्रकृति ने हमारे लिए आकाश में की है उसको मनुष्यकृत एक भी नाटक नहीं पा सकता। फिर नाटकशाला में आंखें बिगड़ती हैं, फेफड़ों में गंदी हवा जाती है, और आचरण के बिगड़ने का भी बहुत डर रहता है। इस प्राकृतिक नाटक में तो लाभ-ही-लाभ है। आकाश को निहारने से आंखों को शांति मिलती है। आकाश के दर्शन के लिए बाहर रहना ही होगा, इसलिए फेंफड़ों को शुद्ध हवा मिलेगी। आकाश को निहारने से किसीका आचरण बिगड़ता आज तक नहीं सुना गया। ज्यों-ज्यों इस ईश्वरी चमत्कार का ध्यान किया जाता है त्यों-त्यों आत्मा का विकास होता है। जिसके मन में रोज रात को सपने में मलिन विचार आते हों, वह बाहर सोकर आकाश-दर्शन में लीन होने का यत्न कर देखे उसे तुरंत निर्दोष निद्रा का आनंद मिलेगा। आकाश में अवस्थित दिव्य गण मानो ईश्वर का मूक स्तवन कर रहे हों। हम जब इस महादर्शन में तन्मय हो जायेंगे तब हमारे कान उसको सुनते जान पड़ेंगे। जिसके आंखें हों वह इस नित्य नवीन नृत्य को देखे। जिसके कान हों वह इन अगणित गंधर्वों का मूक गान सुने।

आइये, अब हम इनके बारे में कुछ जानें या मुझे जो बहुत थोड़ा मिला है, उसमें सब साथियों को साझी बनाऊं। सच पूछिये तो पृथ्वी आदि के विषय में थोड़ा सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद आकाश-दर्शन किया जाय तो ठीक कहा जाएगा। हो सकता है कि मैं जो लिखनेवाला हूं वह सब काकासाहब के संपर्क में आये हुए आश्रम के बालक जानते हों। ऐसा हो तो अच्छा ही है। मैं आश्रम के छोटे-बड़े, नये-पुराने सबके लिए लिख रहा हूं। उसमें जिसको रस मिले उसके लिए तो यह विषय बिल्कुल ही आसान हो जायगा।

प्रार्थना के बाद तुरंत आकाश-दर्शन करना अच्छा होगा। इसमें एक बार बीस मिनट से अधिक समय देने की जरूरत नहीं। जो समझेगा वह इसे प्रार्थना का अंग मानेगा ही। बाहर सोनेवाला अकेले जितनी देर ध्यान करना हो करे। थोड़ी ही देर में उसी ध्यान में वह सो जायगा। रात में नींद टूटे तो फिर थोड़ी देर दर्शन कर ले। आकाश प्रतिक्षण फिरता दिखाई देता है। इससे क्षण-क्षण में उसके दर्शन बदला ही करते हैं।

आठ बजे आकाश की ओर देखिये तो पश्चिम में एक भव्य आकृति के दर्शन होंगे।

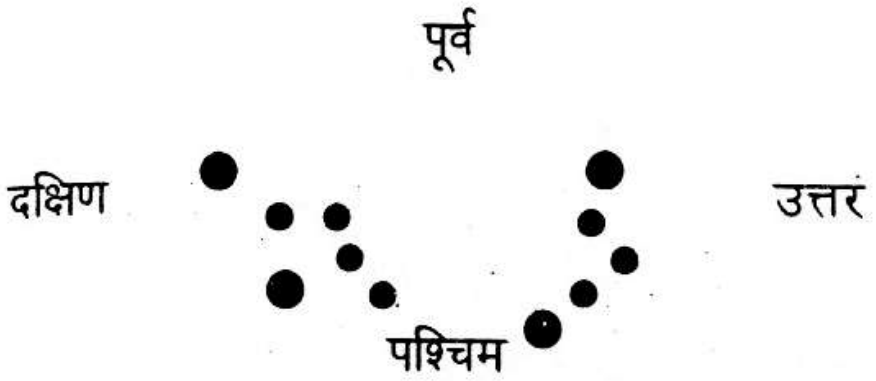

यह आकृति पश्चिम में होगी। मैं पूरब में सिर रखकर सामने देख रहा हूं। इस तरह देखनेवाला इस आकृति को भूल सकता ही नहीं। इन दिनों उजाला पाख है, इसलिए यह तारामंडल और कई दूसरे भी कुछ धूमिल दिखाई देते हैं। फिर भी यह मंडल इतना तेजस्वी है कि मुझ-जैसे नौसिखिये को भी उसे ढूंढ़ लेने में कठिनाई नहीं होती । इसके विषय में हमारे यहां और पश्चिम में लोगों का क्या ख्याल है, यह पीछे बताऊंगा। इस वक्त तो इतना ही कहूंगा कि इस मंडल के स्थान का वर्णन वेद में देखकर लोकमान्य तिलक महाराज के काल की खोज कर सके थे। आश्रम के पुस्तक-संग्रह में स्वर्गवासी दीक्षितजी की

पुस्तक है। उसमें तो बहुत बातें बताई गई हैं। मेरा काम तो रस उत्पन्न कर देना मात्र है, पीछे तो आश्रमवासियों से मैं अधिक सीख सकूंगा। मेरे लिए तो ये नक्षत्र ईश्वर के साथ संबंध जोड़ने के एक साधन हो गये हैं। आश्रमवासियों के लिए भी हों।

"जैसे (चरखे से) सूत निकलता है वैसे तू रह और जैसे बने वैसे हरि को प्राप्त कर।"[१]

---

१. गुजराती सन्त कवि अक्खा भगत (१६१५-१९७४ ई०) की एक पंक्ति का भाग ।-अनु०

४. आकाश-दर्शन-२

यरवदा-मंदिर

१८-४-३२

पिछली बार तारा-मंडल का जो चित्र भेजा है उसके विषय में अनेक कल्पनाएं हैं। इस मंडल के चित्रों में से एक भी सम्पूर्ण नहीं होता। जितने तारे चित्र में दिखाई देते हैं उनसे कहीं अधिक उसमें होते हैं। इसलिए सबसे अच्छा उपाय यह है कि हर आदमी अपने-अपने लिए चित्र बनाये और जितने तारे खाली आंख से दिखाई दें उनके चिन्ह बना ले। इससे तारों को पहचानने की शक्ति तुरन्त बढ़ जायगी और नक्शों में जो तस्वीरें आती हैं उनकी बनिस्बत अपने हाथों अपने लिए खींचा हुआ चित्र बढ़िया होगा, क्योंकि अलग-अलग जगहों से देखने में थोड़ा-थोड़ा फर्क तो पड़ता ही है। हर आदमी नियत स्थान से नियत समय पर निरीक्षण करे तो ज्यादा अच्छा है। यह सूचना नक्शे के बारे में और आरम्भ करने वाले के लिए है। आप एक बार अच्छी तरह नक्षत्रों की पहचान कर लें तो फिर कहीं भी हों अपने इन दिव्य मित्रों या दिव्य गणों को तुरन्त पहचान लेंगे।

मद्रास के 'हिन्दू' दैनिक के साथ एक साप्ताहिक निकलता है, बम्बई के 'टाइम्स' के साथ भी निकलता है। दोनों में हर महीने दिखाई देनेवाले तारक-मंडलों के नक्शे छपा करते हैं। 'हिन्दू' में हर महीने के पहले हफ्ते में और 'टाइम्स' में दूसरे हफ्ते में निकलता है। इनमें से कोई नक्शा हाथ आ जाय तो उसमें हमें बहुत कुछ मिल जायगा। 'कुमार' (गुजराती मासिक) का सौवां या शती अंक निकलनेवाला है, उसमें भाई हीरालाल शाह ने इस विषय पर लेख भेजा है। उनका अध्ययन गहरा मालूम होता है। यह लेख जिसे देखना हो वह देख जाय। मैं तो इस लेख के आद इस विषय पर अधिक न लिखूंगा। मैं आकाश-दर्शन किस रीति से कर रहा हूं इसको यहां थोड़ा अधिक स्पष्ट करूंगा। इससे आगे आऊं तो इस हफ्ते में जो दूसरी चीजें लिखने को हैं वे रह जायंगी । प्रसंगवश कुछ भेज दूं तो वह अलग होगा, या फिर किसीके प्रश्न पर भेजूं।

जिस नक्षत्र का चित्र मैंने दिया है, उसका नाम अपने यहां मृग या मृगशीर्ष है। उसीपर से हमारे अगहन महीने का नाम मार्गशीर्ष--मगसिर-पड़ा है। हमारे महीनों के नाम उन नक्षत्रों के नाम पर से पड़े हैं। मृग-नक्षत्र को पश्चिम में 'ओरायन' कहते हैं। यह शिकारी है। इसके पूरब में दो सीधी रेखाओं में बहुत

तेजस्वी तारे हैं। उनके शिकारी के कुत्ते होने की कल्पना की गई है। जो पश्चिम में है वह बड़ा और जो उत्तर में है वह छोटा कुत्ता है। पूरब की ओर और दक्षिण में शिकारी के चौथे कोने के तारे के नीचे जो नक्षत्र दिखाई देता है वह खरगोश मान लिया जाता है। कुत्ते उसकी ओर दौड़ते हैं। बीच में जो तीन तारे हैं वे शिकारी के कमरबन्द के तीन रत्न हैं।

ऐसी आकृतियां भी खींची गई हैं। बड़े कुत्ते को हमारे यहां लुब्धक और उपर्युक्त तीन तारों को मृग का पेट कहते हैं। उसके दक्षिण में जो तारा है वह लुब्धक का छोड़ा हुआ बाण है। उत्तर की ओर चतुष्कोण के बाहर के तीन तारे मृग के सिर हैं। यह सारी कल्पना खासी मनोरंजक है। उसकी उत्पत्ति के विषय में बहुत लिखा गया है । उसमें से बहुत ही थोड़ा मैं पढ़ पाया हूँ।

आकाश में ऐसी आकृति बिल्कुल नहीं है। वह हमें जितनी नजदीक दिखाई देती है उतनी नजदीक भी नहीं है। ये तारे तारे नहीं, बल्कि सूर्य से भी बड़े सूर्य हैं। करोड़ों मील दूर होने के कारण वे आकाश में बूंद की तरह झलकते हैं। इन सूर्यों के विषय में हमारा ज्ञान बहुत थोड़ा है, पर अपढ़-से-अपढ़ के लिए भी ये तारागण मित्र के प्रयोजन की पूर्ति करते हैं। क्षण भर उनकी ओर दृष्टि की कि तुरन्त देखनेवाला चाहे तो अपने सारे दुःख-दर्द भूल जाय और भगवान की महिमा गाने लगे। तारों को वह ईश्वर के दूत मान सकता है, जो सारी रात हमारी रखवाली किया करते हैं और हमें आश्वासन देते हैं। यह तो सत्य सिद्ध हुआ है। तारे सूर्य हैं, बहुत दूर हैं, आदि बुद्धि के प्रयोग हैं। वे हमें ईश्वर की ओर ले जाने में जो सहायता देते हैं वह अवश्य हमारे लिए पूरा सत्य है। शास्त्रीय रीति से हम जल को अनेक रीतियों से पहचानते हैं, पर उस ज्ञान का शायद कोई उपयोग नहीं करते। वह प्राण और शरीर को साफ-सुथरा रखने की चीज है, यह ज्ञान और उसका यह हमारे लिए बड़े ही काम के हैं और हमारे लिए यह उपयोग सत्य है। फिर वस्तुत: वह कोई दूसरा ही पदार्थ हो और उसका इससे अधिक उपयोग हो सकता हो तो अच्छा ही है। यही बात तारागण के विषय में है। उनके उपयोग अनेक हैं। मैंने तो मुझे उनका जो प्रधान गुण जान पड़ा उसका ही मनन और तदनुसार उपयोग सुझाया है । जान पड़ता है, पीछे कालक्रम से अनेक प्रकार के दूसरे वर्णन उसमें मिल गये और आख्यायिकाएं उत्पन्न हुईं। इन सबको हम इस विषय में रुचि बढ़ाने के लिए अवश्य पढ़ें पर जो मूल उपयोग मैंने सुझाया है उसको न भूलें।

मृग के उत्तर में दो दूसरे मंडल हैं, उनकी पहचान हम कर लें –

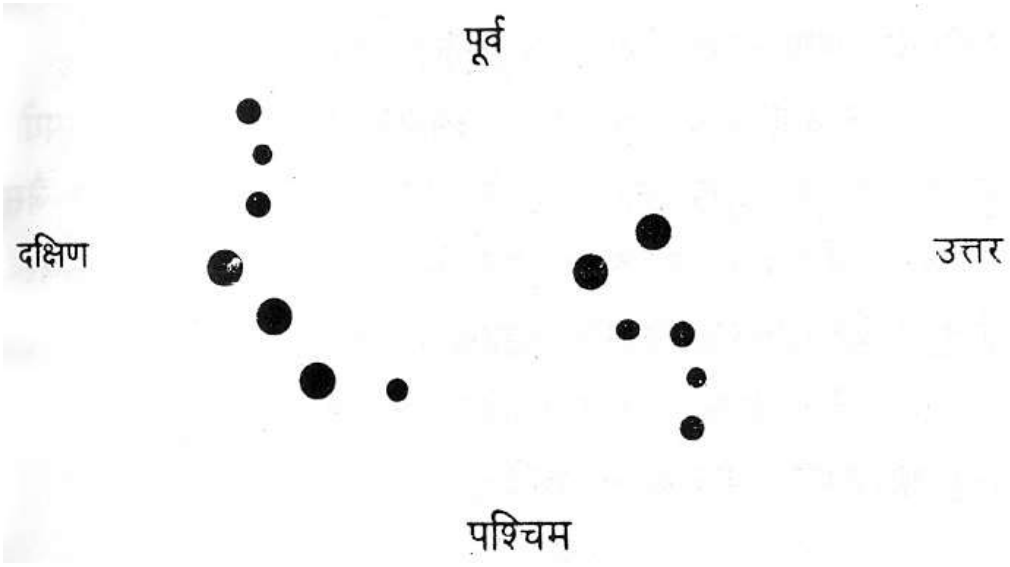

इनमें बड़ा मंडल सप्तर्षि है। छोटे को ध्रुव मत्स्य कहते हैं। दोनों में सात-सात तारे दिये हैं, पर सप्तर्षि में दूसरे बहुत-से हैं वे 'टाइम्स' और 'हिंदू' के चित्रों में मौजूद हैं | ध्रुव मत्स्य में दूसरे तारे नहीं दिखाई देते | इन दिनों उजाले पक्ष में तो शायद तीन ही दिखाई देगे-दो चतुष्कोण के और एक सिरे का, जिसका नाम ध्रुव है। ध्रुव ऐसा तारा है जो लगभग अचल रहता है और इससे पिछले जमाने में तो नाव-जहाज चलानेवालों को बड़ी मदद मिलती थी। ये दोनों मंडल ध्रुव की प्रदक्षिणा ही करते हुए जान पढ़ते हैं। इन दिनों इनकी गति देखने का बड़ा आनन्द आता है। सारी रात इनका स्थान बदलता ही रहता है। इसको नोट करते जायं तो इनके मार्ग का नक्शा खासा कुंडलाकार होगा। पश्चिम में इन्हें बड़ा रीछ और छोटा रीछ कहते हैं। एक पुस्तक में तो इनके सुंदर चित्र भी मैंने देखे हैं। बड़े रीछ को हल की उपमा भी देते हैं। सप्तर्षि रात के घड़ियाल का काम देते हैं। थोड़ा अभ्यास हो जाने के बाद सप्तर्षि की गति का समय अवश्य जाना जा सकता है। ।

पर अमूल्य होते हुए भी ये उपयोग और ये नाम मूल उपयोग के सामने मुझे तुच्छ-से लगते हैं। हमें चाहिए कि आकाश जैसा स्वच्छ है वैसे हम स्वच्छ हों, तारे जैसे तेजस्वी हैं वैसे हम तेजस्वी हों। वे जैसे ईश्वर का मूक स्तवन करते जान पढ़ते हैं वैसे हम करें । वे जैसे अपना रास्ता एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ते हम भी अपना कर्तव्य न छोड़ें।

५. गोशवारे की आवश्यकता

यरवदा-मंदिर

२५-४-३२

आश्रम का इतिहास लिखते समय मन में अनेक विचार आते हैं, अपनी अनेक त्रुटियों की ओर ध्यान जाता है। उससे मुझे ऐसा लगता है कि हमें समय-समय पर अपना गोशवारा तैयार करना चाहिए। व्यापारी अपने व्यापार का हर रोज गोशवारा-हिसाब का खुलासा--तैयार करता है, हर महीने करता है, हर छठे महीने करता है और बड़ा गोशवारा हर साल बनाता है। हमारा व्यापार आध्यात्मिक माना जायगा, इसलिए आध्यात्मिक गोशवारा बनाना उचित है। हरेक को अपना-अपना तैयार करना चाहिए और समाज को सारी संस्था का। ऐसा न करें तो गोशवारा न बनानेवाले व्यापारी की तरह हमारा आध्यात्मिक दिवाला निकलेगा। अपने व्रतों और कामों, उद्योगों में हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे छूट रहे हैं, यह हम न जानें तो हम यंत्र की तरह जड़ बन जायंगे और अंत में यंत्र से कम काम करेंगे, यानि अपनी हानि करेंगे।

यह गोशवारा हम किस रीति से तैयार करें ? इसका जवाब मैं कुछ प्रश्न लिखकर दे सकता हूं :

१. हम असत्य विचारते, बोलते या आचरण करते हैं ? हम यानि हरेक।

२. ऐसा है तो वैसा करनेवाला कौन है ? कहां-कहां असत्य का आचरण हुआ ? इसके लिए उसने क्या किया ? आश्रम ने क्या किया ?

३. आश्रम के इतने बरस के जीवन में हम इस विषय में आगे बढ़े कि पीछे हटे ?

इस प्रकार सब व्रतों के विषय में विचार करके जहां-जहां खोट-खामी दिखाई दे वहां-वहां उपाय ढूंढें और करें।

कार्यों, उद्योगों के विषय में भी यही कर्तव्य है। उनके विषय में तो दूना विचार करना है। आर्थिक दृष्टि से जमा-खर्च बराबर आता है ? हम मानते हैं कि भौतिक उद्योग में अगर दोनों मद बराबर आये तो यह संभव है कि वह धार्मिक रीति से चलाया गया हो, अगर घाटा आये या नफा रहे तो अवश्य कहीं

नीति-भंग हुआ है। दूसरी दृष्टि यह है कि उस उद्योग के चलाने में धर्म का ही विचार प्रधानत: रखा गया है ? आश्रम में यह बात आवश्यक है, क्योंकि उसके सारे उद्योग धर्म के अर्थात् सत्य के अधीन हैं।

इन दोनों--व्रतों और उद्योगों--के विषय में यह विचार मन में आये बिना नहीं रहते :

१. आश्रम में ही एक-दूसरे के बीच सूक्ष्म चोरियां क्यों होती हैं।

२. ऐसा वक्त कब और कैसे आयगा जब हममें एक-दूसरे का अविश्वास रहे ही नहीं ?

३. आश्रम में अब भी बाहर से चोर क्यों आते हैं ?

४. हमारा व्यक्तिगत परिग्रह क्यों बढ़ रहा है ?

५. हमने आसपास के गांवों के साथ क्यों सम्बन्ध नहीं जोड़ा ? वह किस तरह जोड़ा जा सकता है ?

६. आश्रम में अब भी बीमारी क्यों रहा करती है ?

७. आश्रम के मजदूर-वर्ग के लिए हमने क्या किया ? वे क्यों आश्रमवासी नहीं बनें ? या मजदूर ही आश्रम में क्यों हों ? आश्रम में मालिक और मजदूर ये विभाग ही न हों ?

ऐसे सवाल अभी और बहुत-से सोच सकता हूं, पर मेरे विचार बता देने के लिए इतने काफी हैं। मैं चाहता हूं कि छोटे-बड़े सभी विचार करने लग जायं। रोजनामचा रखने के मेरे आग्रह में यह हेतु तो था ही।

६. सप्ताह का सार

यरवदा-मंदिर

२-५-३२

अप्रेल मास के शुद्धि-सप्ताह पर भाई भगवानजी का पत्र आया है। उसमें कपास की खराबी की ओर मेरा ध्यान खींचा गया है। उनको शक है कि कुछ लोगों ने जान-बूझकर तार[१] बढ़ाकर लिखे हैं। खराबी वह दो तरह की बताते हैं--एक तो टूटा हुआ सूत जितना चाहिए उससे अधिक है, दूसरे उतावली में कातने से सूत के नम्बर बहुत कम हैं।

किसीने जान-बूझकर गलत तार लिखे हों तो इसको मैं भारी दोष मानता हूं। आश्रम के नाम को इससे धब्बा लगता है। गलत लिखनेवाले का यज्ञ ईश्वर की बही में तो लिखा ही नहीं जाता। हमारी बही में जो तार या गज लिखे गये हों उनकी कीमत तो कुछ भी नहीं। कीमत तो जो हो वही सच्ची है, लिखने से उसमें घट-बढ़ नहीं होती और सूत की कीमत तो कुछ आने की होती है। असली कीमत तो कातने के पीछे रहने-वाले शुद्ध उद्देश्य की ही है। यह कीमत हम आंक सकते ही नहीं । यह तो दैवी बही में ही हो सकती है; क्योंकि मनुष्य के हेतु को कौन समझ सकता है ? फिर भी हमारे पास एक माप है। अगर अंत में ऐसे यज्ञ का सोचा हुआ फल न हो तो जानना चाहिए कि हममें कहीं-न-कहीं मलिनता है। इस दृष्टि से हरेक अपने-अपने काम का विचार कर ले और असत्य कहा हो तो नम्रतापूर्वक इसे कबूल कर शुद्ध हो जाय। आश्रम में हमसे किसीकी छिपी निगरानी नहीं हो सकती। बहुत-सा काम विश्वास पर ही चलता है। आश्रम दूसरी रीति से चल भी नहीं सकता। इसलिए सबको अपने धर्म का बुद्धिपूर्वक पालन करना है। गलत तार के साथ-साथ दूसरे दोष भी सब विचार लें। कातने में आलस किया था ? बेगार टाली थी ? वक्त चुराया था ? टूटा हुआ सूत फेंक दिया था ? यज्ञ की शर्त यह है कि याज्ञिक उसमें तन्मय हो जाय, कार्य में अपनी सारी होशियारी खर्च कर दे।

कोई यह न सोचे कि पूरे बरस चाहे जैसा व्यवहार कर शुद्धि-सप्ताह में ऊपर के नियम का पालन कर लेंगे। इतना याद रखना चाहिए कि आश्रम-जीवन ही यज्ञरूप होना चाहिए। उसमें कातना महायज्ञ है। सप्ताह में इतना ही अंतर है कि उस वक्त हम कातने में अधिक समय दिया करते हैं।

आगे के लिए मैं ये नियम सुझाता हूं :

१. बीस नंबर से नीचे का सूत काता जाय तो वह यज्ञ में न गिना जाय।

२. सूत की खराबी नियत माप से अधिक हो तो काता हुआ यज्ञ न माना जाय।

३. कस-मजबूती नियत सीमा से नीचे आय तो भी यज्ञ न गिना जाय।

यज्ञ-कार्य हो कि दूसरा कोई, संख्या या वजन से सफाई, सचाई की कीमत ज्यादा होगी। पचास अपंग बैल हमारे सिर पर बोझ होंगे, एक मजबूत बैल हमारा पूरा काम कर देगा। पचास मोथरी छुरियां शाक नहीं काट सकतीं। एक धारदार छुरी पूरा काम कर देगी। इसलिए हमें अपना ध्यान हर काम की पूर्णता की ओर देने की आदत डालनी चाहिए। आनेवाले सप्ताह में हम इस चीज पर ही ध्यान दें।

मैं देखता हूं कि कातने में कुछ लोगों का मन ऊबता है। दूसरे काम वे ज्यादा पसंद करते हैं। इसमें एक तो स्वाभाविक त्रुटि है। आदमी को जो काम रोज करना पड़ता है उससे वह ऊबता है और और मन को फुसलाता है कि कोई दूसरा काम होता तो मैं न ऊबता। पर वह दूसरा काम भी अगर रोज का हो जाता है तो वह तीसरा मांगता है। फिर कातनेवाले का ध्यान जानेबेजाने कताई से मिलनेवाली थोड़ी मजदूरी की ओर जाता है। आश्रम की दृष्टि से यह दोष है। कातने की मजदूरी कम-से-कम रखी जाती है। कारण यह कि इस वक्त तो यही एक धंधा है, जिसे करोड़ों कर सकें और उससे कुछ कमा भी

लें। अत: इस काम को व्यापक करने के लिए हम सब यज्ञ-रूप में कातते हैं। यज्ञ में कल्पना यह है कि हम ईश्वरार्पण-बुद्धि से काम करते हैं और फल देना भगवान के हाथ है। इस रहस्य को समझकर कातने का यज्ञ सबको नित्य उसमें तन्मय होकर करना उचित है।

---

१. अटेरन पर लपेटे हुए ४८ इंच सूत की नाप

७. सफाई, सचाई, पवित्रता, स्वच्छता

यरवदा-मंदिर

९-५-३२

धीरू मगन चरखा लाया। उसपर आज मुझे इतना आरंभिक काबू मिल गया कि मुझे संतोष हो। अत: मुझे विनोद सूझा। वल्लभभाई की तीखी आंखों ने तो उसके ऊपर लगा हुआ मकड़ी का एक जाला देख लिया और उन्होंने तुरंत उसका मजाक किया। मणिबहन के अति सुघड़पन का मूल मुझे यहीं मिला। जिस लिफाफे में मैं आश्रम की डाक बंद किया करता हूं, वह सरदार की हुनरमन्दी का एक नमूना है। जिसने इस लिफाफे को न देखा हो वह देख ले। उसमें सुघड़पन के साथ भारी किफायतशारी है। यह बता देना चाहिए कि यहां की डाक के लिए बहुत लंबे लिफाफे की जरूरत नहीं होती, इसलिए एक के दो हो जाते हैं। जो बादामी कागज पुड़ियों आदि में आता है वह रख लिया जाता है। उससे लिफाफों के लिए कागज निकल आता है।

यह तो हुई प्रस्तावना। वल्लभभाई की आलोचना पर मैंने ध्यान दिया, पर मैं इस चरखे से काम लेने के लिए अधीर हो रहा था। डाक्टर कहा करते थे कि बाएं हाथ से चरखे का चक्र भी न घुमाओ। उसे पांव से चलाऊं तो चरखे का एक दिन भी शायद खराब न हो। अत: उसपर जल्दी काबू पा लेने की धुन में मैंने जाले की तह चढ़ी रहने दी। आज दाहिने हाथ से काम कर सकने की हिम्मत हुई तो चरखे की खराबी के ऊपर निगाह गई। एक के बजाय सात जगह जाला देखा। धूल तो जमी ही थी। पीतल के मोढ़िये पर तेल और धूल का मरहम-जैसा कीट जम रहा था। पिढ़ई पर भी खासा मैल था। यह अक्षन्तव्य माना जाना चाहिए। चरखा दरिद्रनारायण का चक्र है, उनकी पूजा की यह मुख्य सामग्री है। उसपर मैल चढ़ाकर हम दरिद्रनारायण का अनादर करते हैं। सामान्य रीति से मंदिर, मस्जिद, गिरजा आदि स्थानों की सफाई रखी जाती है। हम तो मानते हैं कि हरेक स्थान मंदिर है। एक भी कोना नहीं है, जहां ईश्वर न हो | इसलिए हमारे मत से तो शयनगृह, भोजनगृह, पुस्तकालय, पाखाना सभी मंदिर हैं और मंदिर की तरह साफ-सुथरे रहने-चाहिए। तब फिर चरखे का तो कहना ही क्या ! चरखे की शक्ति को हम सचमुच ही मानते हों तो बच्चे से लगाकर बूढ़े तक कोई भी उसे साफ रखे बिना न रहे।

बिल्ली की सफाई के बारे में तो मैं लिख ही चुका हूं। इस वक्त उसका अधिक अवलोकन हुआ है। कोई डेढ़ महीने पहले उसने दो बच्चे जने। उनकी रहन-सहन अलौकिक लगती है। तीनों शायद ही कभी अलग देखने में आते हों | जब बच्चे चाहते हैं तब मां दूध पिलाती है। दोनों साथ-साथ सटकर दौड़ते हैं, यह दृश्य भव्य होता है। मां को इसमें कोई शर्म नहीं लगती। बिल्ली सारे काम सबके सामने या सब जगह नहीं करती। बच्चे चलने-फिरने और खेलनेवाले हुए कि मां ने तुरंत उन्हें शौच का नियम सिखाया। खुद एकांत में जाकर नरम जमीन पंजों से खोदकर गढ़ा किया और बच्चों को उसके ऊपर बैठाया, फिर धूल से मैले को ठीक तौर से ढक कर जमीन जैसी थी वैसी कर दी। अब बच्चे रोज इसी रीति से निबटते हैं। वे भाई-बहन हैं। चार दिन पहले उनमें से एक जमीन खोदने लगा; पर वह कठिन थी। दूसरा मदद को पहुंचा और दोनों ने मिलकर जैसा चाहिए था वैसा गढ़ा खोद लिया। शौच हो लेने के बाद जमीन ढाककर चलते बने। ऐसे प्राणी-छोटे-बड़े-जो कर सकते हैं वह हम सहज ही क्यों न करें?

शीर्षक में चार शब्द एक ही भाव को प्रकट करने के लिए व्यवहार किये गए हैं । हमें आत्मा का बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनों की होनी चाहिए। पर अंदर की सफाई तो सचाई है। सचाई ही सबसे बड़ी पवित्रता, इसलिए, स्वच्छता है। हम बाहर से साफ-सुथरे हों और अंदर मैला हो तो या तो यह आडंबरमात्र है, या दंभ है, विषयभोग की निशानी है। इसलिए संयमी स्त्री-पुरुषों की स्वच्छता अंतर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमें बाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारों से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हरएक काम में स्वच्छता प्रकट करेगा । यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

८. अद्भुत त्याग

यरवदा-मंदिर

१५-५-३२

अक्सर सामान्य पाठ्य-पुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूं। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुंदर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझपर तो भरपूर हुआ है। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अत: उसका सार यहां दिये देता हूं।

पैगम्बरसाहब के देहांत के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रूमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आम तौर से लड़ाई भी बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तब अरब-सेना में एक अरब अपने चाचा के बेटे को ढूंढने निकला। उसकी लाश मिल जाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे । शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर इस भाई ने अपने साथ लोटाभर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी । अत: उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी, उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा ।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। वह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अत: बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है, वहां जाकर पानी पिला आओ। नि:श्वास छोड़ते हुए यह भाई वायुवेग से दौड़कर जहां से आर्त्तनाद आ रहा था, वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी नहीं मिला ! अत: यह भाई, उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था, वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है तो

उसकी आंखें भी तबतक मुंद चुकी थीं। दुःख-भरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बन्द पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलों में किसी ने भी पानी न पिया, पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं, पर ऊपर जो अदूभुत दृष्टांत लिखा गया है उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हँसते चेहरे से कूच कर जायं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एक मात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसीसे संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी जैसी कोठरी के अंदर बहुत-से आदमी ठूंस दिये गए हों, एक ही सूराख से थोड़ी-सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायं। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नंबर पर पानी की आवश्यकता-प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौके पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हममें आये, पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है। सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आपसे पूछना चाहिए—जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं ? न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आता।

९. बिल्ली-शिक्षिका

यरवदा-मंदिर

२२-५-३२

यहां की बिल्ली की सफाई-पसंदी के बारे में तो मैं लिख चुका हूं। उसको और उसके बच्चों को देखकर मुझे ऐसा दिखाई देता है कि बिल्ली आदर्श शिक्षिका है। बिल्ली के बच्चों को जो कुछ सीखना चाहिए वह यह माता बिना किसी उपद्रव के और बिना मुंह से एक शब्द बोले सिखा देती है। रीति निहायत आसान है। वह जो सिखाना चाहती है उसे खुद उनके देखते कर दिखाती है। बच्चे तुरन्त उसे करने लग जाते हैं। इस रीति से वे दौड़ना, पेड़ पर चढ़ना, सम्हालकर उतरना, शिकार करना, अपने शरीर को चाटकर साफ कर लेना सीख गये। मां जितना जानती है उतना बच्चे देखते-देखते सीख गये।

मां बच्चों को अक्सर बेकार भटकने के लिए छोड़ती नहीं । उसका प्रेम मनुष्य के प्रेम-जैसा ही दिखाई देता है। वह बच्चों को बगल में लेकर सोती है। जब वे दूध पीना चाहते हैं तब खुद लेट जाती है और उन्हें दूध पीने देती है। कोई शिकार किया हो तो उसे बच्चों के पास ले आती है। वल्लभभाई रोज इनको दूध पिलाते हैं। छोटी-सी रकाबी में तीनों दूध पीते हैं। अक्सर मां देखा करती है, पर खुद उसमें हिस्सा नहीं बटाती। वह बच्चों के साथ बच्चों की तरह क्रीड़ा करती है, कुश्ती लड़ती है।

इससे मैंने यह सार निकाला कि हम बच्चों को शिक्षा देना चाहते हैं तो जो बात उनसे कराना चाहते हों वह खुद करनी चाहिए। बच्चों में अनुकरण की भारी शक्ति होती है। मुंह से कहा हुआ वह कम समझेंगे। हम उन्हें सत्य सिखाना चाहते हैं तो खुद हमें बहुत सावधानी से सत्य का पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना हो तो हमें परिग्रह त्याग देना होगा। जो बात नीति के विषय में है वही शारीरिक कार्यों के विषय में भी है।

इस रीति से विचार करते हुए हम तुरंत देख सकते हैं कि आज जिस रीति से शिक्षा दी जाती है उसमें पैसे और समय के व्यय के परिमाण में फल नगण्य मिलता है। फिर हम यह भी देख सकते हैं कि बड़ी उम्र को पहुंचे हुए सभी आदमी शिक्षक के स्थान पर हैं। इस स्थान के साथ न्याय नहीं होता। इसका उचित आदर नहीं किया जाता। इससे शिक्षा ने वक्र रूप धारण कर लिया है।

बिल्ली आदि पशुओं को बुद्धि नहीं है या मनुष्य की जैसी बुद्धि नहीं है। वह जो करते हैं उससे तो हमें बहुत आगे जाना चाहिए; पर इसके शक्य होने के पहले भावी संतान की नीति के रक्षक होने के नाते, हमें खुद उसका पालन करना होगा। जिस बात को हम चाहते हों कि आनेवाली संतानें सीखें उसे खुद भी यथाशक्ति सीखना चाहिए।

आश्रम में जो लोग शिक्षक और शिक्षिका हैं वे इस दृष्टी से विचार करने लगें और जहां अमल करना उचित हो वहां करने लगें, इसी उद्देश्य से यह लेख लिखा है।

१०. मृत्यु का बोध

यरवदा-मंदिर

३०-५-३२

आश्रम में अबतक नीचे लिखी मौतें होने की बात मुझे याद है : फकीरी, ब्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसन्त, इमामसाहब, गंगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नहीं कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पड़े थे। फिर भी फकीरी बहादुर लड़का था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल में सारी रात मैं ही बैठा रहा। सबेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकड़नी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयों को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरों के बीच भेद न करूंगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयों को भी मैं खो बैठा।

ब्रजलाल बड़ी उम्र में, शुद्ध सेवाभाव से आश्रम में आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिंगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभारूप हुए। एक लड़के का घड़ा कुएं से निकालते हुए डोर में फंसकर फिसल गये और प्राण तजे।

गीता गीता का पाठ शांति से सुनती हुई चली गई। मेघज नटखट लड़का माना जाता था; पर बीमारी में उसने अद्भुत शांति रखी। बच्चे अक्सर बीमारी में बहुत हैरान होते हैं और पास रहनेवालों को हैरान करते हैं। मेघजी को लगभग आदर्श रोगी कह सकते हैं। वसंत ने बिल्कूल सेवा ली ही नहीं। प्राणघातक चेचक ने एक या दो दिन में ही जान ले ली। वसंत की मृत्यु पंडितजी और लक्ष्मीबहन की कठिन परीक्षा थी, उसमें वे पास हुए।

मगनलाल के विषय में क्या कहूं ? सच पूछिये तो यह गिनती आश्रम में हुई मौतों की है, इसलिए मगनलाल का नाम यहां न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोड़ा जा सकता है ? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि में तपे और कसौटी पर सौ फीसदी

खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम में जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है।

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान-कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम में बसा। उन्होंने मृत्यु से हमारे और मुसलामानों के बीच न टूटनेवाली गांठ बांध दी है। इमामसाहब अपने-आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप में आश्रम में आये। (यहां अमीना के दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारे में कोई कहने लायक बात नहीं। उनकी मृत्यु हमें संयम की आवश्यकता का पाठ अवश्य पढ़ातीं है।)

गंगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आंखों के सामने फिरा करता है, उनकी बोली की भनक मेरे कानों में पड़ती है। उनके स्मरणों को याद करते अब भी मैं थका नहीं। उनके जीवन से हम सबको और बहनों को खास तौर से बहुत सबक सीखने हैं। वह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थीं। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थीं। जो बच्चे उन्हें मिले, उनकी सम्हाल उन्होंने अपने बच्चे मानकर की। उन्होंने किसी दिन किसीके साथ तकरार की हो या किसीपर खफा हुई हों, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था – उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

इन सभी मृत्युओं का स्मरण अपनी जागृति के लिए कर गया हूं। पृथ्वी इस विश्व-मंडल में कण-समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप में तुच्छ कण हैं। हम एक बिल में रहनेवाली चींटियों को गिननें में असमर्थ हैं। चींटी से छोटे जंतुओं को तो हम देख भी नहीं सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जंतु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को जो क्षणभंगुर कहा है वह अक्षरश: सत्य है। उसका मोह क्या ? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यों दु:ख दें ? कांच से भी कमजोर--जरा-सी चोट से टूट जानेवाली--देह को बनाये रखने के लिए इतना उपद्रव क्यों मचायें ? मौत के मानी हैं इस देह से जीव का उड़ जाना। इस मौत का डर किसलिए ? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महाप्रपंच क्यों ? इन बातों पर फिर-फिर विचारकर छोटे-बड़े सब दिल से मौत का डर निकाल दें और देह में रहकर, जबतक वह रहे तबतक, सेवा के कार्य में उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममें आये, इसके लिए

नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम उन्नीस श्लोक हमें रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमें मौजूद है।

पुनश्च – यह लेख लिखा जा चुकने के बाद महादेव ने फातिमा काकी और बालजी की माताजी के संस्मरण दिये हैं; पर मुझे जो सार खींचना था उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूं। बाकी की तीनों मौतों के बारे में जो कुछ मैंने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।

११. तितिक्षा और यज्ञ के विषय में

यरवदा-मंदिर

९-६-३२

कोढ़ से पीड़ित एक भाई ने नीचे लिखे हुए उद्गार प्रकट किये हैं--

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियों के लिए आसन, प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाएं और यज्ञ करने के बाद प्राप्त किया हुआ अन्न इस रोग के लिए अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादि के पाठ में, भजन गाने में, ध्यान में और कम-से-कम ५०० गज सूत कातने में मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षा का अर्थ तो यह है—"सब दुखों को मन में बिना विरोध किये, बिना चिन्ता किये, बिना कलपे सहन करना।" यह सहन-शक्ति अपने-आप में उत्पन्न कर रहा हूं और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञ-कार्य न करते हों तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमी से दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वर-कृपा से खुले हुए हैं और इनसे आनन्द प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मन में यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ बिल्कुल हो ही न सके तो! शास्त्र तो पुकार-पुकारकर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भारभूत है, और जगत् के लिए त्रास उपजानेवाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधि से इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकार का यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरों की सेवा पर ही टिक रहा हो तो ऐसे समय क्या कर्तव्य है ! किसी-न-किसी शास्त्र में यह भी पढ़ा है कि जब आदमी को ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानी में डूबकर या ऐसे ही किसी और उपाय से प्राण-त्याग करे।"

यह एक सुंदर पत्र का मेरी भाषा में किया हुआ खुलासा है। इस पत्र से अपने लोगों के लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाई ने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपने में उत्पन्न करें और रोग से पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें।

सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रम में तो पद-पद पर हम इन्हें सुनते हैं; पर जब किसी अनुभवी की कलम से यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़ से पीड़ित जनों से ऐसी भाषा और ऐसे अनुभव की आशा हम नहीं रखते। आम तौर से ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीज का अनुभव हुआ है। इसीसे इस पत्र का सार मैंने आश्रमवासियों के लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञ का अर्थ हम परोपकार के लिए मन देकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं; पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीर से अशक्त है वह यज्ञहीन है जो शरीर सर्वथा आशक्त है वह अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी; पर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके; वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञ कर्म करने की तीव्र इच्छा हो, देह के विषय में उदासीनता आ गई हो; दूसरों की सेवा लेने से दुख होता हो; बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने-आपको इतमीनान हो गया हो, मेरा खयाल है कि ऐसी हालत में जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राण-त्याग करने का पूर्ण अधिकार है; धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवाले को आघात पहुंचानेवाला वाक्य समझा जायगा। जीनेवाले के मुंह में दूसरों के लिए प्राण-त्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना संभव नहीं है, जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय करके और असीम सेवा लेकर भी जीने की तृष्णा घट जाय और मृत्यु का भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है, यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोग के समय प्राण-त्याग को धर्म माने तो यह मानने के लिए कोई कारण नहीं कि वह गलत ही कर रहा है।

१२. प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१९-६-३२

प्रार्थना आश्रम का एक बुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीज को हमें ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिये। भोजन करते समय आमतौर से हम किसी को सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना भोजन से करोड़ गुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोये तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे । खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचार को जहां-तहां भटकने देता हो उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी उसकी गिनती दम्भ में होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोष किया; प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा ? ऐसी बात होती ही नहीं। अगर हम खाट से उठकर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघगे ही। प्रार्थना में जाने से पहले जाग्रत हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए। सोटे की तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज से, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम लें। इतने पर भी शरीर काबू में न रहे तो खड़ा हो जायं। छोटा हो या बड़ा, इसमें किसीको लजाना न चाहिए। शर्म मिटाने के लिए बड़ों को चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब तब खड़े हों जाया करें।

प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाय उसे तुरंत सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत न आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।

१३. अहिंसा का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

२५-६-३२

सर्प को मारें या नहीं ? स्त्री के ऊपर बलात्कार हो रहा हो तब आक्रमणकारी को मारें या नहीं ? खेत में जीव मरते हैं यह जानते हुए भी हल चलायें या नहीं ? अहिंसा का उपासक इन प्रश्नों को हल करने में न लगे। इन गुत्थियों को जब सुलझाना होगा तब वह अपने-आप सुलझ जायंगी, इस भुलावे में पड़ना अहिंसा को बिसर जाने के बराबर है।

अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने अंतर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर ही नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने-आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली ? उसको कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली ? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला ? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया; प्यासे बटोहियों ने मुझसे पानी मांगा; मैंने न दिया। मेहमान आये उनका नमस्कार से भी सत्कार न किया; मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना बिचारे काम लादता रहा; बैल को पैना मारता रहा। रसीई में भात कच्चा था इससे खीझा--ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन न करें तो दुसरे विष्यों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी । अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में हो रही है। जो कौड़ी की फिक्र करेगा उसकी कौड़ी सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कौड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

१४. सत्य का पालन कैसे हो ?

यरवदा-मंदिर

३-७-३२

जो बात अहिंसा की है वही सत्य की समझिये। गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्य की साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानी में बैठना सत्य को ढांकने का रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा इसका ज्ञान हमें अपन-आप हो जायगा।

इस दृष्टि से हममें से हरेक को केवल अपने-आप-को ही देखना है। अपने विचार से मैं किसीको ठगता हूं ? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमें नहीं हैं, उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं ? बोलने में अतिश्योक्ति करता हूं ? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं ? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूं ? जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं, यों हरएक को रोज अपने-आपसे हिसाब लेकर अपने-आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलने की आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंह से निकल ही न सके, वह भले ही अपने-आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने-आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने-आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

१५. विद्याभ्यास

यरवदा-मंदिर

१०-७-३२

आश्रम का इतिहास लिखते हुए शिक्षा के विषय में जो विचार प्रधान रूप से मेरे मन में चल रहे हैं, उनका निचोड़ दिये देता हूं। आश्रम में कितने लोगों को वाचन शिक्षण-पढ़ाई की तालीम-की कमी दिखाई देती है। मैं भी इस कमी को देख सकता हूं; पर शायद वह आश्रम के साथ जुड़ी ही रहेगी। उसके कारण की चर्चा तत्काल न करूंगा।

यह कमी हमें इसलिए दिखाई देती है कि हम विद्याभ्यास का अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करने की रीति नहीं जानते, या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है, यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टि से प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति में बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है, जिसके-द्वारा हम आत्मा को, अपने-आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस पहचान के लिए किसी को साहित्यज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र की, किसीको कला की; पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्म-दर्शन होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है । जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे से छोटे काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है। खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का, जो हरेक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

हरेक आश्रमवासी इतना समझ ले तो वह जानेगा कि आश्रम एक महान् पाठशाला है, जिसमें शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी, जो आत्म-दर्शन--सत्य-दर्शन के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीज

में वह निपुण है उसके विषय में वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है उसके विषय में विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें और जिसमें पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जायं त्यों-त्यों हमारी विद्या-सत्य-दर्शन की शक्ति-बढ़ती ही जायगी।

तब अक्षर-ज्ञान का क्या हो ? यह प्रश्न अब रहता ही नहीं । जो बात अन्य कार्यों के विषय में है वही अक्षरज्ञान के विषय में है। ऊपर के विवेचन से एक वहम की अर्थात् शिक्षाशाला-रूपी मकान और सिखानेवाले शिक्षक के-भ्रम की जड़ कट जाती है। हमें अक्षरज्ञान की जिज्ञासा हो तो हमें जानना चाहिए कि वह हमें अपने ही यत्न से प्राप्त करना है। आश्रम में उसके लिए अवकाश है ही। जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उसे ठीक तौर से समझा सका होऊं तो अक्षरज्ञान की समस्या हल हो जाती है। जिसके पास वह है वह दूसरों को यथासमय दिये जायं और दूसरे लेते जायं।

१६. व्यक्तिगत प्रार्थना

यरवदा-मंदिर

१७-७-३२

व्यक्तिगत प्रार्थना के विषय में मैं कुछ लिख तो चुका हूं, पर उसके महत्त्व के विषय में फिर कुछ लिखने की आवश्यकता जान पड़ती है। मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना में से हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है ? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्म-दर्शन में--आत्मशुद्धि में--सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्योंही समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा ही दे। सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के हैं : सवेरे उठते ही अन्तर्यामी को याद करना और रात में आंख मूंदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जागृत स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के संपादन में अन्तर्यामी को याद करेगा और साक्षी रखेगा। ऐसा करनेवाले से बुरा काम तो होगा ही नहीं और अंत में उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है, यों जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है, उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मंत्र या भजन की जरूरत नहीं होती । यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरंभ और अंत के लिए मन्त्र देखने में आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति में भगवान को याद करना है, ऐसा करने की आदत बहुत थोड़ों को ही होती है। बहुतों को हो तो दुनिया में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुंचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बांध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अन्त में हर सांस से रामनाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना में वक्त बिल्कुल नहीं जाता। उसमें वक्त की जरूरत नहीं, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आंख मूंदने में समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना में भी वह जाता नहीं मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदय में चलनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करने वाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रखकर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

१७. देख-रेख की अनावश्यकता

यरवदा-मंदिर

२४-७-३२

यह शीर्षक चौंकानेवाला है। इसका आशय यह सूचित करना नहीं है कि हम इसी वक्त बिना किसी देख-रेख के अपना काम-काज चला सकते हैं। हां, यह आशय अवश्य है कि देख-रेख घटाते जाने और अंत में उसको बिल्कुल ही दूर कर देने का उपाय सुझाये।

धार्मिक संस्था में देख-रेख की जितनी जरूरत पड़े, उतनी धर्म की न्यूनता है। उसके पीछे अविश्वास होता है। अविश्वास धर्म का--आत्मा का--घातक है। ईश्वर सबको देखनेवाला है, फिर हमें किसकी देखरेख रखनी है ? जिसने रसोई या पाखाने की सफाई अपने ऊपर ली हो वह अपने-आप ठीक तौर से अपना काम क्यों न करे ? करेगा यह विश्वास हम क्यों न रखें ? जो निगरानी के बिना लिया हुआ काम पूरा या ठीक न करे वह आश्रम छोड़ दे, यह सहन किया जा सकता है; पर निगरानी असह्य लगनी चाहिए। हमारे रोज के काम का आत्म-परीक्षण हमारी देख-रेख है।

यहां देख-रेख का अर्थ समझ लेना चाहिए। बच्चे को तो देख-रेख चाहिए ही। उसे करना आता नहीं, इसलिए सौंपे हुए काम को बताना जरूरी होता है। बड़ा भी, उसे कोई खास काम न आता हो तो, देख-रेख मांगता है, चाहता है। सच पूछिये तो इस तरह की देख-रेख नहीं, बल्कि शिक्षक की सहायता है। इस सहायता के सहारे नया सीखनेवाला आगे बढ़ता है।

पर जो देख-रेख रखवाली के रूप में है, वह दोषपूर्ण है। दूसरा आदमी अपना काम ठीक तौर से करता है या नहीं, इसकी निगरानी रखना बुरा है। बच्चों की भी ऐसी ही निगरानी रखना बुरी बात है। इस बुराई से निकल जाने का रास्ता हमें ढूंढ़ना चाहिए।

इस तलाश की पहली सीढ़ी यह है; जहां-जहां देखरेख रखी जाती हो उन कार्यों को नोट कर लो। उनमें कौन-कौन है यह देख लो। उनके साथ मशवरा करो और फिर उन्हें उनके विवेक पर छोड़ दो। संस्थापक और दूसरों को इसका पूरा भान होना चाहिए कि परमात्मा बहुत बड़ा साक्षी है। बच्चों को भी ईश्वर की उपस्थिति का भान अभी से होना चाहिए। यह कोई वहम की चीज नहीं है, अनिश्चित

नहीं है। अपने अस्तित्व पर अपने निजी अस्तित्व का जितना विश्वास हमें है, उतने ही विश्वास की यह बात है।

इस सुझाव पर सब लोग विचार करते रहें और उसपर जहांतक अमल करना शक्य है वहांतक करना अपना धर्म है।

१८. गीता कंठ करो

यरवदा-मंदिर

३१-७-३२

गीता को कंठ करने के विषय में मैं बहुत बार लिख चुका हूं, कह चुका हूं। मेरे अपने लिए यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नहीं देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नहीं मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हूं। मेरी गाड़ी ज्यों-त्यों चल गई है, क्योंकि एक बार तों मैं तेरहवें अध्याय तक कंठ कर गया था और गीता का मनन तो बरसों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया। पर मैं उसे कंठ कर सका होता, अब भी उसमें अधिक गहराई में पैठ सका होता तो हो सकता है, मैंने बहुत अधिक पाया होता। पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो, मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए यद्यपि मुझे सहज ही इसका संयोग मिल जाय तो गीता कंठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दूं।

यहां गीता का अर्थ थोड़ा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रंथ। हममें से बहुतों का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल (अमतुस्सलाम), अमीना या कुरेशी गीता के बदले कुरानशरीफ पूरा या उसका कोई भाग कंठ कर सकते हैं। जिन्हें संस्कृत न आती तो जो अब उसे सीख न सकते हों वे गुजराती या हिन्दी में कंठ करें। जिन्हें गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्मग्रंथ पर हो वे उसे कंठ करें ।

और कंठ करने का अर्थ भी समझ लीजिये। जिस चीज को हम कंठ करें उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धांतों का घातक न हो। उसका अर्थ हम समझ चुके हों।

इसका फल है। हमारे पास ग्रंथ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमें भूल जाय, हमारी आंख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जायं; पर समझ बनी हो-ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं – उस वक्त अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रंथ कंठ हो तो वह हमारे लिए भारी शांति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, संकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पुरखे-हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी-कुछ विशेष पाठ कंठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सबके अमूल्य अनुभव को हम फेंक न दें। इसमें कुछ अंशों में हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

१९. वाचन और विचार-१

यरवदा-मंदिर

१४-८-३२

पाठशालाओं में हम पढ़ते हैं – 'वाचन मिथ्या बिना विचार।'[१] यह उक्ति शब्दश: सत्य है। हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जाएगा। आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बांचता नहीं वह अवश्य मूढ़ माना जाएगा; पर जो खाली-खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है। इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आंख खो बैठते हैं, वह अलग है। निरा वाचन एक प्रकार का रोग है।

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं। वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं, विचारते नहीं। फलत: पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे ? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़ें, उसपर विचार करें और उसपर अमल करें। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़ें। ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना काम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है, जो उल्लेखनीय है। पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सकता। यह देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है। पर विचार करने की आदत पड़ जाय तो उसके पास विचारपोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अत: उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता।

विचार करना 'सीखना', यह शब्दप्रयोग मैंने जानबूझकर किया है। सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं। वह तो पागलपन है। कितने ही विचारों के भंवर में पड़कर निराश हो जाते हैं, आत्मघात भी कर बैठते हैं। ऐसे विचार की बात यहां नहीं की जा रही है। इस समय तो मेरी सूचना पढ़े हुए पर विचार करने तक है। मान लीजिये कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना, उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, क्या नहीं लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना – यह विचारपद्धति कही जायगी। यह मैंने

सादे-से-सादा दृष्टान्त लिया है | इसमें से हरेक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टान्त घटित कर ले और आगे बढ़े। ऐसा करनेवाला अंत में आत्मानंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।

---

१. 'भणतर मिथ्या वगर विचार'

२०. वाचन और विचार-२

यरवदा-मंदिर

२१-८-३२

"उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहां जो सोवत है?" – अरे मुसाफिर, उठ सवेरा हुआ। अब रात कहां है जो तू सोता है ? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा, पर विचार नहीं किया; क्योंकि वह सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है। पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आपसे पूछता है – मुसाफिर यानी कौन ? सवेरा हुआ के मानी क्या हुए ? रात गई यानी ? सोना क्या है ? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति से अनेक अर्थ निकाल ले और समझे कि मुसाफिर यानी जीवमात्र। जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है। रात के मानी आराम भी हो सकते हैं और जो जरा भी गाफिल लापरवा – रहता है, उसपर यह पंक्ति घटित होती है। जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है। यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है। यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है। यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए पूरा आध्यात्मिक पाथेय हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवाले के लिए वह बोझस्वरूप बन सकता है। यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है। सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जायं तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे।

२१. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-१

यरवदा-मंदिर

२८-८-३२

वाचन और विचार के विषय में तो मैं लिख चुका। आज कार्य और विचार के विषय में थोड़ा लिखता हूं। मेरी दृष्टि से विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएं उसके पीछे सुंदर रीति से सज जायं।

जिस स्त्री ने नेवले के मुंह में लहू लगा देखकर उसपर अपना भरा घड़ा फोड़ा, उसने बहुत ही अविचार का काम किया और अंत में अपने बच्चे को बचानेवाले का वध करने के लिए उसे बहुत पछताना पड़ा और इसका दाग जिन्दगी भर मिटा न सकी। घड़ा फूटा, पानी गया, यह तो हिसाब में लेने लायक भी न समझा जायगा। इतना भारी अपराध उसने किया।

यह दृष्टान्त तो अंतिम कहा जा सकता है; पर हमारा ध्यान इससे मूल विषय पर ठीक बैठ सकता है। आश्रम में जितने काम हम करते हैं, विचारपूर्वक करें तो शांति बढ़े, करनेवाले की दक्षता बढ़े, बहुत-सा वक्त बचे और काम में नित्य नया रस पैदा हो। हम जानवर के जरिए रहंट चलाते हैं। उसे बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है; पर उसके ज्ञान में वृद्धि नहीं होती, अपने काम में उसे रस नहीं आता। आदमी सिर पर खड़ा न हो तो वह रहंट की चर्खी घुमाये नहीं। पर हम तो मनुष्य हैं ! मनुष्य के मानी हैं विचार करनेवाला, ज्ञानवान । हमें पशु की भांति तो नहीं रहना या व्यवहार करना चाहिए।

हम पाखाना साफ करते हैं। विचार के बिना करें तो यह काम नीचा मालूम होगा, खराब लगेगा और मन यही चाहेगा कि उससे कब छूटें । विचारपूर्वक करें तो जानेंगे कि यह करना हमारा धर्म है। साफ करने के मानी हैं पूरी सफाई करना, पाखाने को ठीक तौर से ढकना, साफ करने के औजारों को साफ रखना, पाखाने की जांच करना, उसमें खून हो, बदबू हो, कीड़े हों तो समझें कि कोई बीमार है, और कौन है इसका पता लगा लें। हरेक पाखाने का कौन-कौन इस्तेमाल करता है इसका पता तो हमें होता ही है। पाखाना साफ करते वक्त मालूम हो कि वह धूल से ठीक तौर से ढका नहीं गया है, मैला बाहर पड़ा है, पेशाब भी नीचे पड़ा है, तो यह दोष करनेवाले को ढूंढें और उसको विनयपूर्वक समझावें

। यह सब तो उसीसे हो सकता है जो सेवा भाव से यह काम करें। इसलिए ज्यों-ज्यों अपने कार्य में विचार से काम लेता जाएगा त्यों-त्यों वह सुधरेगा, सहज होगा और मन ऊबने के बजाय उसमें रस आवेगा। पाखाने के बारे में जितनी बातें सोची जा सकती हैं सब यहां नहीं दी हैं, उनका नमूना भर दे दिया है।

कताई के यज्ञ को लें तो उसके विषय में भी यदि विचारमय काम हो तो हमें उसमें से रस के घूंट मिलेंगे और कताई की कला की प्रगति की हद ही ने होगी। सब विचारपूर्वक कातें तो हम बहुतेरी खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकालें।

यही बात प्रार्थना की है। प्रार्थना क्या है ? किसलिए की जाती है ? मौन क्यों रखते हैं ? प्रार्थना संस्कृत में क्यों हो ? गुजराती, मराठी या हिन्दी में क्यों न कि जाय ? आदि अनेक बातों का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचंडशक्ति बना सकते हैं, पर हम उसके विषय में कम-से-कम विचार करते हुए जान पड़ते हैं।

योग:कर्मसु कौशलम्--यह गीता का विचार प्रौढ़ है। योग का अर्थ है जुड़ना। ईश्वर के साथ जुड़ जने का नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशल से वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवाले को अपने कर्म तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए। तकली पर कातनेवाले विचारक ने चरखे का महान् आविष्कार किया। चरखा कातनेवाले ने हजारों तकलीवाला चरजखा बनाया। मेरी दृष्टि से इसमें उसकी बुद्धि खुब चली; पर हृदय नहीं चला। इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय होना चाहिए। फिर भी विचारशून्यता की तुलना में तो यंत्र का आविष्कार करनेवाले की विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

२२. सविचार कार्य और विचार-रहित कार्य-२

यरवदा-मंदिर

११-९-३२

काम करने में भी विचार-शक्ति का पूरा उपयोग करने के विषय में लिख चुका हूं। उस पत्र के अन्त में एक विचार किया था, जिसका कुछ विस्तार करना जरूरी है। उसमें मैंने यह सुझाया था कि विचार समाजपोषक होता है और समाजनाशक भी होता है, दैवी होता है और आसुरी भी होता है। एक आदमी चरखा कातते हुए रोज उसमें ऐसे सुधार करने की बात सोचता है जिससे लाखों-करोड़ों कातनेवालों को आराम मिले, लाभ हो। दूसरा सोचता है कि मैं खुद ही एक चरखे के जरिए लाखों के बराबर सूत कात लूं तो कैसा अच्छा हो ! पहले का विचार समाज-पोषक, दैवी है। दूसरे का आसुरी है, समाजहित-विरोधी है। इसलिए हरेक काम करते हुए हम विचार करें, इतना ही काफी नहीं है। वह विचार सबके हित का भी हो, केवल अपने ही स्वार्थ का नहीं। सच पुछिए तो जो केवल अपने ही स्वार्थ के लिए प्रयास करता है वह दूसरों का नुकसान तो करता ही है, अपना स्वार्थ भी अंत में नहीं साध सकता।

इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर हरेक अपने हर काम, हर उद्योग के विषय में विचार करे और बुद्धिपूर्वक काम करे तो वह उत्तम शिक्षा लेता है, अपने काम को रसमय बनाता है, अपनी बुद्धि का विकास करता है, अपने हृदय को विशाल बनाता और शुद्ध करता है, कार्य में कुशलता प्राप्त करता है और उसमें ऐसी खोजें और सुधार करता है, जिनसे समाज का कल्याण हो। फल यह होता है कि अपने काम में उसका रस बढ़ता है, इससे उसको आनन्द होता है, थकावट नहीं आती और कार्य कलामय हो जाता है, फिर भले ही वह पाखाना साफ करना हो, गली-सड़क की सफाई करना हो, साग-तरकारी काटना हो या गोशाला का हो, किताबें लिखने का हो या कोई भी हो। जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नहीं जान पड़ता। जो सामने आये उसीमें वह ईश्वर को देखेगा, उसीकी सेवा देखेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नहीं होता। उसका रस उसके अन्तर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्तियोग को समझना, साधना चाहता हो उसको हरेक काम इसी तरह करना उचित है।

विविध

नीतिमय जीवन-संबंधी स्फुट रचनाएं

१. आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वर का डर मानता है, विनयपूर्वक अपना अन्तर्नाद सुनता है, उसके अनुसार बर्तता है और मानता है, "ईश्वर जो करता है, अच्छे के लिए करता है।"

निराशावादी कहता है, "मैं करता हूं।" अगर सफलता न मिली तो अपने को बचाकर दूसरे सब लोगों के मत्थे दोष मढ़ता है। भ्रमवश कहता है, "किसे पता, ईश्वर है या नहीं", और खुद अपनेको भला और दुनिया को बुरा मानकर कहता है कि मेरी किसीने कद्र नहीं की और अन्त में आत्मघात कर लेता है, और यदि न करे तो भी मुर्दे की तरह जीवन बिताता है।

आशावादी प्रेम में मगन रहता है। किसीको अपना दुश्मन नहीं मानता। इससे वह निडर होकर जंगलों में और गाँवों में सैर करता है। भयानक जानवरों तथा ऐसे जानवरों-जैसे मनुष्यों से भी वह नहीं डरता; क्योंकि उसकी आत्मा को न तो सांप काट सकता है और न पापी का खंजर ही छेद सकता है। शरीर की तो वह चिंता ही नहीं करता, क्योंकि वह काया को कांच की बोतल समझता है। वह जानता है कि एक-न-एक दिन तो फूटने ही वाली है। इसलिए वह उसकी रक्षा के निमित्त संसार को पीड़ित नहीं करता। वह न किसीको दिक करता है, न किसीकी जान पर ही हाथ उठाता है। वह तो अपने हृदय में वीणा के मधुर गान को निरंतर सुनता है और आनन्द-सागर में डूबा रहता है।

निराशावादी स्वयं राग-द्वेष से भरपूर होता है। इसलिए वह हरएक को अपना दुश्मन मानता है और हरएक से डरता है। अन्तर्नाद तो उसके होता ही नहीं। वह तो मधुमक्खियों की तरह इधर-उधर भिनभिनाता हुआ बाहरी भोगों को भोग-भोगकर रोज थकता है और रोज नया भोग खोजता है, और इस तरह प्रेमरहित तथा अ-मित्र होकर इस दुनिया से कूच कर देता है । उसके नाम की याद तक किसीको नहीं आती।

हिन्दी नवजीवन
२८ अक्तूबर, १९२२

२. आचार बनाम विचार

मौलाना मुहम्मद अली ने इस्लाम-विषयक भाषण में जो भेद दिखाया है, उसे कितने ही समझदार और विवेकवान सज्जन भी नहीं समझ पाये हैं। मौलाना-साहब मानते हैं कि :

१. मनुष्य के आचार और विचार में भेद होता है।

२. श्रेष्ठ विचारवालों का आचार बुरा भी हो सकता है।

३. श्रेष्ठ आचारवाले के विचार दूसरे विचारों के मुकाबले में ही न हो सकते हैं।

यहां विचार का अर्थ है—विश्वास, धर्म, मत। जैसे ईसाई मत में ईसा मसीह को एकान्तिक ईश्वर मानना, इस्लाम में ईश्वर को अद्वैत और मुहम्मदसाहब को पैगम्बर मानना। हिंदू धर्म में मेरे विचार के अनुसार सत्य और अहिंसा की श्रेष्ठता मानी गई है—"सत्यात् नास्ति परो धर्म:", "अहिंसा परमो धर्म:।"

सच यह है कि सारा संसार पूर्वोक्त तीन सिद्धान्तों को मानता है। फर्ज कीजिए कि यूरोप का एक सर्वश्रेष्ठ साधु यह मानता है कि मनुष्य के शरीर की रक्षा के लिए जीवित पशु इत्यादि को तरह-तरह के कष्ट देकर उनपर प्रयोग करने अथवा उन्हें मार डालने में किसी तरह की बुराई नहीं। यही नहीं, बल्कि अहसान करने में बुराई है। इसके खिलाफ, फर्ज कीजिये कि मैं एक दुष्ट मनुष्य हूं, पर मैं मानता हूं कि मनुष्य-शरीर को बचाने के लिए भी किसी जीवधारी की हिंसा करना इन्सानियत को कम कर देना है। तो क्या उस श्रेष्ठ साधु के साथ जरा भी गुस्ताखी किये बिना मैं यह नहीं कह सकता कि केवल विचार-विश्वास-का मुकाबला करें तो मेरे दुष्ट होते हुए भी मेरा विश्वास उन सर्वश्रेष्ठ साधू के विश्वास से बहुत ऊंचे दर्जे का है ?

इस वर्तमान चर्चा में एक बात साफ तौर पर चमक उठती है और वह मानो इस अंधेरे में आशा की किरण है। सब लोग यह प्रतिपादन करते हुए मालूम होते हैं कि आचारहीन विचार बेकार हैं और अकेले शुद्ध विचार से स्वर्ग नहीं मिल सकता। मौलानासाहब ने अपनी राय में कहीं भी इस बात का विरोध नहीं किया है। इस प्रयत्न में मुझे आशा की किरणें दिखाई देती हैं, क्योंकि आचार का पालन करनेवाले तथा उसका निरादर करनेवाले, दोनों, आचार के अर्थात् सदाचार के पुजारी हैं।

परन्तु आचार की पूजा करते हुए हमें विचार की शुद्धता की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहां विचार में दोष होगा, वहां आचार अन्तिम सीढ़ी पर नहीं चढ़ पावेगा। रावण और इंद्रजीत की तपस्या में किस बात की खामी थी? इन्द्रजीत के संयम का मुकाबला करने के लिए लक्ष्मण के संयम की आवश्यकता थी—यह दिखाकर आदिकवि ने आचार का महत्व सिद्ध किया। परन्तु इन्द्रजीत के विचार – विश्वास – में आर्थिक वैभव को प्रधान पद दिया गया था और लक्ष्मण के विश्वास में वह पद परमार्थ को मिला था। अतएव अंत में कवि ने लक्ष्मण को विजयमाला पहनाई। "यतो धर्मस्ततो जय: का" भी अर्थ यही है। यहां धर्म का अर्थ यही हो सकता है कि उच्च-से-उच्च विचार अर्थात विश्वास और उसका उच्च-से-उच्च आचार।

एक तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा में जगह नहीं है। वे हैं ढोंगी। उनके पास विचार का, विश्वास का, केवल दावा भर है; पर आचार बिल्कुल स्वांग है – आडंबर है। वास्तव में उनका विश्वास ही नहीं होता। तोता 'राम-राम' रटता है तो क्या इससे लोग उसे राम-भक्त कहेंगे ? फिर भी हम दो तोतों या तोते और चिड़िया की बोली की तुलना करके उनकी बोली की कीमत आंक सकते हैं।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अप्रैल, १९२४

३. मनुष्य-मात्र का बन्धुत्व

आज मुझे आपके सामने मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलते हुए आनन्द होता है। अब वहां हमारे जिन भाइयों की विडम्बना हो रही है, उन्हें मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व का क्या खयाल आ सकता है ? वे तो कहेंगे कि जहां से हिन्दुस्तानियों का निकालने का, अथवा एक अंगरेज की मालिकी वाले अखबार ने जैसा कि कहा है, वहां से भूखों मार-मारकर उन्हें निकालने का प्रयत्न वहां की सरकार कर रही है वहां बन्धुत्व किस तरह हो सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। फिर भी मैंने आपके समक्ष इस विषय पर बोलना इसीलिए स्वीकार किया है कि ऐसी विडम्बना के समय और बुरे दिन में ही मनुष्य के प्रति मनुष्य के बन्धुत्व की सच्ची आजमाइश होती है।

बहुत बार मेरी स्तुति की जाती है। उसे मैं एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देता हूं। पर आज आपने जिस गुण का आरोप मुझपर किया है, उसे स्वीकार करने को जी चाहता है। आप कहते हैं कि मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व पर बोलने का अधिकार यदि किसीको हो तो वह आपको अवश्य होना चाहिए। मैं इस बात को मानता हूं। मैंने अनेक बार यह देखने की कोशिश की है कि मैं अपने शत्रु से घृणा कर सकता हूं या नहीं – यह देखने का नहीं कि प्रेम कर सकता हूं या नहीं, पर यह देखने का कि घृणा कर सकता हूं या नहीं – और मुझे ईमानदारी के साथ परन्तु पूरी-पूरी नम्रता के साथ कहना चाहिए कि मुझे नहीं मालूम हुआ कि मैं उससे घृणा कर सकता हूं। मुझे यह याद नहीं आता कि कभी भी मनुष्य के प्रति मेरे मन में तिरस्कार उत्पन्न हुआ हो। मैं नहीं समझ सकता कि यह स्थिति मुझे किस तरह प्राप्त हुई है। पर आपसे यह कहता हूं कि जीवनभर मैं इसीका आचरण करता आया हूं।

बन्धुत्व का अर्थ यह नहीं कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहें, उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्व में व्यापार नहीं होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्यत्व के साथ नहीं, प्राणि-मात्र के साथ होना चाहिए। कितनी ही मानव-दया-सभाएं इग्लैंड में मासिक पत्र निकालती हैं। एक पत्र में तीस-पैंतीस साल पहले मैंने 'मेरा भाई बैल' नाम की कविता पढ़ी थी। उसमें यह उपदेश बड़ी मनोहर रीति से दिया गया था कि मनुष्य को चाहनेवाला प्राणि-मात्र पर प्रेम करे। मैं उसपर मुग्ध हो गया था। उस समय मुझे हिन्दू धर्म का बहुत कम ज्ञान था। मेरे आस-पास के वायुमण्डल से, मेरे माता-पिता से, तथा स्वजनों से, जो कुछ मिल सकता था, मिला था। तो भी इतना

तो मैं समझ ही गया था कि सब धर्म प्राणि-मात्र के बन्धुत्व का उपदेश करते हैं। पर मैं आज इस व्यापक बन्धुत्व की बात करना नहीं चाहता। मैं तो यह बात यह दिखलाने के लिए करता हूं कि यदि हम अपने शत्रु के साथ भी प्रेम करने के लिए तैयार न हों, तो हमारा बन्धुत्व और कुछ नहीं, एक ढकोसला है। दूसरी तरह से कहूं कि जिसने अपने हृदय में बन्धुत्व के भाव को स्थान दिया है, वह यह नहीं कह सकता कि उसका कोई शत्रु है। लोग चाहें हमें अपना शत्रु मानते रहें पर हम ऐसा दावा न करें।

तब सवाल यह होता है कि जो हमें अपना शत्रु समझते हैं उनके साथ प्रेम किस तरह करें ? प्रतिदिन मुझे हिन्दु, मुसलमान ईसाई लोगों की चिट्ठियां मिलती हैं, जिनमें वे कहते हैं कि यह बात गलत है कि हम शत्रु को मित्र मान सकते हैं। हिन्दू लेखक लिखते हैं कि जो गाय हमारे लिए प्राण-समान प्रिय है, उसको मारनेवाले मुसलमान के साथ प्रेम किस तरह हो सकता है ? ईसाई लेखक पूछते हैं कि अस्पृश्यता को माननेवाले, अपने भाइयों को अछूत समझकर दलित करनेवाले हिन्दुओं के साथ प्रेम किस तरह करें ? लेखक, यदि वह मुसलमान, हो तो पूछता है कि बुतपरस्त हिन्दुओं के साथ मुहब्बत कैसे हो सकती है ? उन तीनों से मेरा यह कहना है, "आपका बन्धुत्व बेकार है, यदि आप अपने वर्णित इन लोगों को नहीं चाह सकते हैं।" परन्तु इस तिरस्कार-भाव का अर्थ क्या है ? इसके मूल में भय है या सहिष्णुता? यदि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं तो हम एक-दूसरे से क्यों डरें, अथवा हमसे भिन्न मत रखनेवाले से द्वेष क्यों करें ? पर जिस कृत्य से हम घृणा करते हों, वह क्या किसी मुसलमान को करने दें ? मेरा बन्धुत्व उत्तर देता है, "हां।" और उसमें इतनी बात अधिक जोड़ता है, "आप अपने को कुरबान कर दीजिये। जो वस्तु आपको प्रिय हो, यदि आप उसकी रक्षा करना चाहते हों तो आप बिना किसी पर हाथ उठाये उसके लिए मर जाइये।" मुझे ऐसी घटनाओं का अनुभव है। आपके अन्दर यदि प्रेम के साथ कष्ट सहने की हिम्मत हो, तो आप पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी कर सकोगे। बदमाश यदि आपसे सवाया बलवान् हो तो आप हाथ उठाकर कया करेंगे ? वह आपको जीतकर अधिक बदमाशी न करेगा? दुष्टता की आग विरोध के घी से अधिक नहीं धधकती ? क्या इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है ? और क्या इतिहास में ही ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुंच जाने वालों ने बड़े-बड़े विकाल पशुओं को वश में कर लिया है ? पर इस पराकाष्ठा की अहिंसा को जानें दें। इसके लिए तो महा शूरवीर योद्धा से भी अधिक बहादुरी की जरूरत है। और जिसके प्रति आपके मन में तिरस्कार हो,

उसके साथ लड़कर मर जाने के डर से बैठे रहने की अपेक्षा तो लड़ लेना अच्छा है। कायरता और बन्धुत्व परस्पर-विरोधी हैं। संसार शत्रु के साथ प्रीति करने की बात को स्वीकार नहीं करता। ईसा के अनुयायी यूरोप में भी अहिंसा के सिद्धांत का मजाक उड़ाया जाता है। वहां से कोई साहब लिखते हैं, "अहिंसा का सिद्धांत अधिक समझाइये", तो कोई कहते हैं, "हिन्दुस्तान में बैठे-बैठे आप भले ही ऐसी बातें कीजिये, किन्तु यूरोप में आप ऐसा नहीं कर सकते ।" और कितने ही लिखते हैं कि ईसाई धर्म तो आज पाखण्ड हो रहा है, ईसाई लोग ईसा के सन्देश को नहीं समझते। इस तरह उसके पहुंचाने की जरूरत है कि हम समझ जायं। तीनों की दृष्टियों से तीनों का कथन ठीक है, पर मुझे कहना होगा कि यदि शत्रु को चाहने का सिद्धांत स्वीकार न करें तो बन्धुत्व की बातें करना हवा में महल बनाना है। कितने ही स्त्री-पुरुष मुझसे पूछते हैं कि क्या लोग वहीं वैर-भाव को छोड़ सकते हैं ? मैं कहता हूं, "हां।" हमें अपने मनुष्यत्व का पूरा भान नहीं, इसीसे वैर नहीं छोड़ा जाता। डार्विन कहता है, हम बन्दर के वंशज हैं। यदि यह सच हो तो हम अभी मनुष्य की दशा प्राप्त नहीं कर पाये हैं। डा. आना किंग्सफर्ड ने लिखा है कि मैंने पेरिस में मनुष्य के रूप में सिंह, शेर, भालू और सांप को विचरते हुए देखा है। इस पशुत्व को मिटाने के लिए मनुष्य को भय छोड़ने की आदश्यकता है। डर अपने अन्दर बल उत्पन्न करके दूर किया जा सकता है, हथियार से सुसज्जित होकर नहीं। महाभारत ने वीर का भूषण अथवा वीर का गुण क्षमा बताया जाता है। जनरल गार्डन का एक पुतला है। उसकी बहादुरी बताने के लिए उसके हाथ में तलवार नहीं, बल्कि एक छड़ी रक्खी गई है। यदि मैं शिल्पकार होता और मैं गार्डन की मूर्ति बनाता तो मैं उन्हें अदब के साथ सीना ताने हुए खड़ा बनाता और नीचे लिखे शब्द संसार को सुनाता हुआ बनाता :

"चाहे कितने ही प्रहार करो, बिना भय के, बिना वैर के उन्हें झेलने के लिए यह सीना खुला हुआ है।"

यह है मेरे वीर का आदर्श ! ऐसे वीर जगत् में अमर हुए हैं। ईसाई धर्म ने ऐसे शूरवीरों को जन्म दिया है। हिन्दू धर्म और इस्लाम ने भी दिया है। मुझे यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि इस्लाम तलवार का धर्म है। इतिहास ऐसा नहीं दिखलाता।

ये तो व्यक्तियों की बातें हैं। जातियों के निर्वैर हो जाने के भी उदाहरण हैं। ज्यों-ज्यों हम बंधुत्व का सबक सीखते जायंगे और उसके अनुसार चलते जायंगे, त्यों-त्यों वह व्यापक होता जायगा। क्वेकर तथा टालस्टाय वर्णित दुखोबोर का इतिहास क्या कहता है !

परन्तु यूरोप के कितने ही प्रशस्त लेखक तथा भारत के बड़े लेखक कहते हैं कि ऐसा समय कभी नहीं आ सकता कि मनुष्यजाति निर्वैर हो जाय। इसी बात पर मेरा विवाद है। मैं उलटा यह कहता हूं कि मनुष्य जबतक निर्वैर नहीं हो जाता तबतक वह मनुष्य नहीं बन सकता, अपने धाम को नहीं पहुंच सकता। हम चाहें या न चाहें, हमें इसी रास्ते जाना होगा, और आज मैं आपसे यह कहने आया हूं कि लाचार होकर इस रास्ते जाने की अपेक्षा स्वेच्छा से क्यों नहीं जाते ? यह बात जरा विचित्र मालूम होगी कि मुझे ईसाइयों के सामने यह बात करनी पड़ती है। परन्तु हिन्दुओं के सामने भी यही बात करनी पड़ती है। कितने ही ईसाई तो मुझसे कहते हैं कि हजरत ईसा की निर्वैरता का उपदेश केवल उनके बारह शिष्यों के ही लिए था। हिन्दुस्तान में अहिंसा के विराधी लोग कहते हैं कि अहिंसा से नामर्दी फैलेगी। मैं आपसे कहने के लिए आया हूं कि यदि भारतवर्ष अहिंसक न बनेगा तो उसका सर्वनाश समझिये, दूसरी तमाम कौमों का नाश समझिये। भारतवर्ष तो एक भारी भूखण्ड है। वह यदि हिंसक हो जाय तो और खण्डों की तरह वह भी दुर्बल पर सीनाजोरी करेगा और यदि ऐसा हुआ तो इसका क्या फल होगा, इसकी कल्पना कर लीजिये।

मेरी राष्ट्रीयता में प्राणि-मात्र का समावेश होता है। संसार की समस्त जातियों का समावेश होता है। और यदि मैं भारतवर्ष अहिंसा का कायल कर सकूं तो भारत सारे जगत् को भी चमत्कार दिखा सकेगा। मैं नहीं चाहता कि भारत दूसरे राष्ट्रों की चिता-भस्म पर खड़ा हो। मैं चाहता हूं कि भारत आत्म-बल प्राप्त करे और दूसरे राष्ट्रों को बलवान बनावे। दूसरे राष्ट्र हमें बल का मार्ग नहीं दिखा रहे हैं। इसीलिए मुझे इस अचल सिद्धांत का आश्रय लेना पड़ा है कि मैं कभी उस विधान को स्वीकार न करूंगा, जिसका आधार पशु-बल हो।

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चौदह सिद्धान्तों की रचना की और उसपर कलश चढ़ाते हुए कहा, “यदि हम इसमें सफल न हों तो फिर हथियार तो है ही।” मैं इसे उलट कर कहना चाहता हूं, “हमारे सब

पार्थिव शस्त्र बेकार हुए हैं, किसी नये शस्त्र को खोजें | चलो, अब प्रेम का शस्त्र—सत्य का शस्त्र—लें। यह शस्त्र जब हमें मिल जायगा तब हमें दूसरे किसी शस्त्र की जरूरत न रहेगी।

हिन्दी नवजीवन,
२७ अगस्त १९१५

४. अत्याचारी पर प्रेम किस तरह ?

पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। हम सब पाप से युक्त हैं। फिर भी हम चाहते हैं कि संसार हमें सहन करे, निबाहे। तब अंग्रेजों को भी हम क्यों न निबाह लें ? ईश्वर जानता है कि अंग्रेज राज-कर्त्ताओं के पाप की टीका मुझसे अधिक सख्त और निडर दूसरे किसी ने न की होगी, वर्तमान शासन-प्रथा की दुष्टता की निन्दा मुझसे अधिक कठोर किसी ने न की होगी। फिर भी उस प्रथा के प्रवर्तकों या संचालकों से मुझे जरा भी घृणा नहीं। अपने विषय में तो मेरा दावा है कि मैंने उनके प्रति प्रेम रक्खा है और फिर भी उनके अपराध के प्रति मैं अन्धा नहीं। हम प्रेम तभी करें जब किसी में गुण हो, तो क्या इसे प्रेम कह सकते हैं ? यदि मैं अपने धर्म का पालन करने वाला हूं, यदि मैं मानव-जाति के प्रति अपना कर्तव्य-पालन करता हूं तो मुझे मनुष्य-जाति की दोष-पात्रता, अपने विरोधियों की न्यूनता और पाप के देखने पर उनके प्रति घृणा नहीं, बल्कि प्रेम करना चाहिए। मैंने तो प्रचलित शासन-प्रणाली को 'राक्षसी' कहा है और अब भी कहता हूं, परन्तु इसलिए यदि उस के संचालकों को सजा दिलाने को षड्यन्त्र रचने लगूं तो बस मेरा खात्मा समझिये। असहयोग द्वेष या घृणा का मंत्र नहीं, प्रेम का मंत्र है। कितने ही सत्याग्रही और असहयोगी केवल नामधारी हैं, यह मैं जानता हूं। वे कदम-कदम पर अपने धर्म का ध्वंस करते हैं, यह मुझे पता है। परन्तु इस प्रेम-मंत्र के रहस्य के विषय में तो बिल्कुल संदेह ही नहीं है। इसका रहस्य यह है कि स्वयं कष्ट उठा कर विराधी को जीतना, स्वयं संकट सहन कर जालिम को नम्र बनाना। सत्याग्रह का रहस्य यही है कि जो धर्म पिता और पुत्र में है, वही एक समूह का दूसरे समूह के प्रति, शासक और शासित में पालन किया जाय। पुत्र पिता के और पिता पुत्र के प्रति अपनी आंख मूंद रक्खे तो उसका प्रेम अन्धा है, पर उसके पाप को जानते हुए यदि प्रेम से उसे जीते, तभी उस प्रेम में विवेक है। यह विवेक-युक्त प्रेम सुधारक का प्रेम है और यह प्रेम सब दुःखों के निवारण की कुंजी है।

हिन्दी नवजीवन
१० सितम्बर १९२५

५. प्रिय और अप्रिय सत्य

हाल ही में प्रकाशित हुए एक लेखक के एक पत्र में से मैंने कुछ वाक्य निकाल डाले थे। उसके सिललिले में वे शिकायत करते हैं:

"मेरे उस पत्र से आपने जो कुछ अंश निकाल डाला, उसके होते हुए भी मैं कहता हूं कि आपको भेजे अपने तमाम पत्रों में और खासकर उनमें, जिनका संबंध जातिगत प्रश्नों से है, मैंने 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न बूयात सत्यम प्रियम्' इस दूरदृष्टि-पूर्ण वचन का पालन नहीं किया है, बल्कि विलियम लॉयड गैरिसन की उस उक्ति का पालन किया है, जो कि 'इंडियन सोशल रिफार्मर' बम्बई का ध्येय-सूत्र है – मैं सत्य की तरह कठोर-अप्रिय बोलूंगा और न्याय की तरह अटल आग्रही रहूंगा, आदि।"

मैं अप्रिय सत्य का ख्याल नहीं करता। हां, तीखे, चटपटे सत्य पर जरूर मेरा ऐतराज है। तीखी, चटपटी भाषा सत्य के नजदीक उतनी ही विजातीय है, जितनी कि नीरोग जठर के लिए तेज मिर्च। जो वाक्य मैंने हटा लिये थे, वे लेखक के आशय को स्पष्ट करने के लिए या उसमें से कोई मुद्दा निकालने के लिए आवश्यक न थे। वे न तो उपयोगी थे, न आवश्यक, उल्टा दिल दुखाने वाले थे। ऐसा विचार करने का रिवाज-सा पड़ गया दिखाई देता है कि सच बोलने के लिए मनुष्य को अप्रिय भाषा का प्रयोग करना चाहिए, हालांकि जब सत्य अप्रियता के साथ में उपस्थित करते हैं तब उसको हानि पहुंचती है। यह ऐसा ही है जैसा कि शक्ति को सहारा देना। सत्य स्वयं ही पूर्ण शक्तिमान् है और जब कड़े शब्दों के द्वारा उसकी पुष्टि का प्रयत्न किया जाता है तब वह अपमानित होता है। मुझे उस संस्कृत-वचन में और गैरिसन के सूत्र में कोई विरोध नहीं दिखायी देता। मेरी राय में संस्कृत-श्लोक का अर्थ है कि मनुष्य को सत्य प्रिय-मृदु-भाषा में बोलना चाहिए। यदि मृदुलता से ऐसा न कर सके तो बेहतर है कि वह चुप रहे। इसका आशय यह है कि जो मनुष्य अपनी जिव्हा को कब्जे में नहीं रख सकता, उसमें सत्य का अधिष्ठान नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो "अहिंसा-शून्य सत्य, नहीं, बल्कि असत्य है।" गैरिसन के सूत्र का अर्थ उसके जीवन को सामने रखकर लगाना चाहिए। वह अपने समय का एक नम्र-से-नम्न मनुष्य था। उसकी भाषा को देखिये, वह सत्य की ही तरह कठोर होगी, पर चूंकि सत्य वही होता है, जोकि कभी कठोर नहीं होता, बल्कि हमेशा प्रिय और हितकर होता है, उस सूत्र का यही अर्थ हो सकता है कि गैरिसन उतना ही नम्र होगा, जितना कि सत्य। बस, दोनों वचन वक्ता या लेखक की आंतरिक अवस्था से सम्बन्ध रखते

हैं, उस प्रभाव से नहीं, जोकि उन लोगों पर पड़ेगा, जिनके सम्बन्ध में वह लिखा या कहा गया हो. . . इन दिनों, जबकि चारों ओर कटुता फैली हुई है, अति सावधानी से भी कोई भारी बात नहीं कही जा सकती। और आखिर पूर्ण सत्य को जानता ही कौन है ? मामूली व्यवहारों में तो सत्य सिर्फ एक सापेक्ष शब्द है। जो बात मेरे नजदीक सत्य नहीं हो सकती, वही आवश्यक रूप से मेरे अन्य साथियों के नजदीक सत्य नहीं हो सकती। हम सब उन अंधे आदमियों की तरह हैं, जिन्होंने हाथी को टटोल-टटोलकर उसका जुदा-जुदा वर्णन किया था और उनकी बुद्धि और विचार के अनुसार वे सब सच थे, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि वे सब गलती पर थे। हर आदमी सत्य से बहुत दूर रहा था। इसलिए यदि कोई आदमी कटुता से बचते रहने की आवश्यकता पर जोर दे तो वह कुछ ज्यादा बात नहीं कही जा सकती। कटुता से कल्पना-पथ मलिन हो जाता है और मनुष्य उस मर्यादित सत्य को भी देखने में उस हद तक असमर्थ हो जाता है, जिस हद तक कि शरीर से अंधे मनुष्य देख पायें।

हिन्दी नवजीवम
१७ सितम्बर, १९२५

६. यह सुधार है ?

एक लेखक, जिन्हें मैं अच्छी तरह पहचानता हूं, इस प्रकार लिखते हैं :

"बार-बार मन में यही सवाल होता है कि क्या प्रचलित नीति प्राकृतिक नीति है ? आपने नीति-धर्म की पुस्तक लिखकर प्रचलित नीति का समर्थन किया है। क्या यह प्रचलित नीति कुदरती है ? मेरा तो यह खयाल है कि वह कुदरती है, क्योंकि वर्तमान नीति के कारण ही मनुष्य विषय-विकार में पशु से भी अधम बन गया है। आज की नीति की मर्यादा के कारण संतोषकारक विवाह शायद ही कहीं होता होगा, नहीं होता है, यह कहूं तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। जब विवाह का नियम न था, उस समय कुदरत के नियमों के अनुसार स्त्री-पुरुषों का समागम होता था और वह समागम सुख-रूप होता था। आज नीति के बन्धनों के कारण वह समागम एक प्रकार का दु:ख हो गया है। इस दु:ख में सारा जगत् फंसा हुआ है और फंसता जा रहा है।

"अब नीति कहेंगे किसे ? एक नीति दूसरे की अनीति होती है। एक एक ही पत्नी के साथ विवाह का होना स्वीकार करता है, दूसरा अनेक पत्नी करने की इजाजत देता है। कोई काका-मामा की सन्तानों के साथ विवाह-सम्बन्ध को त्याज्य मानते हैं तो कोई उसके लिए इजाज़त भी देते हैं। तो अब इसमें नीति क्या समझनी चाहिए ? मैं तो यह कहता हूं कि विवाह एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था है, उसका धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। पुराने जमाने के महापुरुषों ने देशकालानुसार नीति की व्यवस्था की थी।

"अब इस नीति के कारण जगत् की कितनी हानि हुई है, इसकी जांच करें :

(१) प्रमेह (सुज़ाक) उपदंश (गरमी) इत्यादि रोग उत्पन्न हुए। पशुओं में ये रोग नहीं होते हैं, क्योंकि उनमें प्राकृतिक समागम होता है।

(२) बाल-हत्याएं करायीं। यह लिखने में मेरा हृदय कांप उठता है। केवल इस नीति के नियम के कारण ही तो एक कोमल हृदय की माता क्रूर बनकर अपने बालक का गर्भ में या उसके गर्भ के बाहर आने पर नाश करती है।

(३) बाल-विवाह, वृद्ध पति के साथ छोटी उम्र की लड़कियों का विवाह इत्यादि पसन्द न करने योग्य समागमों का होना। ऐसे समागमों के कारण ही आज संसार और उसमें भी विशेषकर भारतवर्ष, दुर्बल बना हुआ है।

(४) जर, जोरू और ज़मीन के तीन प्रकार के झगड़ों में भी जोरू के लिए किये गए झगड़ों को प्रथम्र स्थान प्राप्त है। ये भी वर्तमान नीति के कारण ही होते हैं।

"उपरोक्त चार कारणों के सिवा दूसरे कारण भी होंगे। यदि मेरी दलील ठीक है तो क्या प्रचलित नीति में कोई सुधार नहीं किया जाना चाहिए ?

"ब्रह्मचर्य को आप मानते हैं, यह ठीक ही है। परन्तु ब्रह्मचर्य राजी-खुशी का होना चाहिए, जबर्दस्ती का नहीं। और हिन्दू लोग लाखों विधवाओं से जबर्दस्ती ब्रह्मचर्य का पालन कराते हैं। इन विधवाओं के दु:खों को तो आप जानते ही हैं। आप यह भी जानते हैं कि इसी कारण से बाल-हत्याएं होती हैं। यदि आप पुनर्विवाह के लिए एक बड़ी हलचल करें तो क्या बुरा ? उसकी आवश्यकता भी कुछ कम नहीं है। आप उसके प्रति जितना चाहिए, उतना ध्यान क्यों नहीं दे रहे हैं ?"

मैं यह खयाल करता हूं कि लेखक ने ऊपर जो प्रश्न पूछे हैं, इस विषय पर मुझसे कुछ लिखाने के लिए ही पूछे हैं, क्योंकि ऊपर के लेख में जिस पक्ष का समर्थन किया गया है, उसका लेखक स्वयं ही समर्थन करते हों तो इसकी मुझे कभी बू तक नहीं मिली है, परन्तु मैं यह जानता हूं कि उन्होंने जैसे प्रश्न पूछे हैं, वैसे प्रश्न आजकल भारतवर्ष में भी हो रहे हैं। उसकी उत्पत्ति पश्चिम में हुई, और विवाह को पुरानी, जंगली और अनीति की वृद्धि करने वाली प्रथा मानने वालों की संख्या पश्चिम में कुछ कम नहीं है। शायद वह संख्या बढ़ रही होगी। विवाह को जंगली साबित करने के लिए पश्चिम में जो दलीलें दी जाती हैं, उन सब दलीलों को मैंने नहीं पढ़ा है। परन्तु ऊपर लेखक ने जैसी दलीलें की हैं, वैसी ही वे दलीलें हों तो मेरे-जैसे पुराण-प्रिय को (अथवा यदि मेरा दावा कुबूल रक्खा जाय तो सनातनी को) उनका खण्डन करने में कोई मुश्किल या पसोपेश न होगा।

मनुष्य की तुलना पशु के साथ करने में ही मूलत: गलती होती है। मनुष्य के लिए जो नीति और आदर्श रक्खे गये हैं, वे बहुतांश में पशु-नीति से जुदा हैं। और उत्तम हैं और यही मनुष्य की विशेषता है अर्थात् कुदरत के नियमों का जो अर्थ पशु-योनि के लिए किया जा सकता है, वह मनुष्य-योनि के लिए

हमेशा नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ने मनुष्य को विवेक-शक्ति दी है। पशु केवल पराधीन है। इसलिए पशु के लिए स्वतंत्रता अथवा अपनी पसंदगी-जैसी कोई चीज़ नहीं है। मनुष्य की अपनी पसन्दगी होती है। वह सार-असार का विचार कर सकता है और उसके स्वतंत्र होने से उसे पाप-पुण्य भी लगता है, और जहां उसकी अपनी पसन्दगी रक्खी गयी है, वहां उसे पशु से भी अधम बनने का अवकाश रहता है। उसी प्रकार यदि वह अपने दिव्य स्वभाव के अनुकूल चले तो वह आगे भी बढ़ सकता है। जंगलियों में भी जंगली दीखने वाली कौमों में भी थोड़े-बहुत अंशों में विवाह का अंकुश होता है। यदि यह कहा जाय कि यह अंकुश रखने में ही जंगलीपन है, क्योंकि पशु किसी अंकुश के वश नहीं होते हैं तो उसका परिणाम यह होगा कि स्वच्छन्दता ही मनुष्य का नियम बन जायगा। परन्तु यदि सब मनुष्य चौबीस घण्टे तक भी स्वेच्छाचारी बनकर रहें तो सारे जगत् का नाश हो जायगा। न कोई किसी की मानेगा, न सुनेगा, स्त्री और पुरुष में मर्यादा का होना अधर्म गिना जायगा, और मनुष्य का विकार तो पशु के बनिस्बत कहीं अधिक होता है। इस विकार की लगाम ढीली कर दी कि उसके वेग से उत्पन्न होने वाला अग्नि ज्वालामुखी की तरह भभक उठेगा और संसार को क्षण मात्र में भस्म कर देगा। थोड़ा-सा विचार करने पर यह मालूम होगा कि मनुष्य इस संसार में दूसरे अनेक प्राणियों पर जो अधिकार प्राप्त किये हुए हैं, वह केवल संयम, त्याग और आत्मबलिदान, यज्ञ और कुरबानी के कारण ही प्राप्त किये हुए हैं।

उपदेश, प्रमेह इत्यादि का उपद्रव विवाह के नियमों का भंग करने से और मनुष्य के पशु न होने पर भी पशु का अनुकरण करने में दोषी बन जाने से ही होता है। विवाह के नियमों का पालन करने वाले ऐसे एक भी शख्स को मैं नहीं जानता हूं, जिसे इन भयंकर रोगों का शिकार होना पड़ा हो। जहां-जहां ये रोग हुए हैं, वहां-वहां अधिकांश में विवाह-नीति की भंग करने से ही वे हुए हैं अथवा उस नीति का भंग करने वालों के स्पर्श से ही हुए हैं। वैद्यक शास्त्र से यह बात सिद्ध होती है। बाल-विवाह और बाल-हत्या का निर्दय रिवाज इस विवाह-नीति के कारण नहीं, परन्तु विवाह-नीति के भंग से ही उस रिवाज की उत्पत्ति हुई है। विवाह-नीति तो यह कहती है कि जब पुरुष अथवा स्त्री योग्य वय के हों, उन्हें प्रजोत्पत्ति की इच्छा हो, उनका स्वास्थ्य अच्छा हो, तभी वे अमुक मर्यादा का पालन करते हुए अपने लिए योग्य पत्नी या पति ढूंढ़ लें अथवा उनके माता-पिता उसका प्रबन्ध कर दें। जो साथी ढूंढ़ा जाय, उसमें भी आरोग्य इत्यादि के गुणों का होना आवश्यक है। इस विवाह-नीति का पालन करने वाले मनुष्य,

संसार में चाहे कहीं भी जाओ और देखो, सुखी ही दिखायी देंगे। जो बात बाल-विवाह के सम्बन्ध में है, वही वैधव्य के सम्बन्ध में भी है। विवाह-नीति के भंग से ही दु:खरूप वैधव्य उत्पन्न होता है जहां विवाह शुद्ध होता है वहां वैधव्य अथवा विधुरता सहज सुख-रूप और शोभा-रूप होती है। जहां ज्ञानपूर्वक विवाह-सम्बन्ध जोड़ा गया है, वहां वह सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं होता है, वह आत्मिक हो जाता है और देह छूट जाने पर भी आत्मा का सम्बन्ध भुलाया नहीं जा सकता है। जहां इस सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वहां पुनर्विवाह असम्भव है, अयोग्य है और अधर्म है। जिस विवाह में उपर्युक्त नियमों का पालन नहीं होता है, उस विवाह के सम्बन्ध को विवाह का नाम नहीं दिया जाना चाहिए। और जहां विवाह नहीं होता है, वहां वैधव्य अथवा विधुरता-जैसी कोई चीज ही नहीं होती है। यदि हम ऐसे आदर्श विवाह बहुत होते हुए नहीं देखते हैं तो उससे विवाह की प्रथा का नाश करने का कोई कारण नहीं दिखायी देता है। हां, उसे उत्तम आदर्श के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करने के लिए वह एक सबल कारण अवश्य हो सकता है।

सत्य के नाम से असत्य का प्रचार करने वालों की संख्या को देखकर यदि कोई सत्य का ही दोष निकाले और उसकी अपूर्णता सिद्ध करने का प्रयत्न करे तो हम उसे अज्ञानी कहेंगे। उसी प्रकार विवाह के भंग के दृष्टान्तों से विवाह-नीति की निन्दा करने का प्रयत्न भी अज्ञान और अविचार का ही चिन्ह है।

लेखक कहते हैं कि विवाह में धर्म या नीति कुछ भी नहीं है, वह तो एक रूढ़ि अथवा रिवाज है, और वह भी धर्म और नीति के विरुद्ध है और इसलिए उठा देने के योग्य है। मेरी अल्प मति के अनुसार तो विवाह धर्म की मर्यादा है और उसे यदि उठा दिया जायगा तो संसार में धर्म-जैसी कोई चीज़ ही न रहेगी। धर्म की जड़ ही संयम अथवा मर्यादा है। जो मनुष्य संयम का पालन नहीं करता है, वह धर्म को क्या समझेगा ? पशु के बनिस्बत मनुष्य में बहुत ही अधिक विकार होता है। दोनों में जो विकार है उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती है। जो मनुष्य विकारों को अपने वश में नहीं रख सकता है, वह मनुष्य ईश्वर को पहचान ही नहीं सकता है। इस सिद्धान्त का समर्थन करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि जो लोग ईश्वर का अस्तित्व अथवा आत्मा और देह की भिन्नता को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए विवाह-बन्धन की आवश्यकता को सिद्ध करना बड़ा ही मुश्किल काम है। परन्तु जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसका विकास करना चाहता

है, उसे यह समझाने की कोई आवश्यकता न होगी कि देह का दमन किये बिना आत्मा की पहचान और उसका विकास असम्भव है। देह या तो स्वच्छन्दता का भाजन होगा अथवा आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र होगा। यदि वह आत्मा की पहचान करने के लिए तीर्थ-क्षेत्र है तो स्वेच्छाचार के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं है। देह को प्रतिक्षण आत्मा के वश में लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

ज़मीन, जोरू और ज़र ये तीनों वहीं झगड़े का कारण होते हैं, जहां संयम-धर्म का पालन नहीं होता है। विवाह की प्रथा को जितने अंशों में मनुष्य आदर की दृष्टि से देखते हैं, उतने अंशों में स्त्री झगड़े का कारण होने से बच जाती है। यदि पशु की तरह प्रत्येक स्त्री-पुरुष भी जहां जैसा चाहे, वैसा व्यवहार रख सकते होते तो मनुष्यों में बड़ा झगड़ा होता और वे एक-दूसरे का नाश करते। इसलिए मेरा तो यह दृढ़ अभिप्राय है कि जिस दुराचार और जिन दोषों का लेखक ने उल्लेख किया है उसकी औषधि विवाह-धर्म का छेदन नहीं है, परन्तु विवाह-धर्म का सूक्ष्म निरीक्षण और पालन है।

किसी जगह रिश्तेदारों में विवाह-सम्बन्ध जोड़ने की स्वतंत्रता होती है और किसी जगह ऐसी स्वतंत्रता नहीं होती। यह सच है, यह नीति की भिन्नता है। किसी जगह एक पत्नी-व्रत का पालन करना धर्म माना जाता है और किसी जगह एक समय में अनेक पत्नी करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता है। यह बात चाहने योग्य है कि ऐसी नीति की भिन्नता न हो, परन्तु यह भिन्नता हमारी अपूर्णता की सूचक है, नीति की अनावश्यकता की सूचक कभी नहीं। ज्यों-ज्यों हम अधिक अनुभव करते जायंगे, त्यों-त्यों सब कौमों की और सभी धर्मों के लोगों की नीति में ऐक्य होता जायगा। नीति के अधिकार का स्वीकार करने वाला जगत् तो आज भी एक-पत्नी-व्रत को आदर की दृष्टि से देखता है। किसी भी धर्म में अनेक पत्नी करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ अनेक पत्नी करने की इजाजत ही है। देश और समय को देखकर अमुक इजाजत दी जाय तो उससे आदर्श कुछ कुछ बिगड़ता नहीं है और न उसकी कोई भिन्नता ही सिद्ध होती है।

विधवा-विवाह के सम्बन्ध में मैं अपने विचारों को अनेक बार प्रकाशित कर चुका हूं। बाल-विधवा के-पुनर्विवाह को मैं इष्ट मानता हूं यही नहीं, मैं यह भी मानता हूं कि उनकी शादी कर देना उनके माता-पिता का कर्तव्य है।

हिन्दी नवजीवन, २९ अप्रैल १९२६

७. शास्त्राज्ञा बनाम बुद्धि

वह शिक्षक, जिन्होंने अपने शिष्यों को चरखा चलाना इसलिए सिखाया था कि मेरी आज्ञा है, लिखते हैं :

"२४ जून १९२६ के 'यंग इंडिया' में 'महात्माजी का हुक्म' शीर्षक आपका लेख पढ़कर निम्नलिखित शंकाएं मेरे मन में उत्पन्न हुई :

"आप विवेक को बहुत प्रधानता देते हैं। क्या आपने 'यंग इंडिया' अथवा 'नवजीवन' में यह भी नहीं लिखा था कि विवेक इंग्लैण्ड के राजा की तरह इन्द्रिय-रूपी अपने मन्त्रियों के हाथ में सोलहों आने है ? क्या आदमी प्राय: उसी दिशा में तर्क नहीं करता, जिस दिशा में उसकी इन्द्रियां उसे ले जाती हैं ? तब फिर आप बुद्धि को पथ-प्रर्दशक कैसे करार दे सकते हैं ? क्या आपने यह नहीं कहा है कि तर्क विश्वास के बाद आता है ? "इसलिए यदि किसी व्यक्ति में कातने की रुचि नहीं है तो उसे न कातने के पक्ष में दलीलें भी मिल जायंगी। छोटे बच्चे की विचार-शक्ति पर अधिक जोर डालना कहां तक वांछनीय है ? महान् सुधारक रूसी ने कहा था कि बचपन बुद्धि की सुषुप्तावस्था है। इसलिए यह बाल्यकाल में अच्छी आदतों को महज सिखाने के पक्ष में थे। और निस्सन्देह, लड़कों को किसी महात्मा के हुक्म के अनुसार काम करना सिखाना-और फिर खास तौर पर तब, जबकि उस महात्मा के उपदेश में शारीरिक श्रम के लिए स्थान हो-तो एक सुटेव का ही डलवाना है। जब बच्चे बड़े होंगें, तब वे कातने के पक्ष में बहुत-सी बातें ढूंढ निकालेंगे। लेकिन तबतक के लिए क्या अन्ध वीरोपसना का भाव (जैसा कि आप उसे कहना चाहते हैं) उनमें जाग्रत करना ठीक न होगा ? क्या हम लोगों ने आजकल बुद्धि को एक खिलवाड़-सा नहीं बना रक्खा है ? सड़ी-गली-सी बातों के लिए हम लम्बी-चौड़ी दलीलें ढूंढ़ने में माथा-पच्ची करते हैं और तब भी सन्तुष्ट नहीं होते। बुद्धि का बेशक एक स्थान है, परन्तु जो स्थान आजकल हम लोगों ने उसे दे रक्खा है, उससे कहीं नीचा है।

"जबतक कि किसी व्यक्ति को पक्के तौर पर यह न याद हो कि वह पहले अमुक सम्बन्ध में क्या कह चुका है और किस परिस्थिति में, तबतक अपने ही विरुद्ध वाक्य ____ करना ठीक नहीं है।"

जो-जो बातें उक्त सज्जन मेरे द्वारा लिखित बतलाते हैं, वे बेशक मैंने किसी-न-किसी समय लिखी हैं, परन्तु बिल्कुल दूसरी ही परिस्थिति में। जबकि कोई बात कारण-सहित बिल्कुल अच्छी तरह से बतलाना सम्भव है, यहां तक कि बच्चे भी खूब अच्छी तरह से उसे समझ सकते हों, तो किसी विद्वान के नाम पर उसे बतलाने और तदनुसार कार्य करने की शिक्षा देने का कोई कारण नहीं है। अक्सर करके तो यह विधि भ्रमात्मक हुआ करती है। हरेक व्यक्ति अपनी रुचि और अरुचि रखता है और जबकि कोई व्यक्ति 'वीर' में श्रद्धा रखने लगे, तब वह अपने विवेक को विदा कर देता है और उसका यह खिलवाड़ बना लेता है। इसी को मैं अन्ध वीरोपासना कहता हूं। वीरोपासना एक उत्तम गुण है। कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति बिना आदर्श के उन्नति नहीं कर सकता है। उसके लिए 'वीर' प्रकाशदायक और उत्साहवर्धक हुआ करता है। वह भाव को कार्य में परिणत करना सम्भव करता है और शायद बिना उसके, लोग अपनी कमजोरी के कारण कार्य करने पर उद्यत न होते। वह हमको निराशा की दलदल से उबारता है, उसके कृत्यों का स्मरण हममें असीम त्याग करने का बल भरता है। परन्तु यह कदापि न होना चाहिए कि वह विवेक को नष्ट कर दे और हमारी बुद्धि को पंगु बना दे। हममें से उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट आत्माओं के कथनों तथा कार्यों तक को हमें अच्छी तरह कसौटी पर कस लेना चाहिए, क्योंकि वे 'वीर' आखिर मनुष्य और नाशवान् हैं। वह भी ठीक उसी तरह गलती कर सकते हैं, जैसी कि हममें से अधम-से अधम। उनकी उत्तमता तो उनकें निर्णय तथा काम करने की उनकी शक्ति में है। इसलिए जब वे गलती करते हैं, तब परिणाम बड़ा भयंकर होता है। वे उस व्यक्ति या राष्ट्र का नाश मार देते हैं जो कि अन्ध वीरोपासना करने की आदत में हैं और बिना सोचे-समझे तथा बिना शंका तक किये उसकी सब बातों को मान लेते हैं। इसलिए वीरोपासना के प्रति अन्धभक्ति विवेक की अन्धभक्ति से ज्यादा खराब है। सच बात यह है कि विवेक की अन्धभक्ति कोई चीज है ही नहीं। परन्तु उक्त शिक्षक की, विवेक-सम्बन्धी चेतावनी से एक लाभ हुआ है – यह देखते हुए कि अधिकांश रूप से विवेक व्यवहार का एकमात्र पथ-प्रदर्शक है, यह आवश्यक है कि उसके मंत्री आज्ञाकारी एवं शुद्ध हों। इसलिए इन्द्रियों को कठोर संयम द्वारा वश में कर लेना चाहिए, ताकि विवेक का आज्ञा-पालन वे खुशी से किया करें, न कि यह कि उल्टे विवेक को उनका निस्सहाय गुलाम होना पड़े।

माना कि बच्चों की विवेक-शक्ति सुषुष्तावस्था में होती है, परन्तु एक सचेत शिक्षक उसे प्रेम से जाग्रत कर सकता तथा उसे शिक्षित बना सकता है। वह बच्चों में संयम की टेव डाल सकता है, ताकि उनकी बुद्धि उनकी इन्द्रियों के वशीभूत न होकर बचपन से ही उनकी पथ-प्रदर्शक बन जाय | बच्चों से किसी वीर के उपदेश के अनुसार चलने को कहना कोई संयम नहीं है। उससे किसी आदत का बीजारोपण नहीं होता। वे बच्चे, जिन्हें किसी काम को बिना सोचे-समझे ही करना सिखाया जाता है, काहिल हो जाते हैं। और यदि दैवात् कहीं दूसरा शिक्षक उन बच्चों के चित्त-रूपी सिंहासन से वीर-रूपी उस राजा को च्युत करा दे, जिसको पहला शिक्षक वहां आसीन कर गया था, तब तो जानो, वे अपने भावी जीवन में किसी काम के नहीं रहे । और यदि शुरू से हो, जो कुछ उनको बतलाया जाय, अच्छी तरह समझाया जाय और उसके बाद उनके सामने उन पुरुषों के उदाहरण पेश किये जायं, जिन्होंने महान् काम किये हैं, ताकि उनके संकल्प में प्राबल्य आवे या विवेक की पुष्टि हो, तो सम्भव है कि शक्तिशाली और चारित्र्यवान् नागरिक बनें और कठिन अवसरों पर दृढ़ रह कर अपना मुख उज्जवल करें।

हिन्दी नवजीवन
२९ जुलाई १९२६

८. प्रतिज्ञा का रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं :

"हम जिस काम को कर सकते हैं और करने की इच्छा भी करते हैं, परन्तु फिर भी कर नहीं पाते और जब उस कार्य के करने का समय आता है तो मन की कमजोरी से या स्मरण रहने पर भी हम उसकी अवहेलना कर देते हैं। ऐसा उपाय बताइये कि हम उस कार्य को करने के लिए बाधित हो जायं और अवश्य करें।"

ऐसा प्रश्न किसके मन में उत्पन्न न होता होगा ? परन्तु प्रश्न में गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्य की उन्नति करती है, इसका केवल एकमात्र कारण यह है कि प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भंग होने की गुंजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद अगर उसके भंग होने की गुंजाइश न हो तो पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान न रहे। संकल्प तो संकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप-रूपी है। दीप की ओर लक्ष्य रक्खे तो अनेक तूफानों में से गुजरते हुए भी मनुष्य उबर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफान को शान्त नहीं कर सकता है, तो भी वह उस तूफान के बीच से उसके सुरक्षित रूप से निकल जाने की शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्य का संकल्प हृदय-रूपी समुद्र में उछाल मारती हुई तरंगों से बचाने वाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालत में संकल्प-कर्त्ता का पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न ढूंढे मिला है और न वह मिलने वाला ही है। यही बात उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो सत्य और यमनियमादि की जो महत्ता है, वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में अथवा लाख दस लाख रुपया एकत्र करने में मनुष्य भारी प्रयत्न करता है, उत्तरी ध्रुव-जैसी साधारण वस्तु का दर्शन करने के लिए अनेक मनुष्य अपनी जान-माल को जोखिम में डालने में भय नहीं खाते हैं, तो राग-द्वेष आदि रूपी महाशत्रुओं को जीतने के लिए उपर्युक्त प्रयत्नों की अपेक्षा सहस्त्र गुना प्रयत्न करना पड़े तो उसमें आश्चर्य और क्षोभ क्यों हो ? इस प्रकार की अमर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न करने में ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तरी ध्रुव का दर्शन न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है, किन्तु जबतक शरीर में प्राण रहे तबतक राग-द्वेष इत्यादि को जीतने में जितना प्रयत्न किया जाय, उतना हमारी प्रगति का ही सूचक है। ऐसी वस्तु के लिए स्वल्प प्रयत्न भी निष्फल नहीं होता है, ऐसा भगवान का वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थी को तो इतना ही आश्वासन दे सकता हूं कि उनको प्रयत्न करते हुए हरगिज निराश न होना चाहिए, और न संकल्प को छोड़ना चाहिए, बल्कि 'अशक्य' शब्द को अपने शब्दकोश से पृथक कर देना चाहिए। संकल्प का स्मरण यदि भूल जाय तो प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका पूरा ख़याल रखना चाहिए कि जहां भूले, वहीं से फिर चले या मन में दृढ़ विश्वास रक्खे कि अन्त में जीत तो उसी की होगी। आजतक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नहीं बतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है, वरन् सबने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकार कर बतलाया है कि अन्त में सत्य की जय होती है। उस अनुभव का स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए जरा भी संकोच न करना चाहिए और शुभ संकल्प करते हुए किसी को डरना भी न चाहिए। पं. रामभजदत्त चौधरी एक कविता लिखकर छोड़ गये हैं। उसका एक पद यह है:

"कधि नहिं हारना भावे साडी जान जावे।"

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

९. भिखारी साधु

लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भिखारी साधु' शब्द में विरोध का आभास होना सम्भव है। लेकिन आजकल तो साधु वही कहलाते हैं, जो गेरुआ वस्त्र पहनते हैं – चाहे उनका हृदय भी गेरुआ हो या न हो, स्वच्छ हो या मैला हो। 'साधु' शब्द का सच्चा अर्थ तो यह है कि जिसका हृदय साधु या पवित्र हो। परन्तु ऐसे सच्चे साधु तो हमको शायद ही मिलते हैं। भगवा वस्त्रवाला असाधु साधु भीख मांगता तक नजर आता है। इसलिए इस प्रकार की भीख मांगने वालों के लिए 'भिखारी साधु' शब्द का प्रयोग किया गया है। उन्हीं के विषय में एक भाई लिखते हैं :

"आप चरखे की प्रवृत्ति से अनेक बातें सिद्ध करने की इच्छा करते हैं। सभी धर्म के लोगों में से क्या छोटे क्या बड़े भेद मिटाने का साधन आप चरखे को समझते हैं और यह सब ठीक है, लेकिन आज शक्ति होते हुए भी बहुत-से भिखमंगे केवल प्रमादवश हिन्दुस्तान में बढ़ रहे हैं और उनको आप चरखा क्यों नही बताते हैं ? कोई ऐसी संस्था क्यों नहीं खोलते हैं कि जिसमें जो भिखारी आवे, वह कुछ उद्योग सीख करके अन्न पा सके ? ऐसी कोई संस्था होगी तो दान देने की शक्ति वाले लोग भिखारियों को चिट्ठी देकर उसी संस्था में भेज देंगे और उन्हें वहां उद्यम और अन्न मिलेगा।"

यह बात तो सुन्दर है, पर उसपर अमल कौन करेगा ? गरीब लोगों में चरखे का प्रवेश करने में जितनी कठिनाई है, उनसे अधिक कठिनाई भिखारी साधुओं में चरखा फैलाने में है, क्योंकि उसमें धर्मभावना बदलने की बात आ जाती है। ये धनवान लोग यह समझते हैं कि झोली वालों की झोली में थोड़े बहुत जो कुछ पैसे डाल दिये, बस उतना परोपकार हो गया, पुण्य हुआ। उनको कौन समझाये कि ऐसा करने में उपकार के बदले अपकार और धर्म के स्थान पर अधर्म होता है। पाखण्ड बढ़ता है। छप्पन लाख नामधारी साधुओं में सेवा-भाव जाग्रत हो जाय, वे उद्यम करके ही रोटी खायें तो हिन्दुस्तान के स्वयं सेवकों का एक जबर्दस्त लश्कर बना तैयार मानो। गेरुआ वस्त्रधारी लोगों को यह बात समझाना लगभग दु:साध्य है। उनमें भी तीन प्रकार के लोग हैं। उनका एक बहुत बड़ा भाग पाखण्डी और केवल आलसी बन कर मालपुआ खाने की इच्छा रखता है। दूसरा भाग कुछ जड़ है और यह मानने वाला है कि भगवा वस्त्र और परिश्रम, ये दोनों बातें आपस में मेल नहीं खातीं। तीसरा भाग, जो कि बहुत छोटा है, वह सच्चे त्यागियों का है, परन्तु ये लोग बहुत समय से यही समझते चले-आये हैं कि सन्यासी से

परोपकार के लिए भी उद्योग नहीं हो सकता। यदि यह तीसरा, छोटा भाग उद्योग का मूल्य समझ जाय तो भूतकाल में चाहे जो भी हुआ हो – "इस युग में तो सन्यासी को उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उद्योग करना आवश्यक है", यदि यह बात यह छोटा वर्ग समझ जाय तो मान लो कि दूसरे दोनों वर्ग भी सुधर जायंगे। परन्तु इस वर्ग को ऐसा समझाना बहुत कठिन है। कार्य धैर्य से तथा उस वर्ग की अनुभव-प्राप्ति के साथ होगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जब हिन्दुस्तान में चरखे का करीब-करीब साम्राज्य हो जायगा, तब यह वर्ग इसकी शरण जायगा।

चरखे के साम्राज्य के अर्थ हैं हृदय-साम्राज्य और हृदय-साम्राज्य के अर्थ हैं धर्म-वृद्धि। धर्म-वृद्धि होने पर यह छोटा सन्यासी-वर्ग उसे बिना पहचाने रहेगा ही नहीं ।

जितनी कठिनाई सन्यासी वर्ग को समझाने में रही है, लगभग उतनी ही धनिक लोगों को समझाने में रही है। धनिक लोग यदि अपना धर्म समझ जायं, आलस्य को उत्तेजना न दें और उन भिखारियों को अन्न न देकर उद्यम ही दें तो चरखे का साम्राज्य आज ही स्थापित हो जाय। परन्तु धनिक लोगों से ऐसी आशा क्योंकर रक्खी जा सकती है ? धनिक लोग औरों के मुकाबले में साधारणतया आलसी रहा करते हैं और आलस्य को उत्तेजना तो देते ही हैं। उनसे जाने या अनजाने आलसी भिक्षुओं को उत्तेजना मिल जाती है। इसलिए लेखक ने सूचना तो अच्छी ही की है, परन्तु इस पर अमल करना बहुत कठिन है – इस बात पर उसने विचार नहीं किया। ऐसा कहने का यह आशय नहीं है कि हम प्रयत्न न करें, बल्कि प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। यदि एक भी धनवान व्यक्ति, समझ-बूझकर आलसी लोगों को दान देना बन्द कर दे, यदि एक ही साधु जो अपंग नहीं है, उद्यम के बिना भोजन न करने का संकल्प कर ले, तो इतना हिन्दुस्तान का लाभ ही है । इसलिए जहां-जहां इस प्रकार का प्रयत्न हो सकता है, वहां-वहां करना ही उचित है। हां, कठिनाई को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें तात्कालिक फल न मिलने से निराशा न होने पावे और अपने साधन को हम निरर्थक न समझ लें।

हिन्दी नवजीवन,
५ अगस्त १९२६

१०. त्योहार कैसे मनावें ?

एक पत्र-प्रेषक चाहते हैं कि मैं उन लोगों को, जो ध्यान दें, इस बात से सचेत कर दूं कि वे इस आगामी दिवाली पर अपना पैसा पटाखे, फुलझड़ी, खराब मिठाईयों और आरोग्य के लिए हानिप्रद आतिशबाजी में बरबाद न करें। मैं इस सूचना का हृदय से स्वागत करता हूं। अगर मेरे बस की बात हो तो मैं लोगों को अपने घर और हृदय को साफ करने में लगा दूं, और उन दिनों में बच्चों के लिए निर्दोष तथा शिक्षाप्रद खेल-खिलौनों की व्यवस्था करने के लिए उनसे कहूं। मैं जानता हूं कि पटाखे और फुलझड़ी बच्चों को बड़े प्यारे होते हैं। पर वे प्यारे इसलिए हैं कि हमबड़े-बूढ़ों ने उनको इन चीजों की आदत लगा दी है। अफ्रीका के सरल-स्वभाव बालकों को मैंने कभी इन पटाखे-फुलझड़ियों को मांगते या उनकी तारीफ करते नहीं देखा। इसके बदले उनमें नाच होते हैं। बच्चों के लिए खेल-कूद और गोठ की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद और अच्छा क्या हो सकता है ? हां, इन गोठ या प्रीति-भोज में बाजार की ऐसी मिठाइयां न खायी जायं, जिनकी शुद्धता के बारे में सदा शंका ही होती है। इनके बजाय ताजे और सूखे फल खाये जायं। अमीर और गरीब बालकों को मकान साफ करने तथा उनमें सफेदी करने का काम भी जरूर सिखाया जाय। अगर उन्हें परिश्रम का गौरव बताया जाय तो यह एक अच्छी बात होगी और उसका आरंभ वे त्योहारों से ही करें। पर मैं जिस बात पर जोर देना चाहता हूं वह यह है कि इन पटाखे-फुलझड़ियों से बचने वाला यदि सारा पैसा नहीं तो कम-से-कम उसका कुछ हिस्सा तो जरूर खादी के खरीदने में लगाना चाहिए। पर यदि इसे कोई पाप समझे तो वह पैसा और किसी ऐसे काम में लगाया जाय, जिससे गरीबों की सेवा होती हो। स्त्री-पुरुषों और बालक-बूढ़ों के लिए इससे अधिक आनन्ददायक और दूसरी बात क्या हो सकती है कि वे अपने त्योहारों के दिनों में अपने देश के गरीब-से-गरीब लोगों का ख्याल करें।

हिन्दी नवजीवन
२५ अक्तूबर १९२८

११. विचार की कीमिया

[अध्यापक जैक्स की एक किताब के आधार पर, जिसका शब्दार्थ 'विचार की कीमिया' है, 'यंग इंडिया' में श्री 'पी०' ने एक लेख लिखा है।]

विचार की कीमिया के मानी यह है कि विचार कीमिया का काम करता है। यह तो कभी नहीं कह सकता कि कोई कीमियागर कभी लोहे से सोना बना सका होगा या नहीं, किन्तु विचार तो निरन्तर कीमिया का काम करता ही जाता है। एक विचार करने से आदमी भय से फीका पड़ जाता है तो उससे उलटा दूसरा विचार करने से उसके चेहरे पर लाली आ जाती है। 'मुझे तो पेट में शूल उठा है', 'अब मेरा समय हो आया' आदि विचार मैं करूं तो तुरंत ही मेरा चेहरा उतर जायगा। मगर यह विचार करके कि 'शूल में तो कुछ नहीं है, यह तुरन्त ही मिट जायगा' मैं उसकी परवा न करूं तो इससे खुशी में ही रहूंगा। कोई परदेशी मेरे घर पर चढ़ आता है, उसके विषय में मेरे मन में शंका होती है। मैं उसे खूनी मान लेतां हूं और डर जाता हूं। मेरा लड़का आकर कहता है – 'यह तो हमारे कुटुम्ब के पुराने स्नेही हैं। बचपन से परदेश में रहने के कारण आप इन्हें पहचानते नहीं। ये आज हमारे यहां मेहमान हैं और अच्छी खबर लेकर आये हैं।" यह सुनकर मेरा मन स्वस्थ हो जाता है। पहले जिससे मैं डरता था, अब उसका आदर से स्वागत करता हूं। यह सब विचार की कीमिया है। विचार हमें घड़ी-भर में राजा बनाता है, और घड़ी-भर में ही रंक बनाता है। विचार का ऐसा साम्राज्य है। वचन की अपेक्षा शारीरिक क्रिया के बनिस्बत विचार अनन्त गुनी प्रबल शक्ति है। शारीरिक क्रिया विचार का स्थूलतम रूप है। वाचा उसका स्थूल रूप है। दोनों क्रियाएं विचार को मर्यादित करती हैं। यह जो होता है सो यथार्थ ही है। अगर ऐसा न हो तो दुनिया का नाश ही हो जाय। मगर यह तो हुआ विचार की शक्ति को बतलाने वाला सबूत। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विचार के बिना वाचा या कार्य जड़वत् वस्तु है, उनकी कोई कीमत नहीं है।

इस विचार-सरणी का अनुकरण करके अध्यापक जैक्स कहते हैं, "धर्म के समान महान् और व्यापक शक्ति पोथी में बनाये हुए नियमों का खेल नहीं है। वह 'हां' या 'ना' की तिजोरी नहीं है, विधि निषेध का भण्डार नहीं है। जो धर्म का, अहिंसा का, नीति का पालन करना चाहता है उसे तलवार की धार पर चलना है। उसके लिए अहिंसा की व्याख्या या हिज्जे का कोई शब्द-कोश नहीं है कि जिसे लेकर वह अहिंसा की परीक्षा में सोलहों-आने पूरा उतर जाय। धर्म-पालन ऐसी कुछ सही-सलामत वस्तु नहीं

है। यह तो अनुभवों की खान में दबा हुआ रत्न है। उसे करोड़ों भर जीवों में से कोई-ही-कोई खोज लाते हैं। जो सही सलामती का रुक्का मांगता है, धर्म उसके लिए नहीं है। धर्म का क्षेत्र तो शंका और निश्चय के बीच में पड़ा हुआ है। यह धर्म ही है, या यही धर्म है, यह मानने या कहने वाला धर्म को नहीं जानता है। धर्म का जिज्ञासु यह कबूल करता हुआ कि यह धर्म हो सकता है और नहीं भी हो सकता है, अपने अन्तर्नाद के वश होकर निश्चयपूर्वक और निश्चिन्त होकर अपना काम करता है। स्वयं सर्वज्ञ न होने से एक तरफ उसके मन में निश्चय है, और दूसरी तरफ वह उस शंका के लिए भी अवकाश रखता है कि शायद भूल ही होती होगी।"

यह विद्वान् फिर आगे चलकर कहता है, "जिस तरह हम छाती ठोककर गणितशास्त्र में कह सकते हैं कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं, उसी तरह छाती ठोककर, निश्चयपूर्वक नीतिशास्त्र में नहीं कह सकते कि यही कर्तव्य हो सकता है, दूसरा कभी नहीं। धर्म या अहिंसा का रहस्य ऐसे परिणाम की खोज में नहीं है, जो कि सिद्ध किया जा सके। इस प्रकार के प्रमाणों के परे जाने में और जहां ऐसे प्रमाण अशक्य हैं, वहां अमुक खतरे उठाने में ही धर्म का या अहिंसा का रहस्य प्रकट होता है।" हमारी भाषा में इसका नाम श्रद्धा है। धर्म तो श्रद्धा के ऊपर गठित वस्तु है। पंचेन्द्रिय से जिसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, उसका प्रमाण श्रद्धा है। इसलिए अन्तर्नाद को श्रद्धापूर्वक मान लेने से ही हम किसी काल में धर्म का साक्षात्कार कर सकने की आशा रख सकते हैं। इसलिए श्री जैक्स कहते हैं, "जो आदमी अन्तर्नाद की परीक्षा कर चुकने के बाद ही, पहले नहीं, उसे सुनने को तैयार होता है, उसने अन्तर्नाद को सुना नहीं, वह हृदय में रहने वाली शक्तियों को पहचानते ही नहीं। वह अन्त में ऐसी नीति-रहित स्थिति को पहुंचता है कि तब उसके विषय्य में यह कहा जा सकता है कि उसमें अन्तर्नाद नामक कोई वस्तु ही नहीं है।"

तब आदमी जब-जब दु:खों या जुल्मों को देखे तो क्या करे ? जैक्स साहब का कहना है, "इन दो में से कि या तो प्रयोग करूं या हाथ रखकर बैठा रहूं, मेरे लिए एक ही रास्ता है। उससे वस्तुस्थिति का जितना ज्ञान पाया जा सके, उसे प्राप्त करके अपने प्रयोग करना ही मेरा धर्म हो जाता है परन्तु उसमें इतना भय रहता है कि शायद मैंने अपनी गिनती में कहीं भूल की हो। कयामत के दिन भी अगर मुझसे कहा जाय कि तुम्हारे प्रयोग मिथ्या हैं तो भी मैं इन प्रयोगों को पूर्ण करने में ही अपना जीवन बिताऊंगा।

जो वस्तु मुझे सत्य जान पड़ती है, उसे करने के लिए मैं अमुक प्रयोगों में भूल करने का खतरा भी उठा लूंगा।" ये लेखक मानते हैं और हम देखते हैं कि यों भूल करने के खतरे उठाकर किये गए प्रयोगों से कितने ही सत्यों की खोज हो सकी है, क्योंकि ऐसी भूल के मूल में शुद्ध हेतु होता है, सत्य की उपासना होती है। और अनजानपने में हुई भूल कालान्तर में विस्मरण हो जाती है।"

मनुष्य को भूल के पुतले की उपमा दी गयी है। स्वराज्य की एक व्याख्या है 'भूलें करने का अधिकार' और यह सच्ची है। मैं जबतक भूल का दर्शन न करूं, तबतक तो मैं जिसे सत्य मानता हूं, मुझे उस धर्म का आचरण करना ही चाहिए, अगर बाहरी दबाव के वश होकर मैंने जिसे सत्य माना है, उसका आचरण मैं न करूं तो मेरी भीरुता और अपने बारे में मैं जिस असत्य की कल्पना करूंगा, वह, ये दोनों मुझे कुतर खावेंगे।

इसके अलावा श्री जैक्स यह सूचना भी करते हैं कि जिस समाज में बाहर से घड़े हुए नीति-नियम ही प्रमाण गिने जाते हैं, वहां भले ही एक तरफ की सुव्यवस्था देखने में आती हो, लोग बाह्य सुखों का भोग करते हों, किन्तु समाज में से वीरता, प्रयत्न, निर्भयता, शोधकता का लय होता है, और इससे उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है। महान् सिद्धांतों का महत्व उनके अर्थ की अपरिमितता में छिपा रहता है। इस अपरिमित खान को खोदते ही रहें, तभी ऐसे सिद्धांतों से संसार शोभायमान हो सकता है और आगे बढ़ सकता है। किन्तु अभी का हमारा समाज बेड़ी से जकड़ा हुआ-सा लगता है। प्राचीनों का गुणकीर्त्तन करने में और थोड़े सूखे बाह्याचारों के पालन में धर्म-मर्यादा आ गयी-सी जान पड़ती है।

किन्तु धर्म कुछ ऐसा जड़ वस्तु-सा नहीं है। अहिंसा चेतनायुक्त प्रचण्ड शक्ति है। उसके अन्त या विस्तार को कोई माप नहीं सका है, सकेगा भी नहीं। अहिंसा है विश्वप्रेम, जीवमात्र के विषय में करुणा और उसमें से प्रकट होने वाली, अपनी देह को ही होम कर देने की शक्ति। यह प्रेम प्रकट होने में बहुत-सी भूलें भी हों तो उससे इस धर्म के विस्तार की शोध छोड़ी नहीं जा सकती है। शुद्ध मार्ग की खोज में होने वाली भूलें भी हमें उस मार्ग की खोज में एक पग आगे ले जाती हैं।

हिन्दी नवजीवन
८ नवम्बर १९२८

१२. कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे लिखे प्रश्न पूछते हैं :-

"१. धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य – आज धर्म के नाम पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं? जरा-जरा सी बातों में धर्म की दुहाई दी जाती है; किन्तु ऐसे कितने मनुष्य हैं, जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हों। इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है, आप इस पर और नीचे लिखे दूसरे प्रश्नों पर 'हिन्दी नवजीवन' द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करेंगे।

२. मनुष्य की आत्मा को किन साधनों द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है ?

३. क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त कर ले तो उनका फल नष्ट हो सकता है ?

४. मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिये ?"

मैं अपने लिए धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नहीं कर सकता। हां, धर्म-पालन के प्रयत्न का दावा मैं अवश्य करता हूं। अपने इस प्रयत्न में मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठकों को कुछ लाभ हो सकता है, तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा करूंगा।

१. निस्सन्देह यह सच है कि आजकल देश में धार्मिक शिक्षा का अभाव है। धर्म की शिक्षा धर्मपालन द्वारा ही दी जा सकती है, कोरे पाण्डित्य द्वारा कदापि नहीं। इसी कारण किसी ने कहा है :

'सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ?'

अर्थात्-सत्संग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता ? तुलसी दास ने सत्संग की महिमा का जो वर्णन किया है, उसे कौन न जानता होगा ? इसका यह अर्थ नहीं है कि धार्मिक पुस्तकों का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्संग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहले धर्म-पुस्तकों का पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो

शान्तिप्रद होने के बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य, समझदार मनुष्य दुनिया भर की फिक्र करने के बदले पहले स्वयं धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पड़ेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें, तो किसी को किसी की चिन्ता करने की जरूरत ही न रह जाया

२. साधु-जीवन से आत्म-शान्ति की प्राप्ति संभव है। यही इहलोक और परलोक, दोनों का साधन है। साधु-जीवन का अर्थ है सत्य और अहिंसामय जीवन, संयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नहीं बनता। धर्म की जड़ तो त्याग ही में है।

३. पिछले दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त शक्य है। और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नतें हैं, न रोना-पीटना ही है। हां उसमें उपवासादि की गुंजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दों में, दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलों का कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जब तक प्रायश्चित्त नहीं किया जाता, तबतक फल चक्रवृद्धि ब्याज की भांति बढ़ता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि बन्द हो जाती है।

४. मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एक मात्र उपाय परमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है। उनमें तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

हिन्दी नवजीवन,
१५ अगस्त १९२९

१३. बुद्धि बनाम श्रद्धा

'मूर्ति-पूजा' शीर्षक लेख में मैंने लिखा था कि जहां बुद्धि निरुपाय हो जाती है, वहां श्रद्धा का आरंभ होता है। अर्थात् श्रद्धा बुद्धि से परे है। इसपर से कई पाठकों को यह शक हुआ है कि यदि श्रद्धा बुद्धि से परे है तो वह अन्धी ही होनी चाहिए। मेरा मत इससे उल्टा है। जो श्रद्धा अन्धी है, वह श्रद्धा ही नहीं है। अगर कोई मनुष्य श्रद्धापूर्वक यह कहे कि आकाश में पुष्प होते हैं, तो उसकी बात उचित नहीं मानी जा सकती। करोड़ों मनुष्यों का प्रत्यक्ष अनुभव इससे उल्टा है। आकाश-कुसुम को मानना श्रद्धा नहीं, बल्कि घोर अज्ञान है, क्योंकि आकाश में पुष्प हैं या नहीं, यह बात बुद्धिगम्य है और बुद्धि द्वारा इसका 'नास्तित्व' सिद्ध हो सकता है। इसके विपरित जब हम यों कहते है कि ईश्वर है, तब हमारे कथन के 'अस्तित्व' को कोई सिद्ध नहीं कर सकता। बुद्धिवाद से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का कोई भले ही कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, हर एक मनुष्य के दिल में इस विषय की शंका तो फिर भी बनी ही रहेगी। उधर करोड़ों का अनुभव ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि में अनुभूत ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर श्रद्धा तो अनुभव पर अवलम्बित है – और जिसे श्रद्धा है, उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही। परन्तु श्रद्धावान् कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है। जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है। वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है – परे है – वह श्रद्धा है। जहां बुद्धि नहीं पहुचती, वहां श्रद्धा पहुंच जाती है। बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय। और यह जगत् का अविच्छिन्न अनुभव है कि बुद्धि बल से हृदय-बल सहस्त्रश: अधिक है। श्रद्धा से जहाज चलते हैं, श्रद्धा से मनुष्य पुरुषार्थ करता है, श्रद्धा से वह पहाड़ों-अंचलों-को चला सकता है। श्रद्धावान को कोई परास्त नहीं कर सकता। बुद्धिमान को हमेशा पराजय का डर रहता है। बालक प्रहलाद में बुद्धि की न्यूनता हो सकती थी, मगर उसकी श्रद्धा मेरु के समान अचल थी। श्रद्धा में विवाद की स्थान ही नहीं। इसलिए एक की श्रद्धा दूसरे के काम नहीं आ सकती। एक मनुष्य श्रद्धा से दरिया पार हो जायगा, मगर दूसरा, जो अन्धानुकरण करेगा, अवश्य डूबेगा। इसी कारण भगवान कृष्ण ने गीता के १७वें अध्याय में कहा है – **यों यच्छ्रद्ध: स एव स:** – जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह बनता है।

तुलसीदासजी की श्रद्धा अलौकिक थी। उनकी श्रद्धा ने हिन्दू संसार को रामायण के समान ग्रन्थ-रत्न भेंट किया है। रामायण विद्वता से पूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी भक्ति के प्रभाव के मुकाबले उसकी विद्वत्ता का कोई महत्त्व नहीं रहता। श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान-आत्म-ज्ञान की वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चारित्र्य-भ्रष्ट भी पाये जाते हैं। मगर श्रद्धा के साथ चारित्रय-शून्यता का होना असम्भव है। इस पर से पाठक समझ सकते हैं कि एक बालक श्रद्धा की पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है और फिर भी उसकी बुद्धि मर्यादित रह सकती है। मनुष्य यह श्रद्धा कैसे प्राप्त करे ? इसका उत्तर गीता में है, रामचरित-मानस में है। भक्ति से, सत्संग से श्रद्धा प्राप्त होती है। जिन-जिनको सत्संग का प्रसाद प्राप्त हुआ है, उन्होंने – सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ? इस वचनामृत का अनुभव अवश्य किया होगा।

हिन्दी नवजीवन,
१९ सितम्बर १९२९

१४. 'दरजे' का अर्थ

हरिजन-सेवक-संघ का हाल में जो नया विधान बना है, उसके बारे में एक अत्यन्त प्रतिष्ठित हरिजन-सेवक लिखते हैं –

"अ और ब प्रतिज्ञा में 'दरजा' शब्द आता है। अगर उसका अर्थ यह है कि जैसे कानून में कोई ऊँचा-नीचा नहीं है वैसे ही ईश्वर की दृष्टि में भी कोई ऊँचा-नीचा नहीं है तो हमारे यहां के सदस्य उसको मानने के लिए तैयार हैं। अर्थात् धर्म या दर्शनशास्त्र के सिद्धान्त के बतौर, आध्यात्मिक रूप में, वे इस बात को मानते हैं। लेकिन अगर इसका अर्थ यह लगाया जाय कि दुनियावी व्यवहार में मालिक-नौकर, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, न्यायाधीश और कैदी आदि के बीच दरजे का कोई अन्तर ही न होना चाहिए, तो हमारे लिए इस प्रतिज्ञापत्र पर दस्तखत करना मुश्किल है। इसलिए आप हर बतलाने की कृपा करें कि यहां पर 'दरजे' का जो उल्लैख हुआ है वह सांसारिक के बजाय आध्यात्मिक रूप में ही है या नहीं ?"

प्रतिज्ञा के जिस अंश का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह निम्न प्रकार है:

"मैं किसी मनुष्य को अपने से दरजे में नीचा नहीं समझता, और अपने इस विश्वास पर चलने का मैं भरसक प्रयत्न करूंगा।"

मैं समझता हूं कि ऊपर की बात का जवाब तो प्रतिज्ञा में ही दिया हुआ है। लेकिन पत्र-लेखक समानता का अर्थ भिन्नताओं का नाश करके भ्रम में पड़ गये मालूम पड़ते हैं। अगर यह भिन्नता या विविधता बिल्कुल ही न होती, तो यह दृश्य जगत् ही कहां होता ? और समानता या ऊंच-नीच के भाव का प्रश्न ही न उठता। लेकिन जब ईश्वर अनेक रूप धारण करता है तब उन विविध रूपों में भिन्नता करनी ही पड़ती है। ईश्वर के कोई अंग दूसरे अंगों की अपेक्षा ऊंचे या श्रेष्ठ होने का दावा करें तो उसे सृष्टिकर्त्ता के विरुद्ध विद्रोह ही कहा जायगा, क्योंकि उन सबके बीच कद, रंग, रूप, गुण आदि की भिन्नता चाहे जितनी हो, फिर भी दरजे में तो वे बराबर ही माने जायंगे। पति-पत्नी, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक, न्यायाधीश और अपराधी, जेलर और कैदी के बीच अन्तर तो है ही। लेकिन जो पति अपनी पत्नी से, मालिक नौकर से, या न्यायाधीश सजा पाने वाले अपराधी से अपने को ऊंचा माने, तो वह अधर्माचरण होगा। दुनिया का सारा दु:ख इस असमानता की भावना से पैदा हुआ है। हिन्दू जिस

अस्पृश्यता का पालन करते हैं, वह इसका आखिरी रूप है। इसलिए इससे बढ़कर और क्या बात हो सकती है कि हरिजन-सेवक इस पुराने पाप को धो डालते समय अन्तर्दृष्टि करके विचार करे और समानता के विष को अपने हृदय से बिल्कुल निकाल डाले ? लेकिन यह किस प्रकार मालूम होगा कि अमुक मालिक तो अपने नौकर को अपने से नीचा मानता है और अमुक उसे अपने समान समझता है ? इसका पता इसी से चल सकता है कि पहले मालिक का अपने नौकर के सुख-दुःख का कोई खयाल नहीं होगा, क्योंकि उसे तो सिवा इसके और कोई मतलब नहीं कि नौकर को तनख्वाह देकर उसके बदले काम लिया जाय, जबकि दूसरा अपने कुटुम्बी की तरह उसका ख्याल रक्खेगा। ईश्वर-परायण कुटुम्बों में मालिक के बाल-बच्चे पुराने नौकरों को मां-बाप की तरह मानते हैं। नौकरों के सुख-दुःख में मालिक भी शरीक होते हैं। नौकरों मालिक उल्टे रास्ते जाय तो वे उसे टोकते भी हैं। घमण्डी और विनम्र मालिक के बीच वैसा ही अन्तर है, जैसा खड़िया और मलाई के बीच। उनमें कम-ज्यादा का कोई भेद नहीं है, उनकी तो किस्म ही अलग-अलग है। समानता की यह स्थिति प्रकृतिजन्य है और बुद्धि एवं हृदय रखनेवाले मनुष्य की हैसियत से यही हमें शोभा देती है मगर फिर भी हम सब अभी इस स्थिति से बहुत दूर हैं। लेकिन बजाय इसके कि मरने के बाद इसके अनुसार व्यवहार करने की आशा करें, हमें अपने रोजमर्रा के ही जीवन में इसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर सच्चे दिल से हम ऐसा करने का प्रयत्न न करें, तो फिर कानून की दृष्टि में समानता का अर्थ ही क्या हो सकता है ?

हरिजन सेवक,
२२ फरवरी १९३५

१५. चरित्र-बल की आवश्यकता

अच्छी तरह हरिजन-सेवा करने के लिए ही नहीं, बल्कि गरीब, अनाथ, असहायों की सब तरह की सेवा के लिए, यह जरूरी है कि लोक-सेवक का अपना चरित्र शुद्ध और पवित्र हो। चरित्र-बल अगर न हो , तो ऊंची-से-ऊंची बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता की भी कोई कीमत नहीं। वह तो उल्टे अड़चन भी बन सकती है। जबकि शुद्ध चरित्र के साथ-साथ ऐसी सेवा का प्रेम भी हो तो उससे आवश्यक बौद्धिक और व्यवस्था-सम्बन्धी योग्यता भी निश्चय ही बढ़ जायगी या पैदा हो जायगी। हरिजन-सेवा में लगे हुए दो अच्छे प्रसिद्ध कार्यकर्त्ताओं की शोचनीय चरित्रहीनता के दो अत्यन्त दुःखद उदाहरण मेरे सामने आये हैं, जिनपर से मैं यह बात कह रहा हूं। इन दोनों को जो लोग जानते थे, वे सब इन्हें शुद्ध चरित्र का और सन्देह से परे मानते थे। लेकिन इन दोनों ने ऐसा आचरण किया है, जो जिस पद पर ये आसीन थे, उसके बिल्कुल अनुपयुक्त हैं। इसमें कोई शक नहीं कि वे अपने हृदय के अंधेरे कोने में जहरीले सांप की तरह छिपी हुई विषय-वासना के शिकार हुए हैं। लेकिन हम तो मर्त्यलोक के साधारण जीव ठहरे, दूसरों के मन में क्या है, यह नहीं जान सकते। हम तो मनुष्यों को सिर्फ उनके उन कामों से ही जान सकते हैं, और हमें उन्हीं पर से उनके बारे में कुछ निर्णय करना चाहिए, जिन्हें कि हम देख और पूरा कर सकते हैं।

आजकल के सार्वजनिक जीवन में एक ऐसी प्रवृत्ति है कि जबतक कोई सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अपने जिम्मे के किसी व्यवस्था-कार्य को अच्छी तरह पूरा करता है, उसके चरित्र के सम्बन्ध में कोई ध्यान नहीं दिया जाता । कहा यह जाता है कि चरित्र पर ध्यान देना हरेक का अपना निजी काम है, हमें उसमें दखल देने की कोई जरूरत नहीं। हालांकि मैं जानता हूं कि यह बात अक्सर कही जा सकती है, लेकिन इस विचार को ग्रहण करना तो दूर, मैं इसे ठीक भी नहीं समझ सका हूं। जिन संस्थाओं ने व्यक्तियों के निज चरित्र को विशेष महत्त्व नहीं दिया, उनमें उससे कैसे-कैसे भयंकर परिणाम सामने आये, इसका मुझे पता है। बावजूद इसके पाठकों को यह जान लेना जरूरी है कि इस समय मैं जो बात कह रहा हूं , वह सिर्फ हरिजन सेवक-संघ जैसी उन संस्थाओं के बारे-में ही कह रहा हूं , जो करोड़ों मूक लोगों के हित की संरक्षक बनना चाहती है। मगर मुझे इसमें कोई शक नहीं कि ऐसी किसी भी सेवा के लिए शुद्ध और निष्कलंक चरित्र का होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है । हरिजन-सेवा अथवा खादी

या ग्रामोद्योग के काम में लगे हुए कार्य-कर्त्ताओं के लिए तो उन बिल्कुल सीधे-सादे, निर्दोष और अज्ञानी स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आना बहुत जरूरी है, जो बौद्धिक दृष्टि से संभवत: बच्चों के समान होंगे। अगर उनमें चरित्र बल न होगा तो अन्त में जाकर जरूर उनका पतन होगा और उसके फलस्वरूप जिस उद्देश्य के लिए वे काम कर रह हैं, उसे उस कार्यक्षेत्र में और भी धक्का लगेगा, जिसमें सर्व-साधारण उनसे परिचित हैं। प्रसन्नता की बात है कि ऐसी सेवा में जितने लोग लगे हुए हैं, उनकी संख्या के लिहाज से ऐसे लोग इक्के-दुक्के ही हैं। लेकिन बीच-बीच में ऐसे मामले प्राय: होते रहते हैं, इसलिए जो संस्थाएं और कार्यकर्त्ता ऐसे सेवा-कार्यों में लगे हुए हैं, उन्हें सार्वजनिक रुप में सावधान करने और चेतावनी देने की जरूरत है। कार्यकर्त्ता तो इसके लिए जितने भी अधिक सतर्क और सावधान रहें, उतना ही कम है।

हरिजन सेवक,
७ नवम्बर १९२६

१६. कर्तव्य-च्युत क्या करें ?

"आप अनैतिक आचरण के किस्से प्रकाश में लाते हैं और उनसे संबंध रखने वाले को अपना पद छोड़ देने की सिफारिश करत हैं। उनके काम में बाह्य दृष्टि से आप दोष नहीं बता सके, आपने उनके काम की स्तुति भी की है। पर अब उनकी योग्यता भी खत्म हो गयी ? उनका उपयोग अब जनता को नहीं मिल सकता ? उनकी स्थान-पूर्ति कौन करे ?"

यह प्रश्न विचारणीय है। मैं मानता हूं , और मैंने अनेक बार अनुभव किया है कि चाहे जैसा होश्यार आदमी हो, उसकी भी गुप्त अनीति का असर उसके काम के ऊपर पड़े बिना नहीं रहता।

इस नियम में मर्यादा तो है ही, और वह यह कि कार्यकर्त्ता को नैतिकता की जरूरत है। कुशलता न होते हुए भी जिसका चारित्र्य पूर्णतया शुद्ध है, उसका काम दिप उठा है। नैतिकता के पाये के ऊपर रचे हुए कामों की तरफ नजर डालने वाले को मेरी बात कायल किये बिना नहीं रहेगी। अस्पृश्यता-निवारण चरित्रहीन मनुष्यों के द्वारा अशक्य है, ऐसा मानने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। सनातनी हिंदुओं की मान्यता को अच्छे-से-अच्छे शास्त्रों का प्रवीण किस तरह पलट सकता है ? उनकी बुद्धि पर होने वाला प्रहार व्यर्थ जाता है। चैतन्य, रामकृष्ण, राममोहन राय, दयानंद आदि का प्रभाव आज भी काम कर रहा है, इसका आधार और कौन-सा बल होगा ? उनकी अपेक्षा तीव्र बुद्धि के मनुष्य शायद काफी देखने में आयेंगे। पर वे मानव-हृदय में परिवर्तन नहीं करा सके।

पर इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि चरित्रवान व्यक्तियों में भी उद्यम, आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, विवेक आदि तो होना ही चाहिए।

जो सार्वजनिक संस्था में से निकल गये हैं, वे अगर सेवा करने की उमंग रखते हों, तो उससे वे मुक्त हो नहीं सकते। धर्म तो उसका है, जो उसे पालता है। जिसका पतन हुआ है, वह मूर्च्छा से जाग गया हो तो चाहे वहां रहकर सेवा कर सकता है। उसे किसी गांव में जाकर बसने से कौन रोक सकता है? मूक रीति से गांव में भंगी का काम करतें हुए उसे कौन रोकेगा ? कातते हूए और दूसरों को कातना सिखाते हुए या हरिजनों की सेवा करते हुए क्या रुकावट आ सकती है ? ऐसा करते-करते इस तरह से स्वच्छ बन जाय कि समाज के सामने खड़े होने में उसे कोई बाधा न आवे अथवा अपने स्थान पर अदृप्त

रह कर भी उसका प्रभाव ऐसा पड़े कि उसका असर व्यापक हो जाय। पाप का निवारण ही नहीं, ऐसा न मैंने कभी कहा है न माना है। पतितों में भी अग्र स्थान पाने वाले महापुण्यात्मा हो सकते हैं। तुलसीदास के विषय में ऐसा ही किसी इतिहासकार ने कहा है। गीता पुकार-पुकार कर कहती है कि महापापी के लिए भी भक्ति मार्ग मुक्तिप्रद हो जाता है। इसी से भगवान् का एक विशेषण 'पतित-पावन' है।

हरिजन सेवक,
१९ सितम्बर १९३६

१७. सत्य कैसे प्राप्त हो ?

"लव बिबंदो चश्म बंदो गोश बंद,

गर नबीनी सिररे हक, बर मा बिखंद ।।"

– "तूं अपने होठ बंद रख, आंख बंद रख, कान बंद रख। इतने पर भी तुझे सत्य का गूढ़ तत्त्व न मिले तो मेरी हँसी उड़ाना।"

यह मौलाना रूम का शेर है। ऐसे-ऐसे रत्न कभी-कभी कच्छ के चमन कवि मेरे पास भेज दिया करते हैं। जब मैं राजकोट में था, तब ऊपर का शेर अर्थ-सहित, उन्होंने भेजा था।

आज जबकि हम चाहे जो बकवाद करते रहते हैं, जब कान चाहे जो सच्ची, झूठी, गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब यह वचन बाण की तरह सीधा हमारे हृदय में बिंध जाना चाहिए। सत्य की शोध में ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही होठ, कान और आंख को बिल्कुल बंद न करें और अगर कर लें तो इससे कुछ गंवायेंगें नहीं, पर इतना तो हम अवश्य कर सकते हैं – होठ से असत्य या कटु वचन न बोलें, कान से किसी की निंदा या गंदी बातें न सुनें, आंख से अपनी इंद्रियों को विचलित करने वाली कोई चीज न देखें, किन्तु सत्य ही बोलें, वही सुनें, जो हमें आगे ले जाय और आंख से ईश्वर की दया-माया देखें, संतजनों का दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्य का दर्शन कर सकेगा।

हरिजन सेवक,
१९ जुलाई १९३९

* * * * *